काव्यानुशीलन

(साहित्यिक एवं सांस्कृतिक निबन्धों का संग्रह)

लेखक
बलदेव उपाध्याय
हिंदू विश्वविद्यालय, काशी



रमेश बुक डिपो
त्रिपोलिया बाजार
जयपुर

[मूल्य ४॥)

प्रकाशक—
राधाकृष्ण माहेश्वरी
रमेश बुक डिपो
जयपुर

मूल्य ४॥)

मुद्रक—
महताब राय
नागरी मुद्रण, काशी

दो शब्द

पण्डितप्रवर बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य भारतीय दर्शन तथा साहित्य, संस्कृत तथा संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। इन्होंने हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी में दर्शन तथा साहित्यालोचन के विषय में एक प्रौढ़ साहित्य का निर्माण किया है जो हिन्दी भाषा के लिए गौरवरूप है तथा जो अपने विषय का आधारभूत साहित्य है। इनकी लेखनी से अनेक ग्रंथरत्न प्रसूत हुए हैं जिन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक, डालमिया पुरस्कार और उत्तरप्रदेश की सरकार द्वारा अनेक पुरस्कारों से सम्मानित तथा आदृत होने का अभूतपूर्व गौरव प्राप्त हुआ है। हिन्दी का कोई भी ऐसा लेखक नहीं है जिसके ग्रन्थों ने भारतीय दर्शन तथा साहित्य के दुरूह विषयों को आदर्शवत् निर्मल बनाया है और हमारे एतद्विषयक ज्ञान का वर्धन किया है। आश्चर्य नहीं कि ये ग्रन्थ आज हमारे विश्वविद्यालयों की उच्चतम कक्षाओं के छात्रों के लिए सर्वत्र पाठ्यग्रन्थ नियत किये गये हैं।

मेरे विशेष आग्रह करने पर उपाध्यायजी ने यह संग्रह प्रकाशित करने का मुझे अधिकार दिया है। इस ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न खण्डों में पाठकों के लिए बड़ी ही उपादेय सामग्री एकत्र की गई है। साहित्य के साथ संस्कृति का विशेष घनिष्ट सम्बन्ध है। हम लोग भारतीय संस्कृति के श्रद्धालु उपासक हैं। अतः अन्तिम खण्ड में संस्कृति-विषयक निबन्धों का भी संग्रह आग्रहपूर्वक किया गया है। उपाध्याय जी संस्कृति के विशेष जानकार हैं। फलतः उनके प्रौढ़ सांस्कृतिक विचारों का यह नवनीत हमारे पाठकों के विशेष आस्वाद का विषय बनेगा; यह हमारी पूर्ण आशा है।

राधाकृष्ण माहेश्वरी
प्रकाशक

वक्तव्य

आज मुझे इस पुस्तक को पाठकों के सामने प्रस्तुत कर विशेष आनन्द का अनुभव हो रहा है। इसमें मेरे साहित्यिक तथा सांस्कृतिक निबन्धों का संग्रह है। साहित्य तथा संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण दोनों प्रकार के लेखों का एकत्र संग्रह अनुचित न समझा जावेगा।

'काव्यानुशीलन' में मुख्यतः नाना प्रकार के काव्यों का गम्भीर अनुशीलन है। इसमें पाँच खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में आलोचनात्मक निबन्ध हैं जिनमें आलोचना के भिन्न भिन्न तत्वों की मीमांसा की गई है। द्वितीय खण्ड में हिन्दी काव्य की मीमांसा है। 'तुलसी तथा जयदेव' में प्रथम बार रामचरित मानस के ऊपर 'प्रसन्न राघव' का व्यापक प्रभाव दिखलाया गया है। यह लेख 'तुलसी ग्रन्थावली' के तृतीय खण्ड में आज से ३२ वर्ष पहिले प्रकाशित हुआ था और आज भी हिन्दी में इस विषय में इससे व्यापक अध्ययन का अभाव है। 'रसिक गोविन्द' में हिन्दी साहित्य के एक महनीय कवि का विवेचनात्मक परिचय दिया गया है। यह एक पुस्तिका के रूप में प्रथमतः प्रकाशित हुआ था जो आजकल अप्राप्य है। 'पारिजात हरण' मिथिला के सुप्रसिद्ध कवि उमापति के प्रख्यात नाटक की समीक्षा है।

तृतीय खण्ड में 'लोक काव्य' का अनुशीलन है। आजकल सौभाग्य से साहित्यिकों का ध्यान लोक-साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ है और उसके अध्ययन की प्रवृत्ति वृद्धि पर है। इस खण्ड में 'भोजपुरी' के लोक काव्यों की कोमलता तथा सरसता का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। इस अनुशीलन से पाठकों को स्पष्ट हो जायगा कि लोककाव्य का स्थान किसी भी शिष्ट काव्य की अपेक्षा कम नहीं है; बल्कि उसके समकक्ष ही है।

चतुर्थ खण्ड में संस्कृत काव्य से सम्बद्ध अनेक विषयों का विवेचन है। 'संस्कृत रंगमंच' के अन्तर्गत प्राचीन काल के रंगमंचों का उपयोगी विवरण विशेष ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा। 'जवनिका' शोधपूर्ण निबन्ध है जिसमें जवनिका से सम्बद्ध विषयों की व्यापक समीक्षा है।

अन्तिम खण्ड में 'भारतीय संस्कृति' के मूलरूप तथा नाना अभिव्यक्तियों का अनुशीलन है तथा सांस्कृतिक विषयों का साहित्य में किस प्रकार प्रकटीकरण किया गया है; इस विषय का भी पर्याप्त संकेत है। आजकल भारतीय संस्कृति की चर्चा खूब है, परन्तु उसका सच्चा रूप अभी मीमांसा का विषय है जिसके विषय में नाना प्रकार की विचारधारा आज प्रचलित है। इन लेखों में भारतीय संस्कृति के सच्चे रूप के प्रदर्शन कराने की श्लाघनीय चेष्टा की गई है।

इस ग्रन्थ के अनेक निबन्ध प्रयाग, लखनऊ तथा दिल्ली की 'आकाशवाणी' से भिन्न भिन्न समयों पर वार्ता के रूप में प्रसारित किये गये हैं। इसलिए इनमें कहीं कहीं पर अनिवार्य पुनरुक्ति आ गई है। आशा है इससे विषय के समझने में पाठकों को विशेष सुविधा होगी।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि इन निबन्धों के मनन करनेवाले व्यक्तियों के ज्ञान में विशेष वृद्धि होगी तथा हिन्दी के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करने के कारण यह ग्रन्थ विशेष कर उपादेय सिद्ध होगा।

काशी विश्वविद्यालय,
आषाढ़ कृष्ण एकादशी
सं० २०१२
१६—६—५५

बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

खण्ड १

आलोचना

खण्ड २

हिन्दी काव्य

खण्ड ३

लोक काव्य

खण्ड ४

संस्कृत काव्य

पृष्ठ

खण्ड ५

भारतीय संस्कृति

का

व्या

नु

शी ल न

खण्ड १

आ लो च ना

(१)

वेद में गीति-काव्य का उद्गम

कवि काव्य-सृष्टि का प्रजापति है। जिस प्रकार शिव अपनी शक्तिभूता प्रतिभा के सहयोग से नई रंगीन सृष्टि का उद्गम करता है उसी प्रकार कवि भी अपनी प्रतिभा के बल पर नवीन सौन्दर्यमय काव्य-जगत् का निर्माण करता है। कवि में अन्तर्दर्शन की सत्ता नितान्त आवश्यक है। कवि सुन्दर पदार्थ के दर्शन में जब तक अपनी पृथक् सत्ता का विसर्जन करके उससे तादात्म्य स्थापित नहीं कर लेता, तब तक वह भावमयी कविता की सृष्टि नहीं कर सकता। 'अन्तर्दर्शन' कवि को वस्तु-तत्त्व के अन्तस्तल के निरीक्षण की क्षमता प्रदान करता है, तो 'वर्णन' उसकी अनुभूत भावनाको बोधगम्य अभिव्यक्ति प्रदान

करता है। अतः कवि के लिए वर्णन उतना ही आवश्यक है जितना अन्तर्दर्शन। दर्शन के द्वारा प्रातिभ चक्षु के उन्मेष होने पर भी वाल्मीकि को कवि की पदवी तभी प्राप्त हुई जब दर्शन वर्णन के बाह्य रूप में छलक उठा। अन्तर्दर्शन कवि की निजी विभूति है जो उसके हृदय को नाना भावनाओं का आकर्षण-केन्द्र बनाती है, परन्तु वर्णन कवि की बाह्य विभूति है जिसके द्वारा वह पाठकों के हृदयावर्जन में समर्थ कोमल कविता को जन्म देता है।

दर्शन तथा वर्णन से स्निग्ध ऋषि की वाणी के भव्य उदाहरण वेद के महनीय मन्त्र हैं। मन्त्र आध्यात्मिक तत्त्व ज्ञान की निधि हैं तथा कर्मकाण्ड के जागरूक साधन; इसमें तो विवाद या सन्देह के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है। परन्तु ये ही मन्त्र कमनीय काव्य कला के आद्य निदर्शन भी निश्चयपूर्वक माने जा सकते हैं। वैदिक ऋषियों की वाणी में दिव्यता अपने भव्य रूप में स्वर्गीय सुगन्ध के साथ विलसित हो रही है। आध्यात्मिक दृष्टि से वैदिक मन्त्र उदात्त तत्त्व-ज्ञान के निःसन्देह परिचायक हैं। भाव-प्रकाशन की दृष्टि से ये मन्त्र ऋषियों के आर्ष चक्षुओं के द्वारा अनुभूत तत्वों के नितान्त सरल, सहज तथा शान्तिमय अभिव्यञ्जक हैं। वैदिक ऋषि मनोऽभिलषित भावों को थोड़े से चुने हुए सुबोध शब्दों में सीधे तौर से कह डालने की क्षमता रखता है, परन्तु समय-समय पर वह अपने भावों की तीव्रता की अभिव्यक्ति के हेतु अलंकारों के विधान करने में भी पराङ्मुख नहीं होता। अलंकारों की रानी उपमा का अत्यन्त भव्य, मनोरम तथा हृदयावर्जक रूप हमें इन मन्त्रों में देखने को मिलता है। तथ्य तो यह है कि उपमा का काव्य-संसार में प्रथम अवतार उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं कविता का आविर्भाव। आनन्द से सिक्त कवि-हृदय की वाणी उपमा के द्वारा अपने को विभूषित करने में कोमल उल्लास तथा मधुमय आनन्द का बोध करती है। अपनी अनुभूतियों में तीव्रता लाने के लिए उन्हें सरलतापूर्वक पाठक के हृदय तक पहुँचाने के निमित्त कवि

की वाणी जिन अन्तरंग मधुमय कोमल साधनों का उपयोग किया करती है अलंकार उन्हीं का अन्यतम रूप है। हम ऐसे काव्य-युग की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें भाव-भङ्गी में कोमल विलास के संचार-हेतु कवि किसी-न-किसी प्रकार के साम्य-विधान का आश्रय नहीं लेता है।

वेद के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिए, भौतिक सौख्य सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छन्दों में स्तुति की गई है। उनके रूपों के भव्य वर्णन में कवि की कला का विलास और उनकी प्रार्थनाओं में कोमल भावों तथा सुकुमार हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यंजना है। उषा-विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य-भावना का आधिक्य है, तो इन्द्र-विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। अग्नि के रूप-वर्णन में यदि स्वभावोक्ति का आश्रय है, तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का विशद परिचायक चिह्न है भावों की सरल सहज अभिव्यक्ति। निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।

इन्द्र की स्तुति के अवसर पर आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि की यह उक्ति है कि त्वष्टा के द्वारा निर्मित स्वरयुक्त वज्र के द्वारा जब इन्द्र ने पर्वत में आश्रय लेकर निवास करने वाले वृत्र को मारा, तब रँभाती हुई धेनुओं के समान जल जोरों से बहता हुआ समुद्र की ओर चल निकला :

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥[1]

यहाँ 'वाश्रा धेनवः' की उपमा से सायंकाल चरागाहों से लौटने वाली, अपने बछड़ों के लिए उतावली से जोरों से रँभाती हुई और दौड़ती हुई

१. ऋग्वेद—१।३२।२

गायों का मनोरम दृश्य नेत्रों के सामने झूलने लगता है। जोरों से वहने वाले, घोर रोर करने वाले, वहुत दिनों तक रुके रहने के वाद प्रवाहित होने वाले जल के लिए इससे अधिक सुन्दर उपमा का विधान क्या हो सकता है? इसी वैदिक कल्पना को हमारे महान् कवियों ने भी अपने काव्यों में वड़ी रुचिरता के साथ अपनाया है।

हृदय वृत्तियों की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए वरुण सूक्तों का अनुशीलन विशेष सहायक सिद्ध होगा। महर्षि वसिष्ठ ने एक अत्यन्त भावप्रवण सूक्त में अपने आराध्यदेव वरुण के प्रति अपना कोमल उद्‌गार प्रकट किया है। वह सुन्दर शब्दों में कह रहे हैं कि मैं अपने-आप पूछ रहा हूँ कि कव मैं वरुण के साथ मैत्री-सूत्र में वँध जाऊँगा? क्रोधरहित होकर वरुण प्रसन्न चित्त से क्या मेरे द्वारा दी गई हवि को ग्रहण करेंगे? कव मैं प्रसन्नमानस होकर उनकी दया को देखूँगा:

> उत स्वया तन्वा सं वदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
> किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्॥[1]

जव विद्वानों की मीमांसा से उसे वरुण के कोप का पता चलता है तव कह उठता है कि हे देव, पितरों के द्वारा किये गए द्रोहों को दूर कर दीजिए और उन द्रोहों तथा विरोधों को भी दूर हटाइए जिन्हें हमने अपने शरीर से स्वयं किया है। जिस प्रकार पशु को चुराने वाले चोर को तथा वछड़े को रस्सी से लोग छुड़ा देते हैं, उसी प्रकार आप भी अपराध की रस्सी में वँधे वसिष्ठ को भी मुक्त कीजिए:

> अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः।
> अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम्॥[2]

नम्रता तथा दीनता, अपराध-स्वीकृति तथा आत्म-समर्पण की भव्य भावनाओं से मण्डित यह सूक्त वैष्णव भक्तों की उस वाणी की सुध

---

१. ऋग्वेद—७।८६।२
२. वही—७।८६।५

दिलाता है जिसमें उन्होंने अपने को हजारों अपराधों का भाजन बताकर भगवान् से आत्मसात् करने की याचना की है ।

उषा की सुषमा

उषादेवी के विषय में उपलब्ध सूक्तों का अनुशीलन हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वे काव्य की दृष्टि से नितान्त सरस, सहज तथा भव्य भावना-मण्डित हैं । प्रातःकाल अरुणिमा से मण्डित सुवर्ण छटा से विच्छुरित प्राची नभोमण्डल पर दृष्टिपात करते समय किस भावुक हृदय में कोमल भावना का उदय नहीं होता ? वैदिक ऋषि उसे अपनी प्रेम भरी दृष्टि से देखता है और उसकी दिव्य छटा पर रीझ उठता है । उषा मानवी के रूप में कवि हृदय के नितान्त पास आती है । यदि उषा केवल महान् तथा स्वर्ग की अधिकारिणी-मात्र होती, इस विश्व से परे ऊर्ध्व लोक में अपनी दिव्य छवि छहराती रहती, मानव-जगत् के ऊपर उठकर अपनी भव्य सुन्दरता से मण्डित होकर अपने में ही पुञ्जीभूत बनी रहती, तो हमारे हृदय में केवल कौतुक या विस्मय जाग्रत होता, घनिष्ठता नहीं । जब हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तृत तथा व्यापक हो जाता है कि हम अपनी पृथक् सत्ता का सर्वथा निर्मूलन करके प्रकृति की सत्ता के भीतर नरसत्ता का सद्यः अनुभव करने लगते हैं तब अनन्यता की भावना जन्म लेती है । इसका फल यह होता है कि कवि उषा को कभी कुमारी के रूप में, कभी गृहिणी के रूप में और कभी माता के रूप में देखता है । बाह्य सौन्दर्य के भीतर कवि आन्तर सौन्दर्य का अनुभव करता है । उषा केवल बाह्य सौन्दर्य की प्रतिमा न होकर कवि के लिए माता की ममता की प्रतीक बन जाती है ।

वैदिक ऋषि उषा के स्वरूप की भावना को तीव्र रूप से प्रकट करने के लिए नाना अलंकारों का विधान प्रस्तुत करता है । उषा अपने शुभ्र उज्ज्वल रूप को धारण करती हुई स्नान करने वाली सुन्दरी की भाँति आकाश में प्रकट होती है, तो कभी वह भ्रातृ-विहीन भगिनी के

समान अपने दाय-भाग को लेने के लिए पितृस्थानीय सूर्य के पास आती है, कभी वह सुन्दर वस्त्र पहनकर पति को अपने प्रेम-पाश में बाँधने के लिए मचलने वाली सुन्दरी के समान अपने पति के सामने अपने सुन्दर रूप को प्रकट करती है :

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः ॥[1]

कवि की दृष्टि उषा के रम्य रूप पर पड़ती है और वह उसे एक सुन्दर मानवी के रूप में देखकर प्रसन्न हो उठता है। वह कहता है-हे प्रकाशवती उषा, तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मितवदना युवती की भाँति अपने वक्ष को आवरण-रहित करती हो :

कन्येव तन्वा शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ॥[2]

यहाँ कवि की मानवीकरण की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी है। यहाँ उषा के कुमारी रूप की कल्पना है। स्मितवदना सुन्दर रूप को प्रकट करने वाली युवती कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय मिलन की भावना से जाने वाली उषा के ऊपर कितनी सयुक्तिक तथा सरस है। उषा के ऊपर की गई अन्य कल्पनाओं के भीतर भी उतना ही औचित्य दृष्टिगोचर हो रहा है। वह अपने प्रकाश द्वारा संसार को उसी प्रकार संस्कृत करती है जिस प्रकार योद्धा अपने शस्त्रों को घिसकर उनका संस्कार करता है :

अपेजते शूरो अस्तेव शत्रून् बाधते तमो अजिरो न वोळ्हा ॥[3]

उषा अपने प्रकाश को उसी प्रकार फैलाती है जिस प्रकार ग्वाला चरागाह में गौओं को विस्तृत करता है अथवा नदी अपने जल को विस्तृत करती है :

---

१. ऋग्वेद—१।१२४।७
२. वही, १।१२३।१०।　　३. वही, ६।६४।३।

पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना सिन्धुर्न क्षोद उर्विया व्यश्वैत् ॥[1]

उषा का नित्य प्रति उदित होना उसके अमरत्व की पताका है :

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः ॥[2]

उषा का नित्यप्रति एकाकार रूप से आना कवि की दृष्टि में चक्र के आवर्तन के समान है। चक्र सदा आवर्तित होता रहता है, उसी प्रकार उषा भी अपना आवर्तन किया करती है—

समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥[3]

इन उदाहरणों में उपमा का विधान उषा की रूप-भावना को तीव्र बनाने के लिए उचित ढंग से प्रयुक्त किया गया है।

प्रकृति चित्रण

उषा-विषयक मन्त्रों के अनुशीलन से हम वैदिक ऋषियों की प्रकृति के प्रति उदात्त भावना को भी भली भाँति समझ सकते हैं। प्रकृति का चित्रण दो प्रकार का है—

(१) *अनावृत वर्णन*—प्रकृति का स्वतः आलम्बनत्वेन वर्णन, जहाँ प्रकृति की नैसर्गिक माधुरी कवि-हृदय को आकृष्ट करती है और अपने आनन्द से कवि-मानस को सिक्त करती है।

(२) *अलङ्कृत वर्णन*—जिसमें प्रकृति तथा उसके व्यापारों का मानवीकरण किया गया है। प्रकृति निश्चेष्ट न होकर चेतन प्राणी के समान नाना व्यापारों का सम्पादन करती है। वह कभी स्मितवदना सुन्दरी के समान दर्शकों का हृदय आकृष्ट करती है, तो कभी उग्ररूप भीषण जन्तु के समान हमारे हृदय में भय तथा क्षोभ उत्पन्न करती है।

वैदिक कवि की इस द्विविध भावना का स्फुट निदर्शन हमें उषा-सम्बन्धी भावनाओं में मिलता है। प्राची क्षितिज पर सुवर्ण के समान अरुण छटा छिटकाने वाली उषा का साक्षात्कार करते समय कवि का

१. ऋग्वेद—१।९२।१२। २. वही, ३।६१।३। ३. वही, ३।६१।३।

हृदय इस कोमल चित्र में रम जाता है और वह उल्लासमयी भाषा में पुकार उठता है :

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥[१]

हे प्रकाशमयी उषा, तुम सोने के रथ पर चढ़कर आमरणशील बनकर चमको। तुम्हारे उदय के समय पक्षीगण सुन्दर रसमय वाणी का उच्चारण करते हैं। सुन्दर शिक्षित पृथुबल से सम्पन्न सुवर्ण वर्ण-वाले घोड़े तुम्हें वहन करें।

अलंकृत वर्णन के अवसर पर उषा से सम्बद्ध रूप तथा व्यापारों पर मानवीय रूप तथा व्यापारों का बड़ा ही हृदयरञ्जक आरोप किया गया है। एक स्थल पर कवि उषा की रूप-माधुरी का वर्णन करते समय शोभनवस्त्रा युवती के साथ उसकी तुलना करता है :

जायेव पत्य उशती सुवासा। उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः ॥[२]

यहाँ कवि नारी के कोमल हृदय को स्पर्श कर रहा है। पति के सामने कौन सुन्दरी अपने हृदय के उल्लास तथा मन की वासना को गुप्त रख सकती है? और कौन ऐसी स्त्री होगी जो पति के सामने अपने सुन्दर-तम सज्जासम्पन्न रूप को प्रकट करना नहीं चाहती? अपने पति-भूत सूर्य का अनुगमन करने वाली उषा के आचरण में कवि साध्वी सती के आचरण की स्फुट अभिव्यक्ति पाता है।[३] एक स्थान पर कवि भय से शंकित होकर कह उठता है कि कहीं उषा के सुकुमार शरीर को सूर्य की तीक्ष्ण किरणें सन्तप्त न कर दें, जिस प्रकार राजा चोर को या शत्रु को सन्तप्त करता है :

नेत् त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति। सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते ॥[४]

अन्यत्र रंगमंच के ऊपर अपना उल्लासमय नृत्य दिखलाने वाली नर्तकी की समता कवि प्रातःकाल प्राची क्षितिज के रंगमंच पर अपने शरीर

---

१. ऋग्वेद—३।६१।२। २. वही, १।१२४।७।
३. वही, ७।७५।३। ४. वही, ५।७९।९।

को विशद रूप से दिखलाने वाली उषा के साथ करता हुआ अपनी कलाप्रियता का परिचय देता है :

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम् ॥[1]

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में प्रकृति के इस द्विविध रूप की भव्य झाँकी प्रस्तुत की है। 'ऋतु-संहार' में प्रकृति अपने अनावृत रूप में पाठकों के सामने अपनी रमणीय छवि दिखलाती है, तो 'मेघदूत' में वह अलंकारों की सजावट से चमत्कृत तथा कोमल हार्दिक भावभङ्गिमाओं से स्निग्ध रमणी के रूप में आकर प्रस्तुत होती है। कालिदास का यह प्रकृति-चित्रण ऋग्वेदीय मञ्जुल धारा के ही अन्तर्गत है।



---

१. ऋग्वेद—१।९२।४।

कलाकार की प्रेरणा

मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति हेतुमूलक होती है। बिना किसी बलवान् निमित्त के वह किसी भी प्रवृत्ति के लिए उद्योगशील नहीं होता। काव्य-कला मानव की उच्चतम आध्यात्मिक प्रवृत्ति की प्रतीक है। बुद्धि के किसी विकसित उच्चतर स्तर पर पहुँच कर ही मनुष्य अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दार्थयुगल का मधुर माध्यम पकड़ता है। वह अपनी प्रातिभचक्षु के द्वारा पदार्थ की मधुर झांकी पाता है, वह जगत् के पदार्थ तथा अन्तर्जगत् के भाव में रस का अक्षय उत्स पाकर अपने जीवन को आनन्दमय बनाता है। इतने से ही वह कृतकार्य नहीं होता, प्रत्युत उसी आनन्द का प्रकाशन अपनी कला के द्वारा सम्पन्न कर दर्शक तथा पाठक को आनन्दमय बनाने का भी प्रयत्न करता है। यही अभिव्यंजन उसकी अनुभूति का चरम अवसान है।

हमारे मनीषियों की प्रत्यक्ष दृष्टि बतलाती है कि आनन्द के अनुभव के लिए ही विश्वस्रष्टा ने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं रस से तृप्त है, किसी प्रकार ऊन नहीं है—रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः (अथर्व० १०।८।४४) रसतृप्त विश्वकर्ता की सृष्टि भी एक अखंड रस की धारा से चारो ओर व्याप्त है। इसके मधुर सरोवर शत सहस्र संख्या में चारों ओर भरे हुये हैं। उनसे रसका आस्वादन करने के हेतु हमारे प्राण सदा व्याकुल रहते हैं। रस-प्राप्ति मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। आनन्द की अनुभूति के लिए ही प्राणी बेचैन होकर इधर उधर भटकता है। रस पाने के लिए उसके चित्त बेचैन हैं, प्राण आकुल है। इस रस का अनुभव पाकर मनुष्य शब्दमय या रेखामय या स्वरमय या चित्रमय माध्यम द्वारा अपनी उपलब्ध तृप्ति बाहर प्रकटित करता रहता है। वह

स्वार्थी नहीं है, वह क्षुद्र स्वार्थ का केन्द्रीभूत निकेतन नहीं है कि वह समग्र रस चुपचाप अपने ही आप पान कर जाना चाहता हो। वह अपने 'स्व' को इतना विस्तृत तथा व्यापक बना देता है कि उसके लिए कोई 'पर' रहता ही नहीं। इसी व्यक्तित्व के प्रसार को, अपने 'स्व' को 'पर' के साथ तादात्म्य को, साहित्य की भाषा में 'साधारणीकरण' की संज्ञा दी गई है। रसकी उपलब्धि के अनन्तर रस के उन्मीलन का प्रधान साधन कला है।

अब विचारणीय प्रश्न है कि कला या साहित्य के मूल में कौन सी प्रेरणा कार्य करती है। कौन वस्तु उसे कला के उन्मीलन तथा काव्य के सर्जन के लिए अग्रसर करती है? सन्ध्याकाल में रक्ताभ वारिदमाला से आवृत तथा मंजुल स्वरों की ध्वनि करनेवाली हरे लाल रंग के उड़ते हुए पक्षियों के समूह से गुंजारित आकाश-मंडल की छवि को तूलिका से चित्रित करने के लिए चित्रकार क्यों व्याकुल होता है? अथवा ऊंची अट्टालिका पर चढ़ झरोखे से झांकने वाली शरदिन्दु-विनिन्दक आनन से अन्धकार का तिरस्कार करने वाली सुन्दरी की भव्यकान्ति को कविता के द्वारा आलोकित करने के लिए कवि क्यों लालायित रहता है? कमनीय वीणा की तन्त्री को झंकारित कर कलावन्त स्वरमाधुरी से श्रोताओं को मुग्ध करने का अश्रान्त परिश्रम क्यों करता है? इसका एकमात्र उत्तर है स्वान्तः सुखाय, अपने मन के सुख के लिए, अपने हृदय के आनन्द के निमित्त ही। आनन्द से मुग्ध कलाकार आनन्द की अभिव्यक्ति का प्रतिनिधि ठहरा, वह अपनी कला के विविध साधनों के द्वारा उसका उन्मेष करता है। इस उत्तर की विस्तृत मीमांसा अपेक्षित है।

आत्मशक्ति

उपनिषद् बतलाता है कि आरंभ में ब्रह्म अकेला था। एक होने से वह रमण नहीं करता था। रमण की इच्छा होते ही एक ने बहु के रूप में उत्पन्न होना चाहा। रमण की अभिलाषा ही एक को बहु बनने

की प्रधान प्रेरिका हुई। 'एकाकी नैव रमते'। सो अकामयत एकोऽहं बहु स्याम्। इस 'बहु स्याम्' की अभिलाषा से ही सृष्टि का उद्गम हुआ। 'एषणा' की तृप्ति के लिए ही जगत् का समस्त प्रपंच जागरूक रहता है। एषणा है कामना या अभिलाषा। एषणा तीन प्रकार की मानी गई है पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा। पुत्र स्त्री की इच्छा, धन की इच्छा तथा यश की इच्छा। अथवा अन्य शब्दों में काम, अर्थ तथा धर्म ही इस संसार में समग्र प्रवृत्तियों के प्रधान निदान माने गये हैं। हमारे समस्त कार्य व्यवहार इन्हीं कारणों से उत्पन्न होते हैं। मानव जीवन की अशेष प्रवृत्ति का मूल यहीं है। परन्तु इन तीन पुरुषार्थों के अतिरिक्त 'मोक्ष' नामक चतुर्थ पुरुषार्थ भी है जो प्राणीमात्र के उद्बोधन तथा प्रवृत्ति का साधन है। दुखी जीवन की लहरिका से प्रताडित मानव सदा अपने दुःखमोचन के लिए प्रयत्नशील होता है। वह सर्वत्र अपने को बन्धन में पाता है, चारों ओर परतन्त्रता की जंजीर उसके देह को जकड़े हुए खड़ी रहती है, वह स्वतन्त्र होना चाहता है। 'सर्वं परवशं दुःखम् सर्वमात्मवशं सुखम्' की उक्ति सर्वथा सत्य है। परवश होना दुःख है। आत्मवश होना सुख है। प्रकृति से अपने को विविक्त जानकर पुरुष-ख्याति लाभ करता है और मुक्त बनता है। यह मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और इसी की सिद्धि के लिए यावत् कला, यावत् शास्त्र, यावत् काव्य, सन्तत प्रवृत्त होते हैं।

हमने गोस्वामी तुलसीदास के ही प्रसिद्ध शब्द 'स्वान्तः सुखाय' को समस्त कला की मूल प्रेरक शक्ति माना है। इसे कुछ विस्तार के साथ समझने की आवश्यकता है। इस विश्व में समस्त प्रेरणाओं तथा स्फीत स्फुरणाओं का भव्य आधार है यही आत्मा। आत्मा ही प्रेरक शक्ति का प्रतीक है। आत्मा की शक्ति ही सर्वत्र विकसित होकर नाना रूप रूपान्तरों से हमारे सामने प्रकटित हो रही है। आत्मा ही विश्व की समग्र वस्तुओं में श्रेष्ठ है—प्रियतम है। कामना-वेलि आत्मद्रुम का ही आश्रय लेकर अपनी भव्य महिमा सर्वत्र विस्तारित करती है। जीवन के शेष कार्य कलापों के बीच इसी की शक्ति काम करती दीख

पड़ती है। विश्व का निरीक्षण किसी जगह से आरम्भ कीजिए, अन्ततोगत्वा आत्मा के ऊपर ही पर्यवसान होगा। प्रिय वस्तुओं की गणना में आत्मा ही श्रेष्ठ ठहरता है। आत्मा विशाल विश्ववृत्त का केन्द्रस्थानीय है। विश्व की परिधि के किसी बिन्दु से गणना आरम्भ कीजिए केन्द्र को स्पर्श करते ही आना पड़ता है। प्रियतम होने के हेतु ही पुत्रवत्सला ममतामयी माता की भाँति श्रुति मानवों को उपदेश देती है—आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः। आत्मा का साक्षात्कार करो। अये दुःखपीडित प्राणी, यदि तुझे क्लेश की असहनीय वेदना से अपनी रक्षा करनी है, आवागमन के पचड़े से अपने को बचाना अभीष्ट है, तो इस श्रेष्ठ आत्मा का दर्शन करो, मन्थन करो तथा निदिध्यासन करो। भारतीय आध्यात्मिक चिन्तना का यही परिगलित फल है—आत्मानं विजानीहि और यूनान के मान्य महापुरुष का यही आदर्श वाक्य है—नो दाइसेल्फ। आत्मा की यही साक्षादनुभूति कलात्मक चिन्तना तथा रसात्मक रचना का मूल स्रोत है।

मेघदूत का रहस्य

महाकवि कालिदास के मेघदूत काव्य का आध्यात्मिक रहस्य इस विषय को कितनी मनोज्ञता से झलका रहा है। आनन्दमय लोक में यह जीव कितने सुख के साथ अपना जीवन बिताता है। नित्य वृन्दावन में रसिकशिरोमणि भगवान् के साथ लीला रस में लीन यह जीव तन्मयता का अनुभव करता हुआ आत्मविभोर रहता है। अनन्त रास के मधुर रस का आस्वादन कर वह अपने को कृतार्थ समझता है। परन्तु विषम कर्म की विषमय परिणति ऐसी होती है कि वह उस आनन्द धाम से बहिष्कृत किया जाता है। भगवान् विष्णु के तृतीय क्रम से यह च्युत हो जाता है। 'भूरिशृंगाः अयासः' गायें जिस लोक में विचरण करती हैं उस गोलोक से वह अपने को भूलोक में पाता है। स्वर्ग से यही च्युति है। क्या हम सब प्राणी उस अमरावती के शापग्रस्त यक्ष नहीं हैं जिसे स्वामी के अभिशाप के कारण ललित अलका

का परित्याग करना पड़ा है। कालिदास का यक्ष स्वर्गधाम से च्युत मानवमात्र का प्रतीक है। वह कर्तव्य के साथ प्रेम का, विश्व मंगल के साथ आत्मकल्याण का, परोपकार के साथ स्वार्थ का सामंजस्य न रखने के कारण ही तो इतना आपद्ग्रस्त होकर जंगलों की धूलि छानता फिरता है। ईसाई मत के अनुसार ज्ञान के फल चखने के कारण स्वर्ग-लोक से आदम अपनी प्रियतमा के साथ निष्कासित किये गये थे। इस निष्कासन का भी यही रहस्य है। यह तो हुआ मानव जीवन का पतन पक्ष।

उत्थान पक्ष में ही मानवता की चरितार्थता है। यदि जीव शिव से वियुक्त होकर सन्तत वियोगाग्नि के भीषण दाह में दग्ध होता रहे, तो यह उसकी शक्तिशालिता के लिए नितान्त अनुचित है। वियोग की चरितार्थता संयोग की उपलब्धि में ही है। वियोग मानव के आध्यात्मिक विकाश में, मानवता से ऊपर उठकर शिवत्व की उपलब्धि में, एक सामान्य अवधि है। इसी को चरमफल मानने वाला प्राणी कभी अपनी उन्नति का फल नहीं पा सकता और उच्चतम ध्येय तक पहुँच ही नहीं सकता है। पतन और उत्थान, ह्रास और वृद्धि, वियोग तथा संयोग दोनों ही आध्यात्मिक विकास के चरम उत्कर्ष के लिए नितान्त आवश्यक हैं। वियोग की वेदना हमारे हृदय को आमूल दग्ध कर रही है, आनन्द धाम की स्मृति आज भी जीव को आनन्द की झलक दिखला कर उसे संयोग के लिए उत्साह दे रही है। अमरत्व की प्राप्ति हमारा अन्तिम ध्येय है। मृत्यु से होकर हमें अमरत्व को पाना है। प्रपंच के द्वारा निष्प्रपंच की प्राप्ति करनी है। यह तभी सम्भव है जब हम अपने आत्मा की अनुभूति कर अपने आपको जानें।

विश्व में जितने रचनात्मक तथा रसात्मक कार्य—कलाप हैं वे इस आत्मशक्ति के ही विभिन्न तथा विचित्र स्फुरण हैं। आत्मा ही आनन्द की उपलब्धि के हेतु इन वस्तुओं का निर्माण करता है। आत्मा की ही आनन्द-रूपता से विश्व में आनन्दरूपता है। क्या चित्रकारी, क्या

स्थापत्यकला, क्या कविता, क्या संगीत—सब इसी आनन्दमय रूप की अनुभूति के भिन्न भिन्न साधन तथा उपाय हैं। अतः भारतीय आलोचकों की दृष्टि में कला की रचना आत्मशक्ति की स्फुरणा है। काव्य के निर्माण में भी यही प्रेरक शक्ति है। आत्मा का स्वरूपोन्मेष काव्य का प्राण है। आनन्द का उन्मीलन ही काव्य का उद्देश्य तथा सुखपूर्वक चतुर्वर्ग की प्राप्ति ही काव्य का उच्च प्रयोजन है।

काव्यप्रेरणा और नवीन मनोविज्ञान

उपरिनिर्दिष्ट भारतीय मत के औचित्य समझने के लिए उसका पाश्चात्य मनोविज्ञान के द्वारा उद्भासित सिद्धान्तों के साथ तुलना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन मनोविज्ञान के अनुसार प्राणियों को भिन्न-भिन्न कार्यों में प्रवृत्त कराने वाली तेरह प्रकार की मानसिक शक्तियाँ है जो सहजात होने के कारण 'मूल प्रवृत्तियाँ' (इनस्टिङ्क्ट) कही जाती हैं। ये विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की उत्तेजना से होती हैं और स्वयं विशेष क्रियाओं में प्रकाशित होती हैं[1]। नवीन मनोविज्ञान (साइको एनेलिसिस) के जन्मदाता फ्रायड के अनुसार मनुष्य की समस्त अभिलाषाओं तथा चेष्टाओं का आधार एक ही शक्ति है जिसे वे 'लिबिडो' या मूल शक्ति के नाम से पुकारते हैं। इस मूल शक्ति के रूप निर्देश करने में ही फ्रायड् महाशय की मौलिकता है। उनके शिष्य एडलर तथा युंग ने भी इस मूल शक्ति को अंगीकार किया है। परन्तु उनकी इसकी रूपमीमांसा उनसे नितांत पृथक् तथा विलक्षण है।

१. फ्रायड—कामवासना

फ्राइड के अनुसार यह मूल शक्ति काममयी है। मनुष्य जो कुछ कार्य करता है, जो कुछ भी चेष्टा करता है उसकी प्रेरिका होती है

---

१. मेकडूगल नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने 'आउट लाइन आफ साइकोलाजी' तथा 'एनरजी आफ मेन' नामक ग्रन्थों में इसी मत की व्यवस्था की है।

यह कामवासना जो अपनी तृप्ति के लिए अनेक मार्गों को खोज निकालती है। जब इसकी तृप्ति साधारण मार्ग से नहीं होती, तब यह अपनी अभिव्यक्ति के लिए असाधारण मार्ग ढूढ़ लेती है। इस असाधारण माग के अन्तर्गत इस इच्छा के अवरोध[1], मार्गान्तरीकरण,[2] रूपान्तरकरण,[3] अथवा शोध[4] की गणना की जाती है। इन्हीं के द्वारा सभ्यता का विकास होता है। फ्रायड के अनुसार जगत् के मौलिक प्रवृत्ति में यही कामवासना सर्वत्र व्यापक रूप से विद्यमान रहती है। इस कामेच्छा के तीन रूप विश्लेपण से सिद्ध होते हैं:—

(१) संभोगेच्छा जो विषम लिंग धारियों के दैहिक मिलन से सम्भव है तथा जिसका लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति है।

(२) मानसिक संयोग जो एक दूसरे के प्रति आकर्षण, प्रेमभाव तथा तथा स्निग्ध वातचीत की इच्छा में अभिव्यक्त होता है,

(३) वालबच्चों के प्रति प्रेम तथा रक्षा का भाव। सन्तानोत्पत्ति गार्हस्थ्य जीवन का पर्यवसान है। यह साधारण अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। काम वासना साधारण रीति से अभिव्यक्त होकर अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होती है। मनोविज्ञान के मर्मज्ञों का परीक्षित सत्य है कि जब कामवासना के प्रकाशन का दमन किया जाता है, तब मानव जीवन में मार्मिक तथा प्रभावशाली घटनाओं की उत्पत्ति होती है। लोक-व्यवहार की घटनाओं में हम कामवासना की ही चरितार्थता का अनुभव करते हैं। कामवासना के निरोध में तथा उदात्तीकरण में ही कला की अभिव्यक्ति होती है। कामशक्ति के अधः प्रसरण से उत्पन्न होता है व्यवहारिक जीवन तथा कामशक्ति के ऊर्ध्व प्रसरण, परिशोधन या उदात्तीकरण, (सबलिमेशन) से उदय लेता है साहित्यिक जीवन।

---

१. इनहिबिशन

२. रीडाइरेक्शन,

३. ट्रेन्सफार्मेशन

४. सब्लाईमेशन

अतः फ्राइड के अनुसार कला की प्रेरणात्मिका शक्ति काम वासना ही है। उदात्त मार्ग में जब वह प्रकाशित होती है, भोग विलास में दैनन्दिन प्रवाह को रोककर जब उसका प्रवर्तन किसी उदात्त भावना की अभिव्यंजना के निमित्त किया जाता है, तब कला या काव्य का उद्‌गम होता है। प्रगतिशीलवादी आधुनिक आलोचकंमन्यों की यह धारणा कितनी भ्रांत है कि कामवासना की अटूट तृप्ति ही काव्यकला की जननी है। यदि यही पक्ष मान्य होता, तो नैतिक जीवन से विरुद्ध आचरण करनेवाले व्यभिचार-परायण व्यक्ति ही सबसे श्रेष्ठ कवि होता। परन्तु उनके प्रमाणभूत फ्रायड की ही उनके विरोध में घोषणा है कि कामवासना के परिशोधन तथा उदात्तीकरण से ही काव्यकला का जन्म होता है। महाकवियों तथा महनीय कलाकारों के जीवन ही उसके उज्ज्वल प्रमाण हैं।

फ्रायड् आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिक काव्य को स्वप्न का सगा भाई मानते हैं। काव्यलोक स्वप्नलोक की ही एक प्रतीकात्मक झाँकी है। उनकी मान्यता के अनुसार स्वप्न अन्तःसंज्ञा में निहित अतृप्त वासनाओं की अन्तर्व्यंजना है। काव्य की भी दशा ठीक ऐसी ही है। इस दैनन्दिन जगत् में मनुष्यों की समग्र इच्छायें बाह्य रूप में अभिव्यक्त नहीं हुआ करतीं। किन्हीं इच्छाओं के ऊपर सामाजिक नियमों का इतना कड़ा प्रतिबन्ध लगा रहता है कि वे बाह्य जगत की अभिव्यक्ति में आकर कभी कृतार्थ नहीं होतीं। निरुद्ध होकर वे केवल अन्तः संज्ञा के भीतर दब जाती हैं और स्वप्न को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती हैं। काव्य के सम्बन्ध में भी स्वप्न की यह विशिष्टता सर्वथा जागरूक रहती है। विशालता, भव्यता, उदात्तता आदि की बड़ी बड़ी भावनायें अतृप्त बनकर उत्पादक प्रसंग की कमी के कारण अन्तश्चेतना में अज्ञातरूप से दबी पड़ी रहती हैं। काव्य ऐसी अतृप्त इच्छाओं की बाह्याभिव्यक्ति का एक कलात्मक मार्ग है जो केवल कवि के ही हृदय को हलका नहीं बनता, प्रत्युत श्रोताओं के चित्त को भी प्रफुल्लित तथा आल्हादित करता है।

काव्य के विषय में फ्रायड का यही मान्य सिद्धान्त है, परन्तु विचार करने पर इस सिद्धान्त में अनेक त्रुटियां लक्षित होती हैं। काव्य को स्वप्न का प्रतिनिधि मान बैठना सरासर अन्याय है। यदि दोनों में कोई समता है तो वह इतना ही है कि जैसे स्वप्न हमारी बाह्य इन्द्रियों के सामने नहीं रहता, वैसे काव्य वस्तु भी नहीं रहती। परन्तु दोनों के स्वरूप में महान् अन्तर है। कल्पना के द्वारा जिन काव्य-वस्तुओं की प्रतीति होती है उनका रूप स्वप्न की वस्तुओं की प्रतीति के समान नहीं रहता। स्वप्न में अनुभूत वस्तुएं प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक होती हैं, परन्तु कल्पनाप्रसूत वस्तु का यह विस्पष्ट रूप नहीं होता। एक और भी बड़ी त्रुटि इस मत में है करुण-रस के प्रसंग में। काव्य में करुण रस के उत्पादक प्रसंगों की कमी नहीं रहती, परन्तु क्या शोक की वासना की तृप्ति इस प्रकार कोई भी व्यक्ति चाहेगा। उसे आनंद पाना नितान्त दूभर होगा। अतः इन मनोवैज्ञानिकोंका काव्य-विपयक मत कथमपि ग्राह्य तथा उपादेय नहीं हो सकता।[1]

कामेच्छा का प्राबल्य हमारे शास्त्रों में भी सर्वत्र स्वीकार किया गया है। 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' (१०।१२९।४) ऋग्वेद के विख्यात नासदीय सूक्त में सृष्टि के आरंभ में काम के उदय की कथा मिलती है। वासनारूप काम सूक्ष्म रूप से सृष्टि के मूल में सर्वत्र व्यापक दृष्टिगोचर होता है परन्तु उसीको एकमात्र मूल शक्ति मान लेना मानव जीवन के विकास की प्रेरिका अन्य शक्तियों की सत्ता का तिरस्कार करना है। अतः प्राबल्य मानकर भी मनोवैज्ञानिक उसका सर्वव्यापक रूप नहीं मानते। यह सिद्धान्त कला के आंशिक उदय की ही व्याख्या कर सकता है समग्र रूप का नहीं।

---

१. द्रष्टव्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल—रसमीमांसा, (पृष्ठ २६३ से २६४ तक।)

२. ऐडलर—प्रभुत्व शक्ति

ऐडलर की सम्मति में मूल शक्ति प्रभुत्व-शक्ति है। दूसरे के ऊपर हावी होना, प्रभुत्व दिखलाना, दबाव डालना, अपने व्यक्तित्व के उत्कर्ष से दूसरों को तिरस्कृत कर स्वयं महत्वशाली बनना आदि इसी मौलिक शक्ति के नाना अभिधान हैं। प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई व्यापक दोष होता है जो उसके मूल्य तथा महत्त्व को समाज में हीन बनाये रहता है। इस हीनता की ग्रन्थि से उसका मन इतना उलझा रहता है कि वह सन्तत उसे दबाकर या उसके ऊपर आवरण डालकर उस दोष के ठीक विरुद्ध गुण के सम्पादन में व्यस्त हो जाता है। सांसारिक प्रवृत्तियों का यही मूल स्रोत है। इसका सबसे सुन्दर प्राचीन दृष्टान्त है यूनानी वक्ता डिमास्थीनीज़ का। वह एथेन्स के उत्कर्ष काल में पैदा हुआ था। बालकपन में वह तुतला कर बोलता था, परन्तु इस दोष के परिहारार्थ उसने इतना श्रम तथा उद्योग किया कि वह प्राचीन काल में श्रेष्ठ व्यख्यान दाताओं में सबसे श्रेष्ठ माना जाता था। ऐडलर प्रभुत्व-शक्ति के सामने अन्य किसी भी वृत्ति को प्रभावशाली नहीं मानते। इसीलिए उनका मनोविज्ञान 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' के नाम से प्रसिद्ध है।

कुछ अंश तक यह मीमांसा ठीक है। अपनी त्रुटि को दूर करने के अभिप्राय से अनेक व्यक्तियों ने अलौकिक कार्य करने में अपनी शक्ति तथा महिमा का परिचय दिया है। अपनी पत्नी के द्वारा तिरस्कृत तथा अनादृत होकर तुलसीदास ने अपने चरित्र की त्रुटि मार्जना के निमित्त ही इतना अलौकिक कार्य कर दिखलाया है। वे इसी सिद्धान्त के दृष्टान्त रूप में उल्लिखित किये जा सकते हैं। परन्तु इसकी एकांगिता ही इसका सर्व प्रधान दोष है। हीनता की ग्रन्थि के निराकारण के लिये हमारी सारी प्रवृत्तियाँ नहीं होतीं। संसार में ऐसे अनेक व्यक्ति विद्यमान हैं जिनमें हीनता की विरोधिनी उदात्तता की ग्रन्थि विद्यमान है। ऐसे लोगों की प्रवृत्ति का मूल कहां खोजा जायगा?

३. युंग—आत्मसाक्षात्कार की वृत्ति.

इन दोनों व्याख्याओं में असन्तोष के कारण प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग ने अपने लिए एक नया ही मार्ग खोज निकाला है। उन्होंने मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्यों को दो भागों में विभक्त किया है—वहिर्मुख और अन्तर्मुख। बहिर्मुख (एक्स्ट्रावर्टेड)वृत्ति वाले मानवों की दृष्टि सदैव संसार के भोग विलास की ओर लगी रहती है। जगत् में प्रतिष्ठा तथा यश पाना, अपने साथियों की दृष्टि में महत्वशाली बनना ऐसे प्राणियों का मुख्य उद्देश्य रहता है। अन्तर्मुख (इन्ट्रावर्टेड) प्राणी सदैव अपनी दृष्टि बाहरी विषयों से हटाकर भीतर की ओर ले जाता है और अपनी मानसिक शान्ति की खोज में रहता है। युंग का कहना है इन व्यक्तियों के चेतन मन तथा अचेतन मन में वास्तव विरोध रहता है। इनका चेतन मन उतना ही अप्रसन्न तथा दुःखी होता है। अन्तर्मुख व्यक्ति का चेतन मन तो उदास, अलस तथा दुःखी दीख पड़ता है, परन्तु उसका अचेतन मन एकान्त, शान्त, प्रसन्न तथा आनन्दित रहता है। इस तथ्य का युंग ने नाम दिया है—मानसिक समीकरण। मानसिक क्रियाओं का, चाहे वे मनुष्य की प्रगति या प्रत्याचरण दिखलाती हों, अन्तिम लक्ष्य मानव जीवन को पूर्णता के लक्ष्य की ओर ले जाना है।

मानस विकास

हेडफील्ड नामक मनोवैज्ञानिक के मन्तव्यानुसार मानसिक विकास का लक्ष्य पूर्ण आत्मसाक्षात्कार करना है। पूर्ण आत्मसाक्षात्कार की मनोवैज्ञानिक[1] व्याख्या है—प्रत्येक चाह और अभिलाषा का पूर्ण तथा

---

१. Self-realisation-that is to say, the complete and full expression of all the instincts and impulses wi thin us cannot be achieved so long as there are elements in our soul that are repressed and denied expression. In a fully realised self there is no

स्वातन्त्र्यरूपेण अभिव्यक्ति तथा विकास। जब तक हमारे मन के अन्तर्गत किसी कोने में किसी भी समय की, बालपन की या प्रौढकाल की, इच्छा अविकसित रूप से रह जाती है, चेतन मन के ऊपर आकर अपनी समग्र अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त कर लेती, तब तक हमारा मानसिक विकास अधूरा ही रहता है। आत्मा के पूर्ण साक्षात्कार करने की बात कल्पना जगत् की ही चीज होती है। आदर्श जीवन में वैयक्तिक सुख सम्बन्धी इच्छाओं और परमार्थ भाव का पूरा सामंजस्य रहता है। वह केवल ज्ञान का ही उपासक बनकर अपनी भावशक्ति को सुखा नहीं डालता और न भाव की अत्यधिक सेवा से ज्ञान का पन्थ अवरुद्ध करता है, प्रत्युत ज्ञान तथा भाव, विचार तथा इच्छा उभय शक्तियों का इस प्रकार पूर्ण विकास करता है जिससे वे समष्टि के विरोधी न बन जॉय। पूर्णता की प्राप्ति के लिये व्यक्ति के अचेतन मन के भाव का ज्ञान तथा उनका प्रकाश करना ही आवश्यक नहीं होता, वरन् समष्टि के अचेतन मन को जानना और उसके अनुसार आचरण करना भी आवश्यक होता है। आत्मसाक्षात्कार करने के लिए तथा अपने जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए हेडफील्ड ने उपदेश दिया है १. अपनी आत्मा को जानो, २. अपनी आत्मा को स्वीकार करो। ३. अपनी आत्मा में रहो। अतः आत्मा का ज्ञान तथा उस आत्मज्ञान को अपने जीवन में तथा आचरण में लाना व्यक्ति के मानस विकास का लक्ष्य है।

युंग के सिद्धान्त के अनुसार आत्मसाक्षात्कार की वृत्ति ही कला तथा काव्य की प्रेरिका शक्ति है। कला व्यक्ति के मानसिक विकास का अन्यतम प्रकार है। अतः उसमें व्यक्ति के मानस विकास की पूर्णता

---

conflict of purpose, no complexes, no repression, but the harmonious expression of all the vital forces towards a common purpose and end.

—Hadfield : Psychology and Morals p. 77.

तभी हो सकती है जब वह अपना साक्षात्कार सम्पन्न करता है। पूर्व प्रतिपादित भारतीय मत से यही मत मिलता है, परन्तु इस सिद्धान्त में भी अनेक बातें विचारणीय हैं। मेरी दृष्टि में आधुनिक मनोविज्ञान भी कला की प्रेरणाशक्ति की खोज करता हुआ उसी सिद्धान्त तथा मत को मानने के लिये बाध्य हो रहा है जिसे हमारे आलोचकों ने बहुत पहिले ही से निर्णीत और निश्चित कर दिया है।



(३)

काव्य का प्रयोजन

आज तक यह प्रश्न विवादग्रस्त है कि काव्य का वास्तविक प्रयोजन क्या होता है। 'कला कला के लिए' का नारा लगाने वाले विद्वान् काव्य को जीवन से दूर की वस्तु मानते हैं। दूसरी ओर इसकी विरोधी विचारधारा के पोषक काव्यवेत्ता कविता को जीवन के लिए अर्थात् जीवनकी वास्तविक व्याख्या के रूप में ग्रहण करते हैं। प्रस्तुत लेख में दूसरी विचारधारा का पोषण करते हुए बताया गया है कि दोनों धाराओं में एक तत्व समान रूप से मिलता है—वह है कवि की रसानुभूति। रस से कविता का उद्रेक होता है। लेखक के विचार से काव्य इस जीवन से अलग की कोई वस्तु नहीं और इसीलिए काव्य का प्रयोजन जीवन से, उसके आरोहों अवरोहों से, होता है।

काव्य के उद्देश्य की समीक्षा के प्रसंगों में पाश्चात्य जगत् का एक मान्य सिद्धान्त है 'आर्ट फार आर्ट सेक' अर्थात् 'कला-कला के लिए' जिसका अनुमोदन पश्चिमी जगत् के आलोचक तथा भारत के भी नवीन समीक्षक इधर करने लगे हैं। हम यदि कला के स्थान पर काव्य को रखें तथा प्रधान दृष्टि से काव्य का प्रयोजक रस मानें, तो इस सूत्र का अर्थ होगा कि रस ही रस का तात्पर्य है। रसात्मक वाक्य का पर्यवसान रस में ही होता है, उससे किसी बाह्य उद्देश्य की सिद्धि कथमपि नहीं होती। यदि इस सूत्र का यही तात्पर्य माना जाय तो कोई भी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। रसोद्बोध के अवसर पर श्रोता तथा द्रष्टा के हृदय में राजस तथा तामस वृत्तियों का सर्वथा तिरस्कार होकर सात्त्विक भाव का प्राबल्य सम्पन्न हो जाता है। जबतक दुःखजनक रजोमय तथा मोहजनक तमो गुण की प्रधानता

वर्ती रहती है, आनन्दजनक सत्त्वगुण का उदय ही नहीं होता। रस की अनुभूति मुख्यता आनन्द की ही अनुभूति है। रसका अनुभव-कर्ता उस सामाजिक अवसर पर अपनी स्वार्थमूलक वृत्तिकी ही चरितार्थता नहीं मानता, प्रत्युत साधारणीकरण व्यापार के द्वारा सामाजिक अपने वैयक्तिक सम्बन्ध का परिहार कर समाज के साधारण व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करने लगता है। फलतः वह द्वैत भावना से ऊपर उठ कर अद्वैत भावना में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अपनी वैयक्तिक आनन्दानुभूति को साधारण सामाजिक की आनन्दानुभूति में विसर्जित कर देता है। रस ही शिव है, सत्य है तथा सुन्दर है। रस दशा सर्वदा आनन्दकारिणी, मंगलदायिनी तथा कल्याण-जननी है। उस दशा की परिणति के उत्पादक समग्र रसोपकरण तथा रस-सामग्री सत्य, शिव तथा मंगल की अभिव्यक्ति के कारण नितान्त उपादेय तथा श्लाघ्य होती है। रसोद्बोधक कोई भी वस्तु अमंगल-कारिणी नहीं हो सकती। रस के उन्मेष में कारणभूत काव्य के समग्र उपकरण इसी निमित्त से ग्राह्य तथा अनुग्राह्य होते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर यह सूत्र कथमपि आपत्तिजनक नहीं प्रतीत होता। परन्तु इस सिद्धान्त के उदय का इतिहास बतलाता है कि इसके उद्भावकों की दृष्टि में इस सूत्र का आशय कुछ दूसरा ही था।

अभिव्यञ्जनावाद

गत शताब्दी के मध्यकाल में इस सिद्धांत का उद्गम फ्रांस के साहित्याकाश में हुआ। और यह उदय हुआ प्रतिक्रिया के रूप में। यूरोप में प्लेटो से आरम्भ कर गेटे तथा मथ्यूआर्नाल्ड तक कला तथा नैतिकता का अभेद्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। इन मान्य प्राचीन आलोचकों की दृष्टि कला को नैतिकता के क्षेत्र से कभी बहिष्कृत नहीं देखना चाहती। नैतिकता की दृढ़ आधारशिला पर ही कलाका विशाल किला खड़ा रहता है तथा नैतिकता के आधार के तिरस्कार के साथ ही यह किला ताश के किले के समान जमीन पर गिर कर टूक-टूक

हो जाता है। प्राचीनों के इस परस्पर सम्बन्ध के दृढ़ आग्रह से ऊब कर उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय आलोचकों ने, विशेषतः फ्रांस के नैसर्गिकवाद तथा यथार्थवाद के प्रचारक जोला, फ्लाउवर आदि लेखकों ने इस सिद्धान्त को अग्रसर किया कि कलाका उद्देश्य कला ही है। अभिव्यंजनावादी आलोचकों का कथन है—अभिव्यंजना ही कला का विशुद्ध रूप है। कलाकार अपने विशिष्ट माध्यम के द्वारा अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति कर देता है। इतने में ही उसके कर्तव्य की इति-श्री हो जाती है। उसके कार्य का पर्यवसान होता है अनुभूतियों की अभिव्यंजना में। समाज तथा व्यक्ति के ऊपर उस अभिव्यंजना के प्रकट या गुप्त प्रभाव की मात्रा को न तो वह ढूँढ़ता है और न उसे ढूँढ़ निकालने की जरूरत होती है। कलाकार उस कोकिल के समान है, जो वसन्त की मस्ती में झूमती हुई डालियों पर बैठकर आनन्द से चहक उठता है। उसका चहकना किसके हृदय के भार को कम करने में समर्थ होगा अथवा किस विरही के चित्त में वियोग की आग भड़काने में चमक उठेगा? इसके विचार करने का न तो उसे समय है और न आवश्यकता। कलाकार का भी यही विशुद्ध स्वरूप है। वह बाह्य जगत् की स्वीय अनुभूतियों की अभिव्यंजना करके ही अपना काम समाप्त कर देता है। कला का बस इतना ही कार्य है, इतना ही उद्देश्य है। अतः इन आलोचकों की दृष्टि में कला का उद्देश्य अन्य कुछ न होकर स्वतः कला ही होती है। कला में सत्य की परिणति रहती है, परन्तु इस मत के प्रधान अंगरेजी आलोचक वाल्टर पेटर की सम्मति में अपनी अनुभूति की यथार्थ रूप से अभिव्यक्ति में ही सत्य का निवास है। कलाकार का यही कर्त्तव्य है और इतना ही कर्तव्य है—अभिव्यंजना की यथार्थता। अभिव्यंग्य वस्तु के सत्यासत्य के विषय में विचार करना उसके क्षेत्र से बाहर की बात है।

इस विषय की विशद व्याख्या करना अपेक्षित है। एक मौलिक प्रश्न प्रथमतः विचारणीय है कि काव्य का उपादान या वस्तु कवि को तथा

पाठक को स्पर्श करता है या नहीं ? वर्ण्य वस्तु का लगाव न कवि से ही सिद्ध हो और न पाठक से ही, तो यह हठात् मानना ही पड़ेगा कि कविता का उद्देश्य स्वयं कविता ही है, परन्तु यदि इस सम्बन्ध का दूरतः संकेत भी उपलब्ध हो, तो काव्य के उद्देश्य पर हमें नवीन दृष्टि से विचार करना ही पड़ेगा। पूर्वोक्त प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यही है कि वस्तु कवि को भी स्पर्श करती है तथा पाठक को भी।

काव्य वस्तु

राजशेखर का स्पष्ट कथन है—

"स यत्स्वभावः कविः तदनुरूपं काव्यम्"।

कवि जिस स्वभाव का होता है तन्निर्मित काव्य भी उसके ही अनुरूप होता है। यदि काव्य की देहली पर कामवासना के कमनीय कुसुमों के द्वारा कन्दर्प देव ही की अर्चना दीख पड़ती है अथवा पुरुषत्व-नाशक जघन्य लोल वासना का ही नग्न नृत्य दृष्टिगोचर होता है, तो मानना पड़ेगा कि कवि के चित्त में भी ये ही गर्हणीय वासनायें भरी पड़ी हैं। कोयला की खान से कोयला ही निकलता है और सोने की खान से सोना।

काव्य के वस्तु का धर्म पाठक को समधिक भाव से स्पर्श करता है। पाठक के हृदय में रसोन्मेष ही भारतीय आलोचकों के द्वारा निर्मित तथ्य है। रस भाव के ऊपर ही आश्रित होकर काव्य में उन्मीलित होता है। भरत मुनि का स्पष्ट आदेश है—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः —नाट्यशास्त्र

कोई भी रस भाव से वर्जित नहीं हो सकता अथवा कोई भी भाव रस से विहीन नहीं हो सकता। इस कथन का तात्पर्य यही है कि कितना भी रसोन्मेष से विलसित काव्य हो उसमें भाव का स्पर्श होगा ही अथवा भाव-प्रधान काव्य में रस का सम्पर्क अत्यल्प मात्रा में भी होता रहा है। पंडितराज जगन्नाथ के कथनानुसार—

'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः'

रति प्रभृति भाव द्वारा अवच्छिन्न या विशिष्ट हुए विना चित् सत्ता कभी रसरूप में प्रकाशित नहीं होती। रस में भावावच्छिन्नता या भाव-वैशिष्ट्य की सत्ता होना नितान्त आवश्यक होती ही है। रस का विशुद्ध रूप कितना भी अलौकिक, लोकातीत क्यों न हो, उसे भाव का अवलम्बन करना ही पड़ेगा। और यह भाव आश्रित रहता है वस्तु पर। संसार नाना पदार्थों की संघटना तथा परस्पर सम्पर्क से जायमान ललित लीलाओं का अथवा गर्हणीय क्रीड़ाओं का एक विलक्षण सामूहिक अभिधान है। इन्हीं वस्तुओं को अवलम्बित कर कवि भावों की सृष्टि करता है। ऐसी दशा में हम जोर देकर कह सकते हैं कि काव्य वस्तु पाठक को केवल स्पर्श ही नहीं करती, प्रत्युत विलक्षण रूप से उनके मनस्तल को आलोड़ित करती है।

काव्य में वर्णित वस्तु पाठक के हृदय को नैराश्य के प्रचण्ड झंझावात में कभी उद्विग्न कर देती है और कभी आशा की स्निग्ध चन्द्रिका के उदय से उसे शीतल तथा सजीव बना देती है। कभी उसका हृदय धनिकों तथा समर्थों के उत्पीड़न के शिकार बने निर्धन तथा आर्त पुरुषों के करुण अश्रान्त चीत्कार से उद्दीप्त हो उठता है, तो कभी ममतामयी-माता के वात्सल्य गंगा जल से धुलकर उज्ज्वल तथा शान्त बन जाता है। काव्य की वस्तु पाठकों को बिना आलोड़ित या प्रभावित किए बिना क्षण भर भी स्थिति लाभ नहीं कर सकती। हम रस की गम्भीर अनुभूति वाले मस्त-मौला मर्मज्ञों की बात नहीं करते। उनकी रस दशा स्वतन्त्र होती है तथा चिरस्थायी होती है, परन्तु साधारण पाठकों की रस दशा क्षणिक होती है। रस के अनुभूति काल में सत्त्व गुण तम तथा रज को दबाकर अपना स्वातन्त्र्य बनाये रहता है तथा आनन्द की चरम अनुभूति होती है। रस दशा के पर्यवसान में केवल आनन्द की स्मृति शेष रह जाती है और बच जाती है केवल भावों की अनुभूति। इस बावानुभूति की तीव्रता तथा शोभनता के निमित्त वस्तु की शोभनता नितान्त आवश्यक होती

है। सत्‌वस्तु का इसीलिए उत्कृष्ट प्रभाव पड़ता है पाठकों के ऊपर। काव्य वस्तु की अशोभनता कथमपि वांछनीय नहीं होती। वस्तु की सद्‌रूपता, उपादेयता तथा ग्राह्यता के ऊपर इसीलिए कवि को सर्वदा ध्यान देना आवश्यक होता है।

साहित्य और समाज

साहित्य समाज का दर्पण है और समाज साहित्य की कृति है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। विश्व-साहित्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि शोभन साहित्य सुन्दर समाज की रचना में कृतकार्य होता है तथा औदार्यपूर्ण समाज सत्‌साहित्य की प्रेरणा का विमल परिणाम होता है। कवि सामाजिक प्राणी है—वह अपनी सत्ता, स्थिति तथा समृद्धि समाज का श्लाघ्य अंग बन कर ही पा सकता है। कवि समाज की एक कमनीय कृति है। कवि अपने समाज का प्रतिनिधि होता है। इसी प्रकार वह समाज का स्रष्टा भी होता है। कवि अपने हाथ में हिंसा तथा विद्रोह, विनाश तथा वैर को प्रेरित करने वाले साहित्य को लेकर समाज को सभ्यता के अधःपतन की ओर ले जाने में समर्थ होता है। दूसरी ओर कवि त्याग तथा औदार्य, शौर्य तथा औदात्य के प्रेरक साहित्य के द्वारा समाज को अधिक त्यागशील तथा उदार बना कर उसे उद्दीप्त तथा तेजस्वी बनाता है। आदर्श कवि कविता में ऐसे वस्तु का निर्वाचन करता है जो समाज में प्रेम तथा त्याग का महनीय आदर्श प्रस्तुत करता है, श्रेय तथा प्रेय का मंजुल सामरस्य प्रस्तुत करता है, आदर तथा श्रद्धा की समधिक वृद्धि करता है। कवि का प्रधान कार्य है आत्म चैतन्य को प्रबुद्ध करना। सुप्त आत्म-चैतन्य की भावना समाज को जड़, अलस तथा निरुद्यम बनाकर उसे अवनति के गर्त में ढकेल देती है। साहित्य आत्म-चैतन्य को प्रबुद्ध कर उसे बलवान् बनाता है, ओजस्विता से मण्डित करता है तथा सामर्थ्य शक्ति का

उन्मीलन करता है। समाज को सुगठित करने में कवि की महत्व-शालिनी लेखिनी अपना जौहर दिखाने में कभी चूक नहीं करती। उसके अदम्य प्रभाव के प्रवाह को समाज रोक नहीं सकता। कवि अपने विचार के आलोक से आवृत होकर स्वतः स्वच्छन्द वृत्ति से ऐसी गीत के गायन में प्रवृत्त होता है जिससे समस्त विश्व आशा तथा भय के द्वारा सहानुभूति की ओर अग्रसर हो जाता है जिसका अब तक उसे तनिक भी ध्यान नहीं था। इस दृष्टि से वह एकान्त में चहकने वाले तथा विश्व में शान्ति तथा सुख का सन्देश सुनाने वाले कोकिल के नितान्त सदृश है। महाकवि शेली ने स्वानुभूति की इस प्रख्यात पद्य में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्ति की है।

"लाइक ए पोयट डिवाइन इन दि लाइट आव थाट,
सिंगिंग हिम्स अनबिडेन टिल दि वर्ल्ड इज राट,
टु सिम्पैथी होप्स एण्ड फियर्स इट हीडेड नाट।"

जगती कवि वाणी के प्रभाव के प्रसार की लीलाभूमि है। समाज कवि वाणी के द्वारा उन्मीलित प्रेम तथा आशा, दया तथा औदार्य के प्ररोह का उर्वर क्षेत्र है। ऐसी दशा में कवि को अपनी वस्तु के लिए सदा सतर्क रहना चाहिए। निकृष्ट उपादान से उत्कृष्ट भाव की सृष्टि एकदम असम्भव है। क्या समाज के लिए हेय तथा अग्राह्य उपकरण से उच्च काव्य की कथमपि सृष्टि हो सकती है? काव्य का लक्ष्य अध्यात्म के सदृश ही श्रेय की सृष्टि है और वह तभी साध्य है जब समाज के शोभन उपकरणों का योग कवि अपने काव्य में करता है। ऐसी दृष्टि से काव्य का अन्तिम लक्ष्य काव्य नहीं हो सकता।

काव्य के पक्ष

ध्यान देने की बात है कि काव्य के दो ही पक्ष होते हैं—सुन्दर तथा कुरूप। कवि की दृष्टि सदा सौन्दर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तु के रूप रंगों में हो अथवा मनुष्य के मन, वाणी तथा कर्म में हो। कवि की अन्तर्दृष्टि सौन्दर्य को निरखती है और उसकी

वाणी उसी की अभिव्यक्ति सुन्दर शब्दों के द्वारा करती है। भला-बुरा, मंगल-अमङ्गल, पाप-पुण्य आदि शब्द नीति-शास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र से सम्बद्ध शब्द हैं। ये काव्य क्षेत्र से बाहर रहते हैं। विशुद्ध काव्य के क्षेत्र में न कोई वस्तु भली होती है न बुरी, न उपयोगी होती है न अनुपयोगी। कवि केवल दो ही बातों पर ध्यान देता है कि वह सुन्दर है या कुरूप। मंगल वस्तु या सुन्दर वस्तु में कथमपि अन्तर नहीं होता। धार्मिक जिस वस्तु को अपनी दृष्टि से मंगलमय मानता है उसे ही कवि अपनी दृष्टि से सुन्दर समझता है। दृष्टिभेद होने पर भी वस्तु का रूपगत भेद नहीं होता। कवि के इस दृष्टिविशेष पर ध्यान देने से अनेक समस्याओं का स्वतः समाधान हो जाता है कि काव्य सत् होता या असत्? कवि प्रचारक होता है या उपदेशक? काव्य का नीति से ऐकमत्य है या वैमत्य? जो सुन्दर है वही शिव है, वही सत्य है। कवि के इस वैशिष्ट्य पर लक्ष्य रखने से काव्य सौन्दर्य से युक्त होते ही मंगलमय होता है। सौन्दर्य मांगल्य का प्रतीक है। सौन्दर्य सत्य का प्रतिनिधि है। काव्य में जितने प्रकार के सौन्दर्य का एकत्र संविधानक प्रस्तुत किया जाता है वह उतना ही रमणीय तथा आवर्जनीय, प्रभावशाली तथा उत्कर्षाधायक बन जाता है। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र के चित्रण में अन्तः सौन्दर्य के साथ रूप-माधुरी का सन्निवेश वाल्मीकि की प्रतिभा का सुन्दर विलास है। उदात्त नामक का बाहरी सौन्दर्य उसके अन्तःकरण के सौन्दर्य का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। प्राकृतिक सौन्दर्य के साहाय्य पाने पर इस सौन्दर्य की गरिमा और भी अधिक विमुग्धकारिणी बन जाती है। सौन्दर्य का चित्रण करने वाले कवि का काव्य कथमपि असंगल आदर्श प्रस्तुत नहीं करता। अतः मुख्यता लक्ष्य न होने पर भी सत्कवि की वाणी समाज का परम मंगल, शाश्वत कल्याण उत्पन्न किये बिना नहीं रहती।

काव्य को मूलतः 'जीवन की आलोचना' माननेवाले आर्नोल्ड

महोदय का भी यही तात्पर्य है। हमने ऊपर कहा है कि काव्य तथा जीवन में घनिष्ठ तथा श्लाघ्य सम्पर्क स्थापित रहता है। कवि अपने सामने प्रस्तुत जीवन के नाना अंशों पर अपनी पैनी दृष्टि डाल कर अपने काव्य में चित्रित करता है। कवि होता है आदर्शवाद का पक्षपाती। काव्य में यथार्थवाद की ओर इधर विशेष पक्षपात दृष्टिगोचर हो रहा है, परन्तु कवि वस्तु के हेय पक्ष का ग्रहण न कर उसके ग्राह्य पक्ष का ही अनुरागी होता है। पाठक काव्य-निबद्ध वस्तु के अनुशीलन से अपनी दशा का सूक्ष्म निरीक्षण तथा तुलना करता है तथा अपने जीवन को उदात्त तथा मंगलमय बनाने के लिए अश्रान्त परिश्रम करता है। इस प्रकार काव्य जीवन का मूलतः आलोचन ही होता है।

नैतिकता उदात्त कविता की जीवनी शक्ति है। नैतिक भावना से विद्रोह करने वाली कविता वस्तुतः जीवन से विद्रोह करने वाली कविता है। नैतिक भावना का अवहेलनामय काव्य जीवन के प्रति अवहेलनात्मक काव्य है।

कविता

कविता जीवन की मनोरंजिनी व्याख्या है। कवि पदार्थों के सौन्दर्य पक्ष तथा अध्यात्मपक्ष को ग्रहण कर अपने काव्य में निबद्ध करता है। पदार्थों का हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा हम किस प्रकार उस प्रभाव को व्यक्त करते हैं? इसका स्पष्टीकरण काव्य के द्वारा होता है। काव्य के प्रभाव को व्यापक, दूरगामी तथा विशाल बनाने के आशय से कवि को वस्तु निर्वाचन की ओर सावधानी रखनी चाहिए। तुच्छ तथा क्षुद्र विषय पर प्रतिभा के सहारे कविता करने वाले कवियों की रचनायें क्षणिक मनोरंजन से अधिक मूल्य नहीं रखतीं। शाश्वत प्रभाव उसी काव्य का पड़ता है जिसका विषय अधिक से अधिक प्राणियों के अन्तस्तल को स्पर्श करता है तथा शाश्वत

मानववृत्ति का चित्रण करता है। इस प्रसंग में प्रगतिवादी आलोचकों का अपना एक पक्ष है। उनकी दृष्टि में काव्य या कला का मुख्य उद्देश्य यही है कि वह सम्पन्न पुरुषों के द्वारा निर्धनों तथा निरीहों के ऊपर किये अत्याचारों का स्फूर्तिमय विवरण प्रस्तुत करता है। उनका तो यहाँ तक बढ़ कर कहना है कि जो काव्य इस प्रकार कार्य में योग-दान नहीं देता वह काव्य ही नहीं है। इस सम्प्रदाय के एक आलोचक की तो यहाँ तक सम्मति है कि वर्तमान काल में लिखित कोई भी ग्रन्थ शोभन नहीं हो सकता, यदि वह मार्क्सीय अथवा प्रायः मार्क्सीय दृष्टि से नहीं लिख गया हो। दूसरे आलोचक का कहना है कि कला श्रेणी-संग्राम या वर्गयुद्ध का एक विशिष्ट यन्त्र है जो दरिद्र श्रमिक-संघ के द्वारा उनके अन्यतम अस्त्र के हिसाब से अनुशीलित होना चाहिए। इन उक्तियों को पढ़ कर यही प्रतीत होता है कि कला या कला के उद्देश्य की हत्या इससे अधिक नहीं हो सकती। जो कला कुलांगना के समान उद्दीप्त भावभंगी से सम्पन्न होकर राजसिंहासन की शोभा को विकसित करती थी वही अब दरिद्रता के पंक से मलिन-वेश ललना के कार्य सम्पादन के निमित्त उपयोग में लगाई जा रही है। 'कला-कला के लिए' इस सिद्धान्त तक गनीमत थी, परन्तु अब 'कला प्रचार के लिए' यह सिद्धान्त तो कला के कोमल उद्देश्य पर भीषण तुषारपात है तथा उसके पवित्र लक्ष्य की निर्मम हत्या है।

काव्य का भारतीय उद्देश्य

भारतीय आलोचकों ने काव्य का उद्देश्य उभय प्रकार का बतलाया है। भरत मुनि का कथन है—

> धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि-विवर्धनम्।
> लोकोपदेश-जननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥

इस पद्य का गम्भीर अर्थ बतलाते हुए अभिनव गुप्त का मार्मिक विवरण है कि नाट्य स्वतः हितकारक नहीं होता, प्रत्युत वह हित

प्रतिभा का जनक होता है। क्या नाट्य गुरु के समान उपदेश देता है ? या नाट्य नीतिशास्त्र के समान साक्षात् रूप से उपदेश प्रदान करता है ? अभिनव का स्पष्ट उत्तर है—नहीं, किन्तु बुद्धि को बढ़ाता है; वैसी प्रतिभा का ही वितरण करता है। इसका स्पष्ट आशय यही प्रतीत होता है कि नाट्य श्रोताओं की बुद्धि बढ़ाता है—उनकी प्रतिभा को ही उन्नत कर देता है जिससे वे अपना हितचिन्तन स्वयं करने लगते हैं।

भामह की दृष्टि में साधु काव्य का निषेवण कीर्ति तथा प्रीति (आनन्द) उत्पन्न करता है। विश्वनाथ कविराज काव्य को चतुर्वर्ग की प्राप्ति का सुगम साधन स्वीकार करते हैं। काव्य के द्वारा मानव जीवन के चारों लक्ष्य, चतुर्विध पुरुषार्थ—अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष की उपलब्धि अनायास रीति से होती है। मम्मट के द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्यों का विश्लेषण करने से काव्य का द्विविध प्रयोजन प्रतीत होता है—मुख्य तथा गौण। इनमें मुख्य प्रयोजन है—सद्यः पर-निर्वृति, काव्य पाठ के समनन्तर सद्यः उत्पन्न होने वाला सातिशय आनन्द। यही उद्देश्य 'सकल प्रयोजन मौलिभूत' माना गया है। काव्य पाठ से तुरन्त होने वाला अलौकिक आह्लाद ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन है। गौण प्रयोजन अनेक हैं जिनमें यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान, विघ्न-नाश तथा कान्तासम्मित उपदेश-दान है। काव्य नीतिशास्त्र के समान रूखा-सूखा उपदेश देने में ही अपनी कृतकार्यता नहीं मानता। सरसता के साथ उपदेश देना ही काव्य का प्रयोजन है, परन्तु यह भी अमुख्य प्रयोजन है। श्रोता तथा पाठक के हृदय में अलौकिक आनन्दमय रस का उन्मीलन ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। आरम्भ में कहा गया है कि इस रसोन्मेष के सिद्धान्त से काव्य की मांगलिकता तथा कल्याण-परायणता पर तनिक भी आँच नहीं आती। मम्मट का यह प्रतिपादन काव्य के द्विविध प्रयोजन की ओर संकेत करता है।

कवि और काव्य

हमारे आद्य आलोचक भरतमुनि ने नाट्य की उत्पत्ति के अवसर पर नाट्य के स्वरूप की समीक्षा करते हुए इस प्रश्न का विशद उत्तर प्रस्तुत किया है। नाट्य सार्ववर्णिक पंचम वेद है जिसके अंगों की रचना त्रैवर्णिक वेदों के विशिष्ट अंशों से ही की गई है। नाट्य का पाठ्य ऋग्वेद से संग्रहीत किया गया है, गीति सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से तथा रस अथर्ववेद से। नाट्य को सार्ववर्णिक कहने का यही तात्पर्य है कि इसका क्षेत्र नितान्त विस्तृत तथा व्यापक है, क्योंकि यह सब वर्णों के लिए उपयोगी और उपादेय है। वेदत्रयी के समान इसका श्रवण स्त्री तथा शूद्र जाति के लिए निषिद्ध नहीं है। इस व्यापक तथा विस्तृत क्षेत्र सम्पन्न होने के कारण ही भरतमुनि ने नाट्य को 'सर्व शास्त्रार्थ सम्पन्न', 'सर्व शिल्प प्रवर्तक', 'नानाभावोपसम्पन्न', 'नानावस्थानान्तरात्मक', 'लोकवृत्तानुकरण', 'सप्तद्वीपानुकरण' बतलाया है।

नाट्य की वस्तु के विषय में भरत का मान्य मत है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

(नाट्य शास्त्र १।११७)

ऐसा कोई ज्ञान—उपादेय आत्मज्ञान आदि नहीं है, न कोई शिल्प (माला, चित्र, पुस्त आदि की रचना) है, न ऐसी कोई विद्या (दण्ड नीति आदि) ही है, न यह कला (गीत, वाद्य, नृत्य, आदि) है, न ऐसा कोई योग (योजना) है, और न कोई व्यापार (युद्ध, नियुद्ध आदि) ही है जो इस नाट्य में नहीं दिखलाई पड़ता।

भामह का भी काव्य-वस्तु के विषय में इसी प्रकार का सिद्धान्त है—

> न स शब्दो न तद् वाच्यं न तच्छिल्पं न सा क्रिया।
> जायते यन्न काव्याङ्गम् अहो भारो महान् कवेः॥
> (काव्यालंकार ५।३)

विश्व में न ऐसा कोई शब्द है, न कोई अर्थ, न कोई शिल्प है, न कोई क्रिया जो काव्य का उपादेय अङ्ग बन कर उसकी सहायता नहीं करता। कवि का उत्तरदायित्व सचमुच महान् है, विपुल है।

अग्निपुराण काव्यस्रष्टा को जगत्स्रष्टा प्रजापति से तुलना कर उसके उदात्ततम स्थान तथा महनीय उत्तरदायित्व की ओर संकेत कर रहा है।

कवि प्रजापति का ही प्रतीक है।

> अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
> यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

अपार काव्य संसार के बीच में कवि ही एक प्रजापति है। उसे जैसा रुचता है वैसा ही वह इस विश्व की रचना करता है।

भारतीय आलोचकों की दृष्टि बड़ी उदार तथा प्रशस्त है। वे काव्य नाट्य में किसी भी वस्तु या शिल्प का वर्जन करना नहीं चाहते। विश्व के प्रजापति के समान ही हमारे काव्य के स्रष्टा कवि का सम्माननीय पद है। नीलकण्ठ दीक्षित ने बड़े ही मार्के की बात कही है कि श्रुति परब्रह्म की स्तुति के अवसर पर उन्हें न तो तार्किक बतलाती है और न दार्शनिक। वह 'कवि' शब्द का ही प्रयोग उस सर्वशक्तिमान के लिए करती है। यह काव्य कला का समस्त कलाओं तथा दर्शनों के ऊपर विजयघोष है। जगत् में कवि उस अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म का जीवित प्रतिनिधि है। नाट्य वेद के समान आदरणीय, श्रद्धास्पद तथा उपादेय है। ऐसी उदार दृष्टि वाले भारतीय आलोचकों के विचार

संकीर्ण तथा अनुदार कथमपि नहीं हो सकते। वे काव्य में किसी भी वस्तु का वर्जन करना पसन्द नहीं करते। जिस आलोचक वर्ग की धारणा है कि भारतीय साहित्य में केवल शोभन, रोचक तथा मनोज्ञ पदार्थों की ही वर्णना है, वे नितान्त भ्रान्ति में पड़े हुए हैं। भारतीय साहित्य सुख-पक्ष तथा दुःख-पक्ष दोनों को उचित रूप में अंकित करने में कृतसंकल्प है।

नाट्य का रूप

लोकचरित का अनुकरण ही नाट्य है। लोक के व्यक्तियों का चरित्र न तो एक समान होता है और न उनकी अवस्था ही एकाकार होती है। हम किसी व्यक्ति को सांसारिक सौख्य की चरम सीमा पर विराजमान पाते हैं, तो किसी दूसरे को दुःख के तमोमय गर्त में अपना भाग्य कोसता हुआ पाते हैं। सुख तथा दुःख, वृद्धि तथा ह्रास, हर्ष तथा विषाद, प्रसाद तथा औदासीन्य इन नाना प्रकार की मानसिक वृत्तियों की विशाल परम्परा की ही संज्ञा 'लोक' है। इन्हीं नाना भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थाओं के चित्रण से संयुक्त, लोकवृत्त का अनुकरण ही नाट्य है। तात्पर्य है कि हमारा साहित्यिक किसी विशिष्ट वस्तु को ही अपनी रचना का विषय नहीं बनाता, प्रत्युत वह मुक्तहस्त से प्रत्येक विषय का, चाहे वह क्षुद्र से भी क्षुद्रतम हो अथवा महान् से भी महत्तम हो, समान भाव से स्वागत करने के लिए सदा तैयार रहता है। उसकी दृष्टि में कोई भी वस्तु न तो गर्हणीय है और न हेय। समस्त वस्तु होती है उपादेय तथा उपयोगी। आलोचकों का शास्त्रीय विवेचन तथा कवियों का व्यावहारिक प्रदर्शन इसी सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है। आनन्दवर्धन का कथन बड़ा ही युक्तिपूर्ण है—

'वस्तु च सर्वमेव जगद्‌गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य चाङ्गत्वं प्रतिपद्यते। न तदस्ति वस्तु किञ्चित् यत्र चित्त-वृत्तिविशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कवि-विषयतैव तस्य न स्यात्।'

जगत् की समस्त वस्तुएँ अवश्य ही किसी न किसी रस का अंग बनती हैं। जगत् में उस वस्तु का सर्वथा अभाव है जो कवि के चित्त में वृत्ति-विशेष को उत्पन्न नहीं करती, क्योंकि यदि वह वृत्तिविशेष उत्पन्न नहीं करती, तो वह कवि के लिए विषय ही नहीं बन सकती। आशय है कि पदार्थ की पदार्थता यही है कि साक्षात्कार होने पर वह कवि के हृदय में कोई विशिष्ट चित्तवृत्ति उपजावे। नहीं तो उसका होना और न होना एक समान ही है। इस युक्ति से देखने पर संसार की प्रत्येक वस्तु कवि की वर्णना का विषय बनती है और किसी न किसी रस का अंग बनती है। रसोपयोगी समग्र उपकरणों का संग्रह कवि के लिए आवश्यक होता है।

धनञ्जय की दृष्टि में काव्य-विषय की इयत्ता नहीं है। कवि की भावना से भावित होने पर प्रत्येक वस्तु, चाहे वह क्षुद्र हो, रम्य हो, उदार हो, जुगुप्सित हो रसत्व को प्राप्त कर लेती है। वस्तु के विषय में ही यह तथ्य जागरूक नहीं होता, प्रत्युत अवस्तु काल्पनिक वस्तु भी काव्य का विषय बनकर रमणीयता तथा मनोज्ञता प्राप्त कर लेती है—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचम् उग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद् वाऽप्यवस्तु कविभावक-भाव्यमानं तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके॥
(दशरूपक, ४। ८५)

संसार की प्रत्येक वस्तु काव्य का विषय है। प्रत्येक पदार्थ रस का अंग है। उसके स्वरूप पर बिना दृष्टिपात किये ही कवि अपनी भावना-शक्ति से उनमें ऐसी क्षमता उत्पन्न कर देता है कि वे विशुद्ध आनन्द प्रदान करने लगते हैं। वस्तु की बात तो पृथक् रहे, अवस्तु—कल्पना-प्रसूत अप्रसिद्ध अज्ञात-वस्तु भी वही चमत्कार उत्पन्न कर देती है। चाहिए जादूगर की वह छड़ी। जादूगर जिस वस्तु के ऊपर अपनी मोहमयी छड़ी फेर देता है वही चीज उछलने-कूदने लगती है, चमत्कार पैदा कर देती है। कवि की भावना शक्ति की भी यही अलौकिक-सामान्य महिमा है। शक्ति के क्षेत्र के भीतर आते ही पदार्थ में जीवनी

शक्ति आ जाती है, आनन्द उत्पादन करने में विचित्र क्षमता उन्हें प्राप्त हो जाती है। कवि के लिए विषय की अवधि नहीं है। इसीलिए भामह आश्चर्यभरे शब्दों में कविकर्म की महिमा उद्घोषित करते हैं—अहो भारो महान् कवे:।

धनञ्जय ने कहा है कि वस्तु की बात दूर रहे: जो अवस्तु भी है—कल्पना-जगत् में ही जिसका अस्तित्व विद्यमान रहता है वह भी कवि की प्रतिभा के बल पर काव्य का विषय बन जाता है और आनन्द उत्पन्न कर सकता है।

अवस्तु से आनन्द

नैषध-चरित में श्री हर्ष की इस सुन्दर उक्ति की परीक्षा कीजिए—

अस्य क्षोणिपतेः परार्ध्यपरया लक्षीकृता संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिर—प्रख्याः किलाकीर्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरान्
मूकानां प्रकरेण कूर्म—रमणीदुग्धोदधे रोधसि॥

(नैषधीय चरित १२।१०६)

इस राजा की अकीर्ति परार्ध्य से ऊपर वाली संख्या से गिनी गई है तथा प्रज्ञाचक्षु (अन्धों) के द्वारा दृश्यमान अन्धकार के समान श्यामवर्ण की है। कछुए की स्त्री की दूध वाले समुद्र के किनारे बैठ कर बाँझ के पेट से पैदा होने वाले गूंगों का समुदाय अष्टम स्वर में इन अकीर्तियों का गान करता है! इस पद्य में अवस्तु अर्थात् कल्पित वस्तुओं की दीर्घ परम्परा का परस्पर सम्बन्ध उत्पन्न कर कवि श्रोताओं के हृदय को आनन्द रस में लीन कर रहा है। परार्ध्य से ऊपर की संख्या, प्रज्ञाचक्षु के द्वारा दर्शन, अष्टम स्वर, वन्ध्या का पुत्र, मूक का गायन, कूर्मरमणी का दुग्ध—समस्त वस्तुएँ कवि की कमनीय कल्पना से प्रसूत हैं; वास्तव जगत् में इनकी सत्ता विद्यमान न होने पर कवि की भावना से भावित होते ही उनमें अलौकिक आनन्द उत्पन्न

करने की योग्यता विद्यमान हो गई है। 'योग्यता' की कमी के कारण यह पद्य 'वाक्य' नहीं हो सकता, तथापि यह काव्य है और सुन्दर काव्य है। अतः विश्वनाथ कविराज का यह आग्रह कि रसात्मक वाक्य ही काव्य होता है अनेक आलोचकों की दृष्टि में निराधार, निःसार तथा प्रमाणविहीन लक्षण है, कोरी हठधर्मिता ही है।

काव्यवस्तु के विषय में भारतीय आलोचकों की ही यह विचार धारा नहीं है, प्रत्युत पाश्चात्य कवि और आलोचक भी अपने अनुभव तथा तर्क से इसी मत का पोषण करते हैं। महाकवि शेक्सपीयर की प्रसिद्ध सूक्ति है—

'कवि की सुन्दर चक्षु उन्मादना से पूरित बन,
कटाक्ष से देखती है स्वर्ग से भूतल और भूतल से स्वर्ग,
और जब कल्पना स्फुरित होती है,
तब अज्ञात वस्तुराशि के रूप को कवि की लेखनी गढ़ती है उनकी मूर्ति,
शून्य तुच्छ वस्तु को देती है वासस्थान और नाम'।

महाकवि शेली ने अपने काव्य विषयक प्रबन्ध में स्पष्टतः लिखा है—

कविता सब वस्तुओं को सौन्दर्य से मण्डित बना देती है। जो स्वयं सुन्दर होता है, उसके सौंदर्य को बढ़ा देती है और जो वस्तु अत्यन्त कुत्सित होती है, उसके साथ सौन्दर्य का योग कर देती है।

तत्त्ववेत्ता शोपेनहावर का कथन है कि इस संसार में ऐसे पदार्थ का अभाव है जो स्वयं विशिष्ट भाव से सुन्दर हों; परन्तु प्रत्येक वस्तु में सौंदर्य की उपलब्धि की योग्यता विद्यमान है, यदि हम लोग उपयुक्त प्रतिभा के अधिकारी हों।

रवीन्द्र के विचार

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने इस विषय का बड़ा ही मार्मिक विवेचन अपने एक पत्र में किया है। उनका कथन है कि साहित्य में हम समग्र

मनुष्य को पाने की आशा रखते हैं, परन्तु सब समय समग्र को पाया नहीं जाता—उसका एक प्रतिनिधि ही पाया जा सकता है, जिसे समस्त मनुष्य के रूप में स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति न हो। प्रेम, स्नेह, दया, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या—ये सब हमारी मानसिक वृत्तियाँ हैं। ये यदि अवस्था के अनुसार मानव प्रकृति के ऊपर एकच्छत्र आधिपत्य प्राप्त करें, तो इससे हमारी अवज्ञा या घृणा का उद्रेक नहीं होता। क्योंकि इन सब के ललाट पर राजचिह्न हैं—इनके मुख पर एक प्रकार की दीप्ति प्रकट होती है।

काव्य में वही वस्तु उपादेय मानी जा सकती है, जो मनुष्य की समग्र मानवता को प्रकट करने की क्षमता रखे। जो गुण केवल एक-देशीय होता है, जो मानवता की सच्ची अभिव्यक्ति करने वाला नहीं होता, वह व्यापक होनेपर भी काव्य में उपादेय नहीं माना जा सकता। 'औदरिकता' (पेटूपन) को ही लीजिए। यह व्यापक गुण है, कथमपि असत्य नहीं है; परन्तु फिर भी काव्य में इसे हम राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। समग्र मनुष्य का प्रतिनिधि मानने में हमें अत्यन्त आपत्ति है। रवीन्द्र के स्मरणीय शब्दों में 'कोई वास्तविकता का प्रेमी पेटूपन को ही अपने उपन्यास का विषय बनाते और कैफ़ियत देते समय कहे कि पेटूपन पृथ्वी का एक चिरन्तन सत्य है। इसलिए साहित्य में वह क्यों नहीं स्थान पायेगा? तो इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि 'साहित्य में हम सत्य को नहीं चाहते, मनुष्य को चाहते हैं......चाहे अपने दुःख के द्वारा हो, चाहे दूसरों के, प्रकृति का वर्णन करके ही हो या मनुष्य के चरित्र का चित्रण करके, जैसे भी हो मनुष्य को प्रकाशित करना ही होगा; बाकी सारी बातें उपलक्ष्य हैं।......केवल प्रकृति का सौन्दर्य ही कवि का वर्ण्य विषय नहीं है। प्रकृति की भीषणता और निठुरता भी वर्णनीय है। किन्तु वह भी हमारे हृदय की वस्तु है, प्रकृति की वस्तु नहीं। अतएव ऐसा कोई वर्णन साहित्य में स्थान नहीं पा सकता जो सुन्दर न हो, शान्तिमय न हो, भीषण न हो, महत् न हो, जिसमें मानवधर्म न हो अथवा जो

अभ्यास या अन्य कारण से मनुष्य के साथ निकट सम्पर्क में बद्ध न हो।'

काव्य में दो पक्ष

इस समीक्षा से स्पष्ट है कि कविता केवल कमनीय उद्यान के बीच में तड़ाग में विकसित कमल की सुषमा के वर्णन में ही चरितार्थ नहीं होती, प्रत्युत उस श्याम रंग पंक को भी वह नहीं भूलती जिससे पंकज का जन्म होता है। वह समग्र मानव को अपनी कमनीय आभा से आलोकित कर प्रकट करने का उद्योग करती है। कवि जानता है कि मानवता देवत्व से भी बढ़ कर अधिक स्पृहणीय गुण है देवत्व में जीवन केवल एक सुभग पक्ष—सौख्यपक्ष—ही की उपलब्धि होती है, परन्तु मानवता में सौख्यपक्ष तथा दुःखपक्ष उभयपक्षों का सुभग चित्रण किया जाता है। मानव जीवन की सफलता का रहस्य है कर्मजीवन के बीच संघर्ष तथा तज्जन्य विजय। हमारे साहित्य में इसीलिये कवियों ने जीवन के उभयपक्षों की अभिव्यक्ति की है, उपभोगपक्ष तथा प्रयत्नपक्ष। जो कवि केवल प्रेम के माधुर्य की लीला गाने में ही व्यस्त रहता है वह होता है उपयोग पक्ष का कवि, परन्तु काव्य में इतना ही श्लाघनीय नहीं है। उसकी रचना में प्रयत्न-पक्ष की लीला भी फूटनी चाहिए। कवि वृद्धि तथा ह्रास, हर्ष तथा विषाद, उल्लास तथा अवसाद, उन्नति तथा अवनति—इन दोनों के बीच उत्पन्न संघर्ष के चित्रण में भी अपनी कला का विलास दिखलाता है। "लोक में फैली हुई दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्दकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामञ्जस्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामञ्जस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है।" और इसी लोक-धर्म का उद्घाटन कवि

अपनी कविता में शब्दों के माध्यम द्वारा सम्पन्न करता है। इसीलिए कवि के लिए काव्य में सब पदार्थ उपादेय होते हैं। वह किसी भी पदार्थ का वर्णन नहीं कर सकता। कवि के लिए यह नियम सदा जागरूक रहता है।

काव्यगत वस्तु विभाव के रूप में परिणत होकर ही रस के उन्मीलन में कृतकार्य होती है। रसोन्मेष में सफल होना ही काव्य वस्तु का वस्तुत्व है। इसके निमित्त कतिपय नियमों का पालन कवि के लिए नितान्त आवश्यक होता है।

इतिवृत्त दो प्रकार का होता है। एक प्रकार तो वह है कि जो उस देश के इतिहास या पुराण में प्रसिद्ध है, और दूसरा प्रकार वह है जिसे कवि की उर्वर कल्पना शक्ति स्वतः अपने बल पर उत्पन्न करती है। पहला प्रकार है ऐतिहासिक तथा पौराणिक वृत्त, ख्यात वृत्त; दूसरे प्रकार का नाम है काल्पनिक वृत्त या उत्पाद्य वृत्त। कवि अपने काव्य की वस्तु रचना के निमित्त उभय प्रकार के कथानकों से सामग्री एकत्र करता है तथा उन्हें संश्लिष्ट बनाकर कविता का निर्माण करता है।

औचित्य-बोध

कवि स्वतन्त्र होता है। अपनी प्रतिभा के बल पर निर्माण करने में स्वच्छंद होता है, परन्तु इस विषय में उसकी स्वच्छन्दता के नियमन करने की भी जरूरत रहती है, नहीं तो वह इतना विकृत वस्तु प्रस्तुत कर सकता है, जिसे पाठक पहचान नहीं सकते। कवि के स्वाच्छन्द्य के नियमन का प्रधान साधन है औचित्य बोध। उचित वस्तु ही काव्य में निबद्ध की जा सकती है, अनुचित नहीं, क्योंकि औचित्य का रसोन्मीलन के साथ बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है। "औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" (क्षेमेन्द्र)। इससे सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है। बिना औचित्य के काव्य में रस का उत्स नहीं फूटता—रस का समुचित संचार नहीं होता।

इसीलिए कथा में औचित्य के ऊपर भरत, लोल्लट, यशोवर्मा तथा आनन्दवर्धन का समभावेन आग्रह है। लोल्लट का तो इस विषय में स्पष्ट अभिप्राय है कि रसवत् वस्तु का ही उपन्यास काव्यों में उचित होता है, रसहीन वस्तु का नहीं। काव्य में सरित, समुद्र, प्रभात तथा चन्द्रोदय आदि वस्तुओं का वर्णन उसी हद तक उचित माना जाता है जहाँ तक वे रस के विकास में सहायक होते हैं, अन्यथा वे कवि की व्युत्पत्ति का ही सिक्का श्रोताओं के ऊपर जमाने में समर्थ होते हैं। आनन्दवर्धन का विवेचन तो विशेष विस्तृत तथा हृदयग्राही है। इतिवृत्त में भावौचित्य की सत्ता विशेष आवश्यक होती है। भावौचित्य आश्रित रहता है प्रकृत्यौचित्य पर। साहित्य में प्रकृति मुख्यतया तीन प्रकार की होती है—उत्तम, मध्यम तथा अधम अथवा दिव्य, मानुष्य तथा दिव्यादिव्य। इन तीनों प्रकृतियों का कार्य स्वभाव तथा प्रकर्ष भिन्न भिन्न रहता है। औचित्यतत्त्व का आग्रह है कि कवि प्रत्येक प्रकृति का निरूपण ठीक उसके स्वभाव के अनुरूप करे। दिव्य प्रकृति के लिए जो वर्णन स्वाभाविक तथा अनुरूप हों उनका निर्देश मानुष प्रकृति के लिए कथमपि नहीं करना चाहिए। वह कवि अपनी कविमर्यादा का उल्लंघन करता है जो किसी भूपति के ऐश्वर्य का उत्कर्ष दिखलाते समय उसे सात समुद्रों के लंघन करने की घटना का निवेश करता है—

केवल मानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमाना सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति। तत्र अनौचित्यमेव हेतुः—ध्वन्यालोक ३।१० (वृत्ति), पृ० १४५।

राजा कितना भी महिमाशाली क्यों न हो कितना भी उत्कर्ष सम्पन्न क्यों न हो, मनुष्य होने के नाते उसके बलवर्णन की एक निर्धारित सीमा है। उसके लिए सात समुद्रों को लाँघने का व्यापार सुन्दर होने पर भी अनुचित होता है। ऐसा वर्णन करनेवाला कवि कविता के साथ मजाक करता है। अनुचित वृत्त का निवेश काव्यकला के महनीय आदर्श के साथ खेलवाड़ करना ही है।

अभिनवगुप्त ने इस स्थल की व्याख्या करते समय अपना सिद्धान्त बड़े संक्षेप में दिया है—

यत्र विनेयानां प्रतीति-खण्डना न जायते तदत्र वर्णनीयम् ॥

वस्तु उसी रूप में वर्णन करनी चाहिए जिससे दर्शक तथा पाठकों के चित्त में प्रतीति खण्डित न हो। बाह्य वस्तु का काव्य में सत्य रूप से उपन्यास होने पर ही सामाजिक को उससे साक्षात् रसबोध होता है। यदि असत्य रूप से उनका विन्यास किया जाता है तो अभीष्ट फल का उदय कथमपि नहीं हो सकता। चतुर्वर्ग की प्राप्ति के निमित्त काव्य जागरूक रहता है, परन्तु किसी मानव राजा के सप्तार्णवलंघन की झूठी कथा सुन कर सामाजिक समग्र वर्णन से ही अपना विश्वास उठा लेता है ! इसीलिए आनन्दवर्धन ने औचित्य को काव्यशास्त्र का उपनिषद् बतलाया है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥

(ध्वन्यालोक पृ० १४५)

जिस प्रकार उपनिषत् विद्या के अनुशीलन से ब्रह्म की सद्यः स्फूर्ति होती है, उसी प्रकार औचित्य के अनुशीलन से ब्रह्मास्वाद-सहोदर रस का साक्षात् उन्मीलन होता आया है। अन्त में आनन्दवर्धन ने जोर देकर कहा है कि कवि को विशेष रूप से विभावादिकों के अनौचित्य के परिहार करने में यत्नवान् होना चाहिए। बिना इस औचित्य की रक्षा के रसोन्मेष नितान्त दुःसाध्य व्यापार है। कवि इतिहास सम्बधिनी कथाओं में, अत्यन्त रसवती होनेपर भी उन्हीं को ग्रहण करे, जो विभावादि-औचित्य से मण्डित हों। वृत्त कथा की अपेक्षा उत्पाद्य कथा के विषय में उसे और भी अधिक सावधान होने की जरूरत होती है।

कथा-शरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा ।
यथा रसमयं सर्वमेव तत् प्रतिभासते ॥

(ध्वन्यालोक पृ० १४७)

उत्पाद्य वस्तु वाली कथा का निवेश इस प्रकार से होना चाहिये कि समस्त वस्तु रस-सम्पन्न सामाजिक को प्रतिभासित होने लगे। और इसका प्रधान उपाय है विभावादि के औचित्य का सम्यक् अनुसरण।

पाश्चात्य आलोचकों का इस विषय में भिन्न मत नहीं है। भारतीय आलोचकों के समान औचित्य का सिद्धान्त पश्चिमी लेखकों के यहाँ भी माननीय काव्य-तत्त्व है। औचित्य कला का नितान्त स्पृहणीय सिद्धान्त है।

अरस्तू का इस विषय के कथन इस मत के स्पष्ट पोषक हैं। उनकी उक्ति है—'काव्य में कवि के लिए उचित है कि वह असम्भव घटनीय वस्तु की अपेक्षा सुसम्भव अघटनीय वस्तु का निर्वाचन करे।'

उनका अन्यत्र कथन है—'घटना के भीतर ऐसी कोई वस्तु न होनी चाहिए जो युक्ति या प्रतीति के अगोचर हो। इससे स्पष्ट है कि उनका आग्रह औचित्य-सम्पन्न घटना के ऊपर ही है। इस प्रकार औचित्यपूर्ण वस्तुविन्यास के द्वारा समग्र मानव की अभिव्यक्ति ही कला का चरम अवसान है।



प्राचीन कविता में प्रगतिशीलता

आजकल आलोचकों की यह नितान्त भ्रान्त धारणा है कि प्रगतिवादी कविता का जन्म इस युग में हुआ है और वह भी पश्चिमी जगत् में। परन्तु यह धारणा निर्मूल तथा प्रमाण-रहित है। भारतवर्ष में ऐसा युग कभी नहीं था जब कवियों की दृष्टि समाज के आवरण को हटाकर उसके अन्तस्तल तक नहीं पहुँचती थी, जब उनका हृदय जन-साधारण के दुःख सुख में, ह्रास और उन्नति में, सम्पत्ति और विपत्ति में अपनी सहानुभूति प्रकट नहीं करता था। संस्कृत के कवियों पर भी यह लाञ्छन कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता, प्राकृत भाषा के कवियों की बात ही न्यारी है। संस्कृत के कवि माननीय राजाओं की छत्रछाया में अपना काव्य लिखते थे अवश्य, परन्तु उनकी दृष्टि संकुचित होकर मानव जीवन के सौख्य तथा वैभव की ओर ही आकृष्ट नहीं होती थी। उनका हृदय विशाल था, दृष्टि व्यापक थी, सहानुभूति पूर्ण थी। इसलिये वे जनता के सुख-दुःख, राग-द्वेष के परिवर्तन में नितान्त कृतकार्य थे और अपने काव्य में उनकी झलक दिखाने में जागरूक थे। प्राकृत भाषा का कवि जो जनता के साथ इतना घुल मिलकर रहता है जन-वाणी का इतना आदर करता है कि उसका काव्य विशेष रूप से प्रगतिशील होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसका स्पष्ट प्रमाण है गाथा सप्तशती की कविता।

गाथासप्तशती

गाथा सप्तशती प्राकृत भाषा के गीति-साहित्य की एक अनमोल निधि है। शृंगार रस की सम्पत्ति, नूतन भावों की अभिव्यक्ति, गूढ़ अर्थ

की अभिव्यञ्जना, तथा सुकुमार शब्दों के विन्यास के कारण इस काव्यरत्न की उज्ज्वल गाथायें सैकड़ों वर्षों से आलोचकों के अन्तरंग को आकृष्ट किये हुए हैं। ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, रसगंगाधर आदि मान्य आकर ग्रन्थों में रस तथा ध्वनि के भव्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किये जाने का गौरव इन्हें प्राप्त है। यह उस युग की रचना है जब कवियों ने संस्कृत भाषा के व्यामोह को छोड़कर लोकभाषा के सौन्दर्य पर रीझ उसी में अपने भावों को प्रकट करने का श्लाघनीय उद्योग किया। कवियों में लोक जीवन की सच्ची अनुभूति थी। उन्होंने जन-जीवन को अपनी पैनी आँखों से देखा था; अपने सहानुभूतिपूर्ण हृदय से साधारण जनता के सुख-दुःख को, राग-द्वेष को, उन्नति-अवनति को परखा था। इन गाथाओं के प्राकृत कवि सच्चे अर्थ में कवि थे—कोमल कल्पना के अधिकारी थे, उच्च उत्प्रेक्षा के उन्नायक थे। और इसीलिए इन गाथाओं की भूयसी प्रशंसा है संस्कृत के आलोचना जगत् में। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में इसके सुभाषितों की रत्नों से तुलना की है—

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः॥

महाराज हाल

गाथा प्राकृतभाषा का लोकप्रिय छन्द है और सात सौ प्राकृत गाथाओं के एकत्र-संकलन के कारण यह ग्रन्थ 'गाहा सत्तसई' या गाथा सप्तशती के नाम से विख्यात है। इसके संग्रहकर्ता कवियों के आश्रयदाता तथा स्वयं काव्यकला के उपासक एक महनीय नरेश थे जिनका नाम 'हाल' या 'शालिवाहान' था। कथासरित् सागर, कामसूत्र तथा गाथासप्तशती की एक विशिष्ट हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका से पता चलता है कि हाल कुन्तल जनपद के अधीश्वर तथा प्रतिष्ठानपुर (पैठण) के अधीश थे। यह राज्य दक्षिण भारत में विद्यमान था। इनकी प्रधान रानी का नाम मलयवती था जो संस्कृत भाषा की प्रवीण

विदुषी थी और जिसके विशेष अनुरोध से ही राजा ने संस्कृत भाषा का अनुशीलन किया था। राजा को सुगमता से संस्कृत सिखाने के लिए इनके सभा के अन्यतम विद्वान् वैयाकरण शर्ववर्मा ने कातन्त्र व्याकरण नामक नवीन व्याकरण की रचना की। इन्हीं के सभा-कवि गुणाढ्य कवि ने पैशाची भाषा में 'बृहत् कथा' नामक विशाल ग्रन्थरत्न का निर्माण किया जो अपने मूल रूप में विद्यमान न रहने पर भी कथा सरित् सागर, बृहत्कथा मञ्जरी जैसे संस्कृत अनुवादों में उपलब्ध होकर कथा-साहित्य का एक विराट् विश्वकोश है। इनके प्रधान कवि का नाम था 'श्री पालित' जिनका अभिनन्द कवि ने अपने रामचरित महाचरित महाकाव्य में उल्लेख किया है—

हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्री पालितो लालितः।

आज कवि-वृषभ श्री पालित की कमनीय रचनायें कालकवलित हैं। गाथासप्तशती में उद्धृत दो चार गाथायें ही इनकी अवशिष्ट रचनायें हैं। ग्रन्थ के संकलन काल के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। कतिपय विद्वान् इसे पञ्चम शतक की रचना मानते हैं, परन्तु बहुमत से इसका समय प्रथम शतक ही माना जाता है। हाल कवियों के आश्रयदाता ही न थे, प्रत्युत स्वयं काव्यकला के उपासक तथा शारदा-मन्दिर के पुजारी थे। उनकी रचनायें भी इस ग्रन्थ में संकलित उपलब्ध होती हैं। शकारि विक्रमादित्य के समान महाराज हाल की सभा भी कवि-रत्नों से विभूषित थी जिनमें से अनेकों की रचनायें यहाँ संकलित की गई हैं। ऐसे महनीय कवियों के नाम ये हैं—वोडिस, चुल्लोह, मकरन्द-सेन, अमरराज, कुमारिल, श्रीराज, भीमस्वामी, मलयशेखर, माऊराज, वाहव, विषमराज, मल्लसेन, उद्धव, प्रवरसेन, मणिराज, दुर्गस्वामी, भोजक, वसन्तसेन आदि आदि। इन कवियों के न तो जीवनवृत्त का हमें परिचय है और न इनके समय का। पता नहीं कि इनमें से कितने हाल के समकालीन थे और कितने उनसे पूर्ववर्ती, परन्तु इनकी काव्य-कला की प्रसिद्धि के विषय में किसी भी आलोचक को सन्देह नहीं हो सकता।

उस युग में प्राकृत का बोलबाला था। वही कविजनों की जिह्वा पर बैठकर लोकरञ्जन के लिए अपना कौशल दिखलाती थी। सहृदय आश्रयदाता का भव्य आश्रय पाकर वह चमक उठी थी। 'कविवत्सल' महाराज हाल प्राकृत कवियों के कल्पतरु थे जिनका आश्रय पाकर सैकड़ों कवियों ने प्राकृत गाथाओं के भीतर अपना कोमल हृदय भर दिया था। महाराज के कथनानुसार एक करोड़ सुन्दर सूक्तियों में से ये सात सौ सूक्तियाँ इस रत्नकोश में संगृहीत की गई हैं (गाथा १।३) हाल-युगीय साहित्य मन्दिर के शिखर पर एकही मन्त्र लिखा था— अमिअं पाउअकव्वं—अमृतं प्राकृतकाव्यम्। प्राकृत काव्य का ज्ञान ही सहृदयता की सच्ची परख थी उस युग में, तभी तो ऐसे काव्य के अनभिज्ञ व्यक्तियों को विदग्धगोष्ठी में काम की तत्त्वचिन्ता करते समय अपना मुँह छिपाना पड़ता था:—

> अमिअं पाउअ कव्वं पढिउं सोउं अ जे ण जाणंति।
> कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कह ण लज्जन्ति ॥ (१।२)

वैशिष्ट्य

गाथासप्तशती में न हमें दरबारी कविता का नमूना मिलता है, न दरबारी वस्तुओं का चित्रण। राजकीय वैभव, भोग विलास, नागरिक जीवन से सम्बद्ध जितनी बात हमें संस्कृत कविता में मिलती हैं, उन सब का एकदम अभाव है इस प्राकृत काव्य ग्रन्थ में। सामान्य लोक जीवन का चित्रण ही इसकी महती विशेषता है। इसका वातावरण एकदम घरेलू है। कहीं ग्रामतरुण की प्रेमलीला की झाँकी है, तो कहीं गाँव की अशिक्षित सरल-स्वभावा सुन्दरी के रागात्मक भावों का सुचारु चित्रण है। एक ग्रामीण सुन्दरी परदेश जाने के लिए मचलने वाले प्रियतम से बड़ी सरलता से पूछ रही है कि अभी तो कंघी तथा तेल का सेवन करने पर भी मेरी वेणी के टेढ़े बाल सूधे नहीं हुए हैं और अभी तुम परदेश का प्रस्ताव चला रहे हो: यह कहाँ का न्याय है ?

अव्वो दुक्कर आरअ पुणो वि तन्ति करेसि गमणस्स ।
अज्ज वि न होन्ति सरला वेणीअ तरंगिणो चिउरा ॥
(३।७३)

उस नायिका की खीझ पर आलोचक मुग्ध है जो बारम्बार फूँक देने पर भी आग को जगाने में समर्थ नहीं होती तथा उस विदग्ध सखी की चतुरता पर वह उल्लसित है जो अग्नि को उसके मुखमारुत के पान करने का अभिलाषी बतलाकर कामुक के रूप में चित्रित करती हैः—

रन्धणकम्म-णिउणिए मा जूरसु रत्तपाडल सुअन्धम् ।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलई ॥
(१ । १४)

उस सुन्दरी का स्वभाव कितना भोला तथा सूधा है जो अपने पति के परदेश जाने के दिनों को दिवाल पर लकीर खींच कर गिन रही है। पति को घर छोड़े अभी दोपहर भी नहीं हुआ है कि वह दीवाल के ऊपर 'आज वह गया', 'आज वह गया' इस प्रकार रेखा खींचकर पूरे दीवार को रेखाओं से चित्रित कर दिया है। सचमुच यह सूधेपन की पराकाष्ठा हैः—

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए ।
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहि चिचलिओ ॥
(३ । ८)

ध्यान देने की बात है कि स्त्रियाँ ग्रामीण अवश्य हैं, परन्तु उनका भाव ग्रामीण नहीं है। उनमें स्वाभाविकता है, सरलता है परन्तु ग्राम्यता नहीं। हृदय में उदारता है, संकीर्णता नहीं। प्रेम के पहचानने की विदग्धता है; पति के हृदय को परखने की नागर-सुलभ क्षमता है। वे भोली हैं, परन्तु भोंडी नहीं।

कोई हालिकवधू गोदावरी के किनारे अपने प्रियतम को खड़ा हुआ देखकर प्रेम परीक्षा के लिए विषम मार्ग से नदी में उतरने लगती है (२।७) तो दूसरी सुन्दरी ग्रामदाह में सर्वस्व नष्ट हो जाने पर भी

हृदय में ठंढक का अनुभव करती है क्योंकि उसके प्रियतम ने उसके हाथ से घड़ा ले लिया—

> सव्वस्सम्मि वि दड्ढे तहविहु हिअअस्स णिव्वुदि च्चेअ ।
> जं तेण गामडाहे हत्थाहत्थिं कुडो गहिओ ॥
>
> (३ । २६)

गाथासप्तशती में वर्णन चित्रात्मक हैं अर्थात् उन्हें देखकर रमणीय चित्र नेत्रों के सामने झूलने लगते हैं। उस प्रपापालिका (प्याऊ पर पानी पिलाने वाली) की विदग्धता का कितना रमणीय चित्र हमारे मानस-पटल पर अंकित हो जाता है जो जल की धारा को पतली करती जाती है जब ऊपर आँख उठाकर राही पानी पीता जा रहा है तथा उसे डट कर निरखने के लिए अपने हाथ की उँगलियों को अलग करता जाता है:—

> उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलंगुली चिरं पहिओ ।
> पावालिआ वि तह तह धारं तणुइं पि तणुएइ ॥
>
> (२ । ६१)

स्वाभाविकता इन प्राकृत गाथाओं में कूट कूट कर भरी है। यहाँ हृदयपक्ष का प्राधान्य है। इसीलिए अलंकार ग्रंथों में रसों के उदाहरण देने के समय इनका विन्यास किया गया है। कृत्रिमता का यहाँ लेश भी नहीं है। स्वाभाविकता का अखण्ड साम्राज्य सहृदयों के सामने लहराता रहता है। मानस भावों के उत्थान पतन का चित्र इतना रुचिर तथा सुन्दर है कि इस काव्य को हम मनोवैज्ञानिक अनुशीलन का भव्य उदाहरण मान सकते हैं। नपे-तुले थोड़े स्थलों में अधिक से अधिक भावों का निवेश पद पद पर हमें आह्लादित कर रहा है। भावाभिव्यञ्जक गाथाओं की उपमा 'मिनिएचर पेंटिंग' से दी जा सकती है। गाथाओं का भौगोलिक प्रदेश गोदावरी तथा विन्ध्य का प्रदेश है क्योंकि उनमें अनेकत्र गोदावरी (२।८९, २।९३) तथा विन्ध्यपर्वत (२ । १७) तथा वहाँ के निवासी पुलिन्दों का २।१६) विशेष वर्णन उपलब्ध होता है।

गाथा सप्तशती में कलापक्ष के प्रदर्शन की ओर भी कवियों की दृष्टि रसती है। कहीं पर प्राकृत भाषा की कृपा से एक शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग उपलब्ध होता है, तो कहीं पर उत्प्रेक्षा की ऊँची उड़ान दीख पड़ती है। परन्तु प्रकृत रस का विरोध कहीं नहीं होता। कृष्ण को लक्ष्य कर लिखी गई एक गाथा में 'गोरश्र' शब्द का प्रयोग 'गोरज', 'गौरव' तथा 'गौरता' इन तीन अर्थों में किया गया है (१।८९)। उत्प्रेक्षा की वहार इस गाथा में बहुत ही सुन्दर है:—

> थोअं पि ण णीसरइ मज्झण्णे उअ सरीरतलल्लुक्का।
> आअव भएण छाही वि पहिअ ता किं ण वीसमसि॥

भाव है कि हे पथिक! दोपहर के इस चिलचिलाती धूप में छाया भी शरीर के नीचे लुक छिपकर रहती है। धूप के डर से वह थोड़ा भी बाहर नहीं निकलती। तो तुम विश्राम क्यों नहीं करते? इस गाथा को पढ़ते ही श्रोताओं को विहारी के 'जेठ दुपहरी धूप में छाँहो चाहत छाँह' की याद आये विना न रहेगी। इस गाथा में हेतूत्प्रेक्षा का विन्यास बड़ा ही रुचिर हुआ है।

सतसई

साहित्य जगत् में 'सतसई' की परम्परा आरम्भ करने का श्रेय इसी 'गाथा सप्तशती' को है। इसी से उत्साहित होकर गोवर्धनाचार्य ने ११ वें शतक में बंगाल के अन्तिम हिन्दू नरेश लक्ष्मणसेन के दरबार में रहकर 'आर्या सप्तशती' की रचना की और इस प्रभाव को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—

> वाणी प्राकृत-समुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता।
> निम्नानुरूपनीरा कलिन्द-कन्येव गगनतलम्॥
>
> (आर्या ५२)

महाकवि विहारी ने 'गाथासप्तशती' तथा 'आर्यासप्तशती' के आदर्श पर ही अपनी सतसई की रचना की। भावों की समानता तथा

सुषमा के देखने पर इस विषय में सन्देह नहीं रह जाता। बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा—

बाम बाहु फरकत मिलै जो हरि जीवन मूरि।
तो तोहि सौं भेटिहौं; राखि दाहिनी दूरि॥

गाथासप्तशती की इस गाथा (२ । ३७) के भावों से आश्चर्यजनक साम्य रखता है—

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पियोज्ज ता सुइरम्।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सम्॥

नायक के आगमन पर नेत्र का व्यापार सर्वप्रथम होता है। अतएव वामनेत्र के स्फुरण पर प्रिय के आने पर उस नेत्र का आदर करना बाहु के आदर की अपेक्षा अधिक रुचिर तथा सयुक्तिक प्रतीत होता है।



खण्ड २

हिन्दी काव्य

तुलसीदास और जयदेव

अँगरेजी में कहावत है कि Poets are born, not made. कवि पैदा होता है, बनाया नहीं जाता। समग्र प्रतिभाशाली कवियों का इतिहास इस सिद्धांत की यथेष्ट पुष्टि करता है। कविता प्रतिभा की सुदृढ़ भित्ति पर ही अच्छी तरह खड़ी हो सकती है। जिस कवि में इस प्रतिभा का—नवोन्मेषिणी प्रज्ञा का—अभाव है, जो कवि अपनी स्वाभाविक कल्पना के पंखों पर उड़कर स्वर्गीय भाव-सुधा को मर्त्यलोक में लाना नहीं जानता, भला उसकी कविता-कामिनी के हाव-भाव सहृदयों के रसीले हृदय को कभी खींच सकते हैं? उसके मधुर शब्दविन्यास कभी कर्णपुटों में सुधा की वर्षा कर सकते हैं? उसके मनोरम भाव क्या कभी रसिकजनों के चित्त में चुभ सकते हैं? क्या उसके ललित अलंकारों की छटा कभी इन प्यासे नयनों को तृप्त कर सकती है? कदापि नहीं। रस से सरसाती, चित्त में घाव करनेवाली कविता के लिये प्रतिभा की परमावश्यकता है। संस्कृत साहित्य के आलंकारिक-शिरोमणि मम्मटाचार्य ने भी कविता के त्रिविध साधन बतलाते समय 'प्रतिभा' को ही सबसे पहला स्थान दिया है। इस प्रतिभा का विकास कवि के हृदय में जन्म से ही होता है—पूर्वकालीन संस्कार के बल से इस प्रतिभा की निर्मल धारा कवि के हृदय में प्रबल वेग से बहने लगती है। वाल्मीकि की जिह्वा से अकस्मात् ही कविता का प्रवाह निकलने लगा था। अंधे होमर को किसी विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं मिली थी। उसकी क्रमबद्ध शिक्षा के विषय में भी ग्रीक इतिहास मौनव्रत अवलंबन किए हुए है। वह अपनी प्रतिभा के अनुपम विमान पर

चढ़कर ही सैंकड़ों वर्ष पूर्व घटित होनेवाले ट्रोजन संग्राम की छोटी से छोटी घटनाओं को देखता था और अपने अमर महाकाव्य 'ईलियड' में वर्णन करता था। महाकवि शेक्सपियर की वह अनुपम नाट्य-कला तथा अनमोल कविता उसकी प्रतिभा के बल से ही प्रसूत हुई थी। अतएव यदि आलोचकगण सच्चे कवि को खरादा गया न समझकर जन्म से ही चमकनेवाला, अँधेरे को उजेला बनानेवाला हीरा समझें तो वह सिद्धान्त सत्यता से बहुत दूर न होगा।

काव्य सामग्री

उक्त सिद्धांत की सत्यता को मानते हुए भी हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कविगत प्रतिभा के अंकुर को उपजाने के लिये, उसे हरा भरा बनाकर पल्लवित करने के लिये अनेक साधन-रूपी खाद की आवश्यकता होती है। इन सामग्री के बिना हृदय में छिपी हुई शक्ति का—सर्वतोगामिनी प्रचंड प्रतिभा का—सम्यक् विकास वास्तव में जैसा होना चाहिए, वैसा नहीं होता। यह सामग्री उसके उद्बोधन में, उसे जनता के नेत्रों के सामने प्रगट होने में अनेक सहायता प्रदान करती है। इस सामग्री को हम 'निपुणता' तथा 'अभ्यास' के नाम से पुकारना यथोचित समझते हैं। संसार के विभिन्न कार्यों का अवलोकन कर उसका समुचित अनुभव प्राप्त करना तथा प्रकृति देवी के मनोरम मंदिर को देख उसके वास्तविक रहस्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना 'निपुणता' के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। देश और काल का असीम प्रभाव कवि के हृदय पर बिना हुए रह ही नहीं सकता। सांसारिक अनुभव से कवि की प्रतिभा और भी प्रौढ़ बनती है। जिस काल में कवि का जन्म हुआ है, उस समय की विशिष्ट विचार-लहरी का छींटा उसकी कविता पर पड़े बिना नहीं रह सकता। उस समय की भावनाओं को तरंग उसके काव्य में जरूर दिखाई देगी। उसी भाँति देश का प्रभाव भी कविता के मनोहर वेश में बहुत कुछ वैचित्र्य पैदा कर सकता है।

इन साधनों के समान ही प्राचीन कविता का अध्ययन तथा मनन भी कवि को सुचारु-रूप में गढ़नेवाले पदार्थों में उन्नत स्थान रखता है। नवीन कविता करने का अभ्यास तथा प्राचीन काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन काव्य-साधनों में एक विशिष्ट साधन है। प्रत्येक देश के कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के भाव अपनाने में तनिक भी नहीं हिचकते; क्योंकि वे तो उनके अध्ययन के प्रधान अंग हैं। इन साधनों की सहायता से कवि की ईश्वरदत्त प्रतिभा का उद्‌बोधन हो सकता है तथा कतिपय अंशों में नवीन प्रतिभा का जन्म भी हो सकता है। अनेक ऐसे कविवर हो गए हैं जिनमें स्वाभाविक प्रतिभा की न्यूनता की पूर्ति बहिर्जगत् के अनुभव से यथेष्ट की गई है। ऐसे बहुत से कवि मिलेंगे जिन्होंने इन्हीं साधनों के सहारे अत्युत्तम कविता की है। अतएव वास्तविक कवि वही है जिसमें प्रतिभा के बीज जन्म से ही निहित हों। तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त साधनों के द्वारा कवि बनाया भी जा सकता है—उसे देश तथा कालरूपी साँचे में ढाला भी जा सकता है।

भावसादृश्य

यही कारण है कि कवियों में भाव-सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं तो दो भिन्न-देशीय कवियों के एक ही विषय पर मजमून बलात्कार लड़ जाते हैं। कवि-प्रतिभा की गति प्रायः संसार में एक ही समान रहती है। इस प्रतिभा के बल पर जब एक ही विषय पर कविता लिखी जा रही हो, तब विचारों का लड़ जाना कोई असम्भव व्यापार नहीं। परन्तु कहीं-कहीं कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के अनूठे भावों को—अनुपम सूझ को—जान बूझकर अपनाता है। जो भाव अनोखे होते हैं, जिनमें अलौकिकता की अधिक मात्रा रहती है, वे अध्ययनशाली कवि के स्वच्छ हृदय पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकते। ऐसे भाव उसके हृदय पर अपनी छाप बैठा देते हैं; वे कवि की निज की कमाई सम्पत्ति हो जाते हैं। अतएव जहाँ समुचित

अवसर मिलता है, वहाँ कवि उन भावों को प्रकट किए बिना आगे नहीं बढ़ सकता। उन भावों के परकीय होने का विचार उसके हृदय से सदा के लिये पृथक् हो जाता है। कविता लिखते समय वे भाव स्वतः ही, बिना किसी ज्ञात परिश्रम के, उसके नेत्रों के सामने फिरने लगते हैं। कवि उन्हीं स्वर्गीय सूक्ष्म भावों का सुंदर चित्र अपने शब्दों से सर्वसाधारण के सामने खींचता है। यह भावों का अपनाना 'अर्थापहरण' नामक दोष से सर्वथा मुक्त है। यदि कवि किसी दूसरे कवि के भाव को लेकर उसकी रमणीयता की रक्षा न कर सके, उसके अनूठेपन को बनाए न रखे, तो वह वास्तव में 'कविर्वान्तं समश्नुते' का लक्ष्य बनाया जा सकता है। परन्तु यदि वह उन भाव चित्रों के गाढ़े रंग में कुछ भी कमी नहीं होने देता, यदि कवि के शब्दों में उतरकर वे भाव अपनी सरसता तथा अलौकिकता को नहीं खो बैठते, तो वह कवि वास्तव में सच्चे कवि का उच्च पद पाने का प्रधान अधिकारी है।

वही कवि सच्चा कवि है जो प्राचीन भावों पर भी अपनी अनुपम छाप डाल दे, अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा के बल से उनमें नई रंगत पैदा कर दे और उनमें कुछ दूसरा ही अनोखापन ला दे। आलोचकगण इसका ही 'मौलिकता' के नाम से सादर स्वागत करते हैं। कौन ऐसा भाव है जिसे प्राचीन कवियों ने नहीं अपनाया है? तथापि उन्हीं भावों को अपने साँचे में ढाल, अपनी प्रतिभा की विमल छाप लगा, उनमें नई चमक पैदा करना ही तो मौलिकता है। संस्कृत साहित्य के प्रधान आलोचक आनन्दवर्धनाचार्य ने कवि की उपमा सरस वसन्त से दी है। वही रूखे सूखे पेड़ हैं, वही पत्रों से रहित शाखाएँ हैं, वही फलों से विहीन टहनियाँ हैं, सब कुछ पुराना है; परन्तु वसन्त के आगमन से प्रकृति में नवीन परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। वृक्षों में नूतन, रक्तवर्ण के पल्लव हमारे प्यासे नेत्रों को तृप्त करते हैं; शाखाएँ हरी भरी सी दिखाई देती हैं; मंजरी का सौरभ अलिगण के रसिक मन को अपनी ओर बलात् खींच लेता है। यह नूतन चमत्कार किसने पैदा किया? सरस वसन्त ने। उसी भाँति कवि भी पुराने भावों में नवीनता

उपस्थित कर उन्हें चोटीले बना देता है। कहीं शब्द व देता है तो कहीं नवीन अर्थ का पुट दे देता है। बस भावचित्र में अनोखापन आ जाता है। अब भाव दूसरे से उधार ली हुई सम्पत्ति नहीं रह जाता, बल्कि अपना कमाया हुआ निज का धन हो जाता है।

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥

कविकुल-शेखर राजशेखर ने आनंदवर्धनाचार्य की ही उदार सम्मति को अपने शब्दों में दुहराया है:—

शब्दर्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम् ।
उल्लिखेत् किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः ॥

समग्र संस्कृत साहित्य हिन्दी कवियों के लिये पैतृक सम्पत्ति है। उन्हें उसका पूर्ण रूप से अपनी कविता में उपयोग करने का अधिकार है। यही कारण है कि अनेक हिंदी कवियों पर प्राचीन संस्कृत कवियों की छाया स्पष्टतः झलकती है परंतु हिंदी के महाकवियों ने भावों को लेकर भी उन्हें अत्यंत रमणीय बना डाला है, जिससे वे भाव मौलिक से जान पड़ते हैं। कविता-कामिनी-कांत तुलसीदास ने भी अनेक प्राचीन संस्कृत कवियों के भावों को अपनाकर अपने 'रामचरित मानस' को सुशोभित किया है। रामायण की भूमिका में महात्मा तुलसीदास ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि इस ग्रंथ में वर्णित सिद्धान्त अनेक आगम निगम पुराण ग्रंथों से लिए गए हैं।

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्-
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वांतः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥

तुलसीदास ने अनेक विमल दार्शनिक सिद्धांत गीतादि धर्मग्रंथों से, राम का अधिकांश आख्यान अध्यात्म रामायण से तथा

अनेक कथोपकथन हनुमन्नाटक से लिए हैं, यह बात तो सर्वप्रसिद्ध ही है; परंतु रामायणीय कथा-विषयक एक और अनुपम ग्रन्थ है जिसकी छाया रामायण के अधिकांश अनूठे भावों पर पड़ी है। यह ग्रंथ जयदेव प्रणीत 'प्रसन्नराघव' नामक संस्कृत नाटक है। अभी तक इस ग्रंथ तथा रामचरित मानस के बिंब-प्रतिबिंब भावों का वर्णन हिंदी संसार के सामने विस्तृत रूप से कभी नहीं किया गया था। यह पहला ही अवसर है (जहाँ तक मुझे मालूम है) कि इन दो कवियों के बिंब-प्रतिबिंब भावों का वर्णन रामायण-प्रेमियों के सामने उपस्थित किया जाता है।

प्रसन्नराघव का रचना-काल

'प्रसन्नराघव' नाटक में, जैसा कि इसका सार्थक नाम प्रकट कर रहा है, रामचन्द्र के जीवन-वृत्तांत का अभिनयात्मक वर्णन है। नाटक में जितने आवश्यक गुण होने चाहिएँ, उनमें से अनेक गुणों की न्यूनता यद्यपि इस नाटक के पढ़नेवालों को खटकेगी, तथापि कविता की दृष्टि से, प्रसन्न-कारिणी शक्तियों की दृष्टि से, यह नाटक अधिक मूल्य रखता है। इस नाटक के कर्ता का नाम 'जयदेव' है। यह कविवर अमर गीति-काव्य गीतगोविन्द के कर्ता जयदेव से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। गीतगोविन्द के रचयिता के पिता का नाम भोजदेव तथा पूज्य माता का रमादेवी था; परन्तु प्रसन्नराघव के कर्ता के पितृदेव का नाम महादेव तथा माता का सुमित्रादेवी था। इनका गोत्र कौंडिन्य था। प्रसन्नराघव की रचना रामचरितमानस से करीब डेढ़ सौ वर्ष पहले हो चुकी थी। साहित्यदर्पण के कर्ता विश्वनाथ कविराज ने ध्वनि-काव्य के उदाहरण में 'कदली कदली करभः करभः' वाला प्रसन्नराघव का पद्य उद्धृत किया है जिससे निश्चित है कि जयदेव अवश्य विश्वनाथ (चौदहवीं सदी का उत्तरार्द्ध) से प्राचीन थे। चन्द्रालोक में जयदेव ने मम्मटाचार्य के काव्य-लक्षण की हँसी उड़ाई है जिससे इनका समय मम्मटाचार्य (भोज के समकालीन, १२ वीं

सदी) से पीछे तथा विश्वनाथ के पहले ठहरता है। अर्थात् यदि हम इन्हें तेरहवीं सदी का कवि कहें तो अनुचित न होगा। अतएव जयदेव ने इन समान भावों को रामचरित मानस से नहीं लिया; क्योंकि वे तो तुलसीदास से सैकड़ों वर्ष पहले हो चुके थे। भाव-समानता से यही सिद्धांत निकलता है कि तुलसीदास ने ही जयदेव के अनूठे भावों को अपनाकर अपने 'मानस' को सुंदर बनाया है।

बिम्ब-प्रति-बिम्ब भाव

जयदेव ने नाटक की 'बालकाण्ड' वाली प्रस्तावना में रामचन्द्र के आदर्श चरित्र की भूरि भूरि प्रशंसा की है। वास्तव में मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का चरित्र समग्र विश्व के लिये अनुकरण की सामग्री है। आदर्श पितृभक्ति, पुत्र-स्नेह, भ्रातृ-प्रेम तथा पत्नी प्रेम का अनुपम सम्मेलन जैसा यहाँ दिखाई देता है, वैसा संसार के किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन में नहीं मिलता। अतएव जयदेव की राम विषयक प्रशंसा वास्तव में सत्य है। वे कहते हैं कि ज्योंही कोई मनुष्य अपने अन्तर्गत भावों को प्रकट करना चाहता है, त्योंही भगवती सरस्वती उसकी जिह्वा पर आ बैठती हैं—अपने पतिदेव की क्रीड़ा-भूमि को भी छोड़कर करोड़ों कोसों से दौड़ती हुई आकर उसकी जीभ पर विराजमान हो जाती हैं। इस सुदूर मार्ग को पार करने का परिश्रम किसी तरह भी कम नहीं होता। इसके लिये केवल एक ही सुगम उपाय है। और वह है रामचंद्र के गुणगरिमापूर्ण चरित्र का कीर्तन। रामचंद्र के गुणानुवाद-रूपी सुधामयी वापी में यदि वह गोता न मारें, तो उनका परिश्रम किसी भाँति दूर नहीं हो सकता। धन्य है राम के गुणों का कीर्तन जो भारती को भी सुख देने में समर्थ है।

झटिति जगतीमागच्छन्त्या पितामहविष्टरान्
महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत।

अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते
रघुपतिगुणग्रामश्लाघा सुधामय-दीर्घिकाम् ।।

(प्रसन्नराघव पृष्ठ ५)

तुलसीदास जी ने भी अपने आराध्य देव राम के गाथा-कीर्तन के विषय में अनेक प्रशंसाएँ बालकाण्ड में की हैं। वे भी यही कहते हैं—

भगति हेतु बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई ।।
राम-चरित-सर बिनु अन्हवाये। सो स्रमु जाइ न कोटि उपाये ।।

रसिक पाठक इन दोनों उक्तियों को साथ साथ पढ़ें और देखें कि इनमें गहरा भाव-साम्य है या नहीं। श्लोक में रघुपति-चरित की श्लाघा का रूपक सुधामय दीर्घिका से दिया गया है, महात्मा जी ने उपमान तथा उपमेय की एकलिंगता के साहित्यिक नियम की रक्षा के अभिप्राय से, भाव को अपना कर भी, स्त्रीलिंग का सहारा छोड़, राम-चरित का रूपक 'सर' से बाँधा है। भाव तो एक समान है ही, परंतु इस प्रकार अलंकार का निर्वाह भी ठीक ढंग पर किया गया है।

वाटिका भ्रमण

रामचरितमानस का वाटिका-भ्रमण भी हिंदी साहित्य में कविता की दृष्टि से अनूठी चीज है। साधारण शब्दों में मर्मस्पर्शी भावों का वर्णन करना तुलसीदास का ही श्लाघनीय व्यापार है। अधिकांश रामायणी इस वाटिका भ्रमण को तुलसीदास के कल्पना-मय मस्तिष्क की उपज मानते हैं। परंतु यह बात ठीक नहीं है। प्रसन्नराघव में सीता का अपनी प्यारी सहेलियों के साथ गिरिजा का पूजन तथा उपवन में वसंत की बहार खूब चुने हुए शब्दों में वर्णित है। जिस मार्मिक ढंग से तुलसीदास ने इसका शाब्दिक चित्र खींचा है, वह तो उनका ही खास ढंग है; परंतु लेखक की सम्मति है कि वाटिका-वर्णन का विचार प्रसन्नराघव से ही तुलसीदास को मिला। रामचंद्र सीता के नूपुर की मधुर ध्वनि सुनकर लक्ष्मण को उधर देखने से रोकते हैं; क्योंकि परस्त्री की शंका से ही रघुवंशियों का मन संकुचित हो जाता है।

"परस्त्रीति शंकापि संकोचाय रघूणाम्"

इसी भाव पर तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा का छींटा देकर यों कहा है :—

रघुवंसिन्हि कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु धरैं न काऊ।
मोहि अतिसय प्रतीत मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी।

नाटक में धनुष तोड़ने के लिये रावण और बाण में अनेक वाक्-प्रबंध दिखलाया गया है। अंत में बाणासुर शिवधनुप को उठाने लगता है। अत्यंत परिश्रम करता है; परंतु वह जड़ पिनाक टस से मस नहीं होता। इस विषय पर जयदेव एक सुन्दर उदाहरण देते हैं कि सती स्त्रियों का मन कामी-जनों के बारंबार प्रार्थना करने पर भी जरा भी अपने प्राकृतिक स्थान से नहीं टलता। यही दशा उस धनुष की थी।

बाणस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमान
नेदं धनुश्चलति किञ्चिदपीन्दुमौलेः।
कामातुरस्य वचसामिव संविधानै-
रभ्यर्थितं प्रकृतिचारु मनः सतीनाम्।

(पृ० २७)

तुलसीदास जी ने भी इस प्रसंग पर इसी अनुपम उपमा की सहायता ली है।

भूप सहस दस एकहिं बारा। लगे उठावन टरै न टारा।
डिगै न सम्भु-सरासन कैसे। कामीबचन सती-मन जैसे।

कहना व्यर्थ होगा कि यह उपमा जयदेव के ही नाटक से ली गई है।

परशुराम-प्रसंग

रामचरित मानस का राम-परशुराम संवाद सजीवता में अपना सानी नहीं रखता। लक्ष्मणजी की व्यङ्ग्योक्ति वास्तव में मर्मस्पर्शिणी

है। परशुराम को जैसी फबती लक्ष्मण ने सुनाई है, वैसी रामायण में और कहीं सुनने को नहीं मिलती। यह सम्वाद तुलसीदास के हास्यमय हृदय का पता देता है। यह महात्मा जी की निज की कल्पना से प्रसूत माना जाना चाहिए; तथापि इसके अधिकांश भाव प्रसन्नराघव से लिए गए हैं। हाँ, 'कुम्हण-वतिया' की उपमा आदि अनेक चमत्कारिणी उक्तियाँ खास तुलसीदास की ही हैं; तथापि कतिपय भावों पर जयदेव की छाया बहुत साफ दीख पड़ती है।

रामचंद्र परशुराम का बड़प्पन दिखाते हुए आपस में समर-व्यापार को निंद्य ठहराते हैं। वे कहते हैं कि हे भगवन्, आप ठहरे ब्राह्मण और मै ठहरा क्षत्रिय; मेरा बल अत्यंत हीन है; परंतु आप उत्कृष्टता के शिखर पर चढ़े हुए हैं; क्योंकि मेरा बल तो केवल धनुप है जिस में केवल एक ही गुण (प्रत्यञ्चा) है, परंतु आप का अस्त्र—यज्ञोपवीत-नव गुणों (सूतों) से सुशोभित है। युद्ध तो समबल के साथ करना समुचित होता है; परंतु मुझमें और आपमें तो आकाश पाताल का अंतर है; भला कहिए तो सही, मैं कभी आपसे लड़ने के योग्य हूँ!

> भो ब्रह्मन्! भवता समं न घटते संग्रामवार्तापि नः
> सर्वे हीनबलाः वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि।
> यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजा—
> मस्माकं, भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्।

(पृ० ८२)

अब जरा देखिए, तुलसी के इष्ट राम भी इन्हीं शब्दों में संग्राम-वार्ता को बुरा ठहराते हैं :—

> हमहिं तुमहिं सरवर कस नाथा। कहहु त कहाँ चरण कँह माथा॥
> देव एकगुन धनुष हमारें। नवगुन परम पुनीत तुम्हारे॥
> सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु विप्र अपराध हमारे॥

देखिए, पुराने मजमून में कैसी जान डाल दी गई है। 'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा' वास्तव में इस उद्धरण की जान है। यह

तुलसी की खास कल्पना है; मूल में इस विषमालंकार की छटा देखने को नहीं मिलती। हाँ इतना अवश्य कहेंगे कि 'नवगुन परम पुनीत तुम्हारे' में प्रसाद की उतनी मात्रा नहीं जितनी 'नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्' में है।

राम अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहते हैं। उनकी राय है कि पुराना धनुष तो छूते ही टूट गया; इसमें हमारा दोष ही क्या?

मया स्पृष्टं न वा स्पृष्टं कार्मुकं पुरवैरिणः।
भगवन्नात्मनैवेदमभ्यजत करोमि किम्॥ (पृ० ८१)

रामचरित मानस में भी यही बात कही गई है:—

छुवतहिं टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥

पिनाक को पुराना बतलाकर तुलसीदास ने पद्य के विषय को अपना बना डाला है।

सुंदर काण्ड

सुंदर काण्ड में जितनी समता दृष्टिगोचर होती है, उतनी और कहीं नहीं दिखाई देती। पद पद पर तुलसीदास ने जयदेव के भावों को अपनाया है। परंतु ये भाव ऐसे समुचित अवसर पर और सुचारु रूप से बैठाए गए हैं कि इन में परकीयता की गंध भी नहीं आती।

रावण के भय दिखाने पर सीता कह रही है कि हे रावण, ज्यादा बक झक मत कर। केवल दो ही चीजें ऐसी हैं जो मेरे कण्ठ को छू सकती हैं। पहली चीज तो कमल के समान कांतिवाला रघुनाथ का भुज, और दूसरी तेरी निर्दय तलवार! क्या सुंदर भाव है!

विरम विरम रक्षः! किं मुधा जल्पितेन
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः।
रघुपति-भुजदण्डादुत्पलं श्यामकान्तेः
दशमुख! भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात्॥

(पृ० १३७)

तुलसीदास की सीता भी ऐसी ही आदर्श प्रतिप्राणा है। वह साफ शब्दों में राम के विना मरना स्वीकार करती है:—

स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु-भुज करि-कर-सम दसकंधर ॥
सोइ भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा।

अब सीता रावण की भयंकर तलवार चंद्रहास से ही अपना सिर काटने की प्रार्थना कर रही है। वह कह रही है कि चंद्रहास! रामचंद्र की विरहाग्नि से उत्पन्न हुए मेरे संताप को मिटा दो। तुम में ताप मिटाने की शक्ति अच्छी मात्रा में विद्यमान है; क्योंकि तुम अपनी धार में शीतल जल ही धारण करते हो। इसी शीतल जल से मेरे हृदय में सुलगनेवाली आग बुझा दो, बस यही प्रार्थना है।

चंद्रहास हर मे परितापं
रामचंद्र - विरहानलजातम्।
त्वं हि कांतिजित - मौक्तिकचूर्ण
धारया वहसि शीतलमम्भः।

(पृ० १२७)

रामायण की सीता भी ऐसी ही प्रार्थना सुनाती है:—

चंद्रहास हरु मम परितापं। रघुपति विरह अनल संतापं॥
सीतल निसि तव असि वर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥

देखिए: पिछली चौपाई पद्य के पूर्वार्द्ध का अक्षरशः अनुवाद है।

नाटक में सीता त्रिजटा से अग्नि लाने के लिये कहती है; परन्तु त्रिजटा के अग्नि सुलभ न होने की बात कहने पर सीता अशोक से ही आग माँग रही है। वह कहती है—हे निर्दयी अशोक! मेरे लिये अग्नि की एक चिनगारी भी तो प्रकट करो। विरहियों के संताप के लिये तुम अपने नूतन पल्लवों के रूप में अग्नि की शिखावली धारण किए हो, जरा एक भी कणिका दो तो सही।

अलमकरुणं चेतः श्रीमन्नशोक वनस्पते!
दहनकणिकामेकां तावन्मम प्रकटीकुरु।

ननु विरहिणां सन्तापाय स्फुटीकुरुते भवान्
नवकिसलयश्रेणीव्याजात् कृशानुशिखावलीम् ।

(पृ० १२६)

रामायण में सीताजी की भी उक्ति इसी प्रकार है:—

सुनहि विनय मम विटप असोका । सत्य नाम करु हरु मम सोका ।
नूतन किसलय अनल समाना । देहि अगिनि जनि करहु निदाना ।

सीता की विषम दशा देख पेड़ पर छिपे हुए हनुमान ने मुद्रिका गिरा दी । सीता ने समझा कि मेरी प्रार्थना पूरी हुई, अशोक ने अग्नि की कणिका मेरे लिये गिरा दी है । वह कह रही है—

"हला ! पश्य पश्य निपतितं तावदस्य शिखराद‌ङ्गारखण्डकम्"

तुलसीदास जी ने भी यही बात लिखी है:—

करि करि हृदय विचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब ।
जनु असोक अङ्गार दीन्ह हरषि उठि कर गहेऊ ॥

परंतु वह तो थी राम की अँगूठी । झट हनुमान आगे बढ़ आए और सीता से अपने को राम का दूत बताया । सीता बहुत डरी; परंतु विश्वास होने पर नर और वानर के अयोग्य सम्मेलन की कथा पूछने लगी । जिस प्रकार नाटक की सीता "केन पुनर्नरवानराणामीदृशं सखित्वं निर्मितम् !" कह रही है, उसी भाँति रामायण की सीता भी 'नर वानरहि संग कहु कैसे' पूछती है ।

सम्मेलन की समस्या हल हो जाने पर सीता राम की दशा के विषय में प्रश्न करती है । तब हनुमान राम की विषम दशा का मार्मिक वर्णन करते हैं । वह कहते हैं कि हे सीता, तुम्हारे बिना राम को हिमांशु सूर्य की तरह तापकारी जान पड़ता है; नया मेघ दावानल सा प्रतीत होता है; नदियों के जल से संपृक्त वायु क्रुद्ध साँप के निःश्वास सा जँचता है; कुवलय वन कुंत के जंगल सा जान पड़ता है; तुम्हारे वियोग में राम के लिये यह संसार ही विपरीत हो गया; सुखदायक वस्तु से भी दुःख ही उत्पन्न हो रहा है:—

हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहनः
सरद्वीचीवातः कुपितफणिनिःश्वासपवनः।
नवा मल्ली भल्ली, कुवलयवनं कुंतगहनं
मम त्वद्विश्लेषात् सुमुखि ! विपरीतं जगदिदम् ॥

(पृ० १३२–३३)

तुलसी ने भी यही बात हनुमान के मुख से कहलवाई है। देखिए तो कितनी घनिष्ट समता है:—

राम-वियोग कहेउ तब सीता। मो कहुँ सकल भए विपरीता ॥
नव-तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससिभानू ॥
कुवलय बिपिन कुंतवन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा ॥
जेहि तरु रहे करत तेइ पीरा। उरग-स्वास सम त्रिविध समीरा ॥

हनुमान आगे बढ़ते हैं। वे कहते हैं कि राम जी चाहते हैं कि किसी को मैं अपने दुःख की कहानी, प्रेम कथा सुनाकर किसी तरह दुःख से मुक्त हो जाऊँ। परंतु वह स्नेह-सार कौन जानता है? मेरा मन ही इस प्रेम तत्त्व को जानता है; परन्तु वह तो मेरे पास नहीं। वह तो सदा तेरे समीप रहता है। प्रिये! मैं क्या करूँ। यह प्रेम-कहानी कौन किसे कह सुनावे? हृदय का यह सच्चा रहस्य, प्रेम की यह नई कसौटी, विरह में मन की दशा कितने अच्छे शब्दों में व्यक्त की गई है:—

कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्तदुःखो भवेयं
को जानीते निभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम्।
जानात्येकं शशधरमुखि! प्रेमतत्त्वं मनो मे
त्वामेवैतत् चिरमनुगतं तत्प्रिये किं करोमि ॥

(पृष्ठ १३३)

रामायण में भी सरल शब्दों के द्वारा यही रहस्य व्यक्त किया गया है:—

कहेहु ते दुख घटि कछु होई। काहि कहौं यह जान न कोई।
तत्वप्रेम कर मन अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहिं पाहीं। जानु प्रीति रस इतनहिं माँहीं।

और अनेक वर्णनों में भी प्रसन्नराघव की छाया रामायण में पाई जाती है। विभीषण-परित्याग तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम के विलाप आदि का वर्णन जयदेव के ही ढंग पर किया जाता है।

लंकाकाण्ड

लंका युद्ध समाप्त हो गया है। सब वीरगण विजय से मत्त हो रहे हैं। इतने में पूर्वाकाश के तिलक चंद्रमा का उदय होता है। सुग्रीव, राम, लक्ष्मण हनुमान आदि के मुख से जयदेव ने चंद्रोदय का बड़ा ही आनंददायक वर्णन कराया है। विभीषण चंद्रमा को एक पराक्रमी सिंह के रूप में देखते हैं। चंद्रमा रूपी सिंह ने अपने मयूख-रूपी नखों से अंधकार के मत्त हस्ती को चीर डाला है। हाथ के बिखरे हुए मुक्ता की तरह आकाश में तारे छिटके हैं। यह सिंह अब तक पूर्व दिशा रूपी गुफा के अंदर सोया हुआ था। अब उठकर वह आकाश रूपी कानन में घूम रहा है। कैसा सांगोपांग रूपक है।

मयूख नखर त्रुटतिमिर कुम्भि कुम्भस्थलो-
च्छलचरलतारका-करटकीर्णमुक्ताकणः।
पुरंदर-हरिद्दरी-गुहागर्भ-सुप्तोत्थित-
स्तुपारकर-केसरी गगनकाननं गाहते॥

(पृ० १५६)

पूर्ण वर्णन के आधार पर ही तुलसीदास ने लंका के पहले सुमेरु पर्वत पर चन्द्रोदय का वर्णन किया है। देखिए इस वर्णन में पूर्व रूपक को ही अपनाया गया है:—

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासा। परम प्रताप तेजबल रासी।
मत्त नाग तन कुम्भ विदारी। ससि केहरी गगन बनचारी॥
बिथुरे नभ तल मुक्ता तारा। निसि सुंदरी केर सिंगारा॥

उपसंहार

जितने भाव प्रसन्नराघव तथा रामचरित मानस में अत्यन्त सदृश जान पड़ते हैं, उनका वर्णन ऊपर किया गया है। लेखक का अभिप्राय हिंदी संसार के चंद्रमाके ऊपर ग्रहण लगाने का नहीं (न यह ग्रहण कभी लग सकता है), न उसका यही अभिप्राय है कि तुलसीदास पर 'अर्थापहरण' दोष लगाया जाय; बल्कि यह दिखलाने का है कि कितनी सफाई से प्राचीन भाव अपनाए गए हैं— किस तरह तुलसीदास ने उन प्राचीन भावों में रमणीनता पैदा कर दी है। यह काम किसी साधारण कवि का नहीं है, परन्तु किसी प्रतिभाशाली कवि की ही लेखनी का प्रभाव है जो प्राचीन भावों में इतनी जान डाल सकती है। महात्मा तुलसीदास ने तो स्पष्टतः अपने भावों को नाना पुराणों का निचोड़ बतलाया है। लेखक का अभिप्राय तुलसीदास की असीम विद्वत्ता दिखलाना है। कुछ लोग समझते हैं कि ये केवल भाषा के ही कवि थे, अतः केवल हिंदी भाषा का ही ज्ञान इन्हें था। परंतु यह कथन ठीक नहीं। तुलसीदास का संस्कृत साहित्य तथा संस्कृत भाषा का भी ज्ञान बहुत गहरा था। पुराण, गीता, नाटक तथा महाकाव्यों के ये अच्छे ज्ञाता थे। प्रत्येक काण्ड के आरम्भ में रचित सुन्दर पद्यों से इनका विपुल संस्कृत ज्ञान स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इस लेख से भी इसी बात की यथेष्ट पुष्टि होती है। ये महात्मा लोग कविता करने के लिये उद्योग नहीं करते थे, बल्कि इनके भक्तिमय हृदय से आप से आप ही कविता का स्रोत निकल पड़ता था। असीम भगवद्भक्ति के कारण ही इनकी कविता इतनी तलस्पर्शिनी तथा मनोरंजिनी है। ऐसे ही कवियों के लिये भर्तृहरि ने कहा है:—

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

—०—

रसिक गोविन्द

इस समय हिन्दी साहित्य संसार की परिस्थिति कुछ बड़े ही विलक्षण ढंग की है। हर एक अंग को पुष्ट बनाने का सराहनीय प्रयत्न हर ओर दिखाई दे रहा है। यह अवश्य ही शुभ लक्षण है। फिर भी एक दो बातें खटकती हैं। यह पुष्टि लगभग वैसी ही है जैसी बेतरह के व्यायाम से शरीर की होती है। कोई अंग तो खूब उभड़ आते हैं पर दूसरो में उसी तरह खून सूखने लगता है। कहीं बँगला साहित्य की नकल उतारी जा रही है, कहीं मराठी साहित्य के माल चुपचाप हजम किये जा रहे हैं, कहीं अँग्रेजी वेष भूषा से साहित्य के भी सजाने का साहस किया जा रहा है। परिणाम क्या हो रहा है? उपन्यासों की भर-मार है, पर उनमें उपादेय इने गिने ही हैं। गंभीर विषय पर बहुत कम लिखा जाता है। यदि लिखा भी जाता है तो ऐसा जो लेखक के घनिष्ठ मित्र ही समझ सकें। कहीं कहीं पांडित्य की पूँछ इतनी बढ़ जाती है कि चरकसंहिता सांख्य का नव-प्राप्त ग्रन्थ कहा जाता है। कविता की तो कुछ बात ही न पूँछिये। कवियों की संख्या ईश्वर-कृपा से दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। पर कोई भैरवी की तान अलापता है तो दूसरा उसी समय विहाग की धुन पर सिर धुनता है। दो चार पूजनीय कवियों को छोड़, हमारे अन्य धुरन्धर महारथियों को अपने ही लक्ष्य या उद्देश्य का पता नहीं रहता। रहे कैसे, पहिले तो एक तरह का आलङ्कारिक-समय था, एक तरह का नियन्त्रण था। अब वह सब कुछ है ही नहीं। हमारे कवियों को पूरा स्वराज मिल गया है। पर आश्चर्य यह है कि उसी के फल-स्वरूप अराजकता सारे साहित्य साम्राज्य में फैल पड़ी है। साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का और भी विचित्र हाल है।

इन सब गड़बड़ियों का मूल कारण है अपनी वास्तविक परिस्थिति को न जानना। 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति' इस कहावत को चरितार्थ करते हुये जहाँ के वहाँ बैठे रहना भी कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। फिर भी दूसरे से माँगने या उनकी चीजें हड़प करने के पहिले यह तो जानना आवश्यक ही है कि हमारे घर में क्या है और क्या नहीं है। एक उदाहरण लीजिये। मान लीजिये कि हिन्दी साहित्य के सौभाग्य से हमारे कविगण यदि कभी यह जानना चाहें कि काव्य क्या है, इसका क्या वास्तविक लक्ष्य है, इस में कैसे गुण और दोष होते हैं, तो वे कौन ग्रन्थ पढ़ें? इसमें सन्देह नहीं कि इस समय का हिन्दी-संसार वह नहीं है जो सौ दो सौ वर्ष पहिले था। बहुत से नये भाव नये विचार आ घुसे हैं। इतना होने पर भी कौन बुद्धिमान उन कवियों को अपने ध्येय को ठीक करने के लिये Saintsbury's History of Criticism, Schelling English *Drama* आदि ही पढ़ने को कहेगा? उनको तो संस्कृत और हिन्दी अलङ्कारों को पहिले अच्छी तरह पढ़ना चाहिये। तदनन्तर उसमें उचित परिवर्तित प्रवृत्तियों के अनुरूप अन्य आधुनिक ग्रन्थों को देखना चाहिये। पहिले ही समझ लेना कि हमारे यहाँ कुछ है ही नहीं, बड़ी भयङ्कर भूल है।

कुछ दिन हुए हमने हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र की अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये इसकी चर्चा एक हिन्दी के दिग्गज से चलाई। पर उन्होंने इस जोर के सूँड़ फटकारने की कला दिखाई कि हमारी तबीयत ही हरी हो गई। उन्होंने यों उत्तर दिया—महाशय, आप इसकी क्या बात चलाते हैं। यदि मेरा वश चले तो मैं इन ग्रन्थों को लेकर गङ्गाजी में डुबो दूँ। क्या दूर की सूझी! यदि ऐसा भीमकर्मा कोई कभी कर भी सके तो उससे लाभ क्या होगा? वही जानें। यहाँ तो यह समझ पड़ता है कि यदि यह अंश हिन्दी-साहित्य से निकाल बाहर किया जावे तो फिर हिन्दी-साहित्य ही कुछ न रहेगा। ऐसा सजीव भाग शायद ही दूसरा हो। मान लिया कि उसमें कुछ

कुरुचि-मूलक भी थोड़ी सी सामग्री समय के प्रभाव से आ मिली है। क्या इतने ही से उसे उठाकर दूर फेंक देना चाहिये। यदि कपड़े के एक छोर पर थोड़ी सी मैल लग गई तो क्या इससे वह कपड़ा ही फाड़ डालना चाहिये। इसके अतिरिक्त साहित्य की रीति ही निराली है। यह तो समाज के हृदय का सजीव चित्र है। उस समय समाज ही वैसा था। इस समय वैसी रुचि नहीं है तो साहित्य ही स्वयं वैसा न होगा। किन्तु जिस प्रकार आज का समाज कल के समाज का आलम्बन लेकर ही अस्तित्व पा सका है, वही बात साहित्य के विषय में भी लागू है। बिलकुल नई सृष्टि तो ब्रह्मा भी नहीं कर सकते हैं; समाज के पाले-पोसे कवि और लेखक किस खेत की मूली हैं।

अस्तु, इन्हीं बातों को विचार कर हमलोगों का ध्यान हिन्दी-अलङ्कार शास्त्र की ओर आकर्षित हुआ। थोड़ी खोज से पता चल गया कि इस भूमि में बड़े बड़े खजाने गड़े पड़े हैं। क्या आश्चर्य की बात है कि जिस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर श्रीमान बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने तथा माननीय मिश्रबन्धुओं ने इतना अनवरत परिश्रम बहु प्रकार से किया है, उसका वास्तविक रूप बहुत कम लोगों ने समझा, तथा उस से भी कम लोगों ने उससे लाभ उठाने का प्रयत्न किया। खोज रिपोर्ट ही लीजिये। वे केवल पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाने के लिये ही तैयार नहीं की गई हैं। यदि कोई उन्हीं के पन्नों को एक बार उलट जावे तो उसे अपने साहित्य का दारिद्र्य-भय उतना तो न सतावेगा। रिपोर्ट में न आए हुए भी अभी अनेक ग्रन्थ-रत्न छिपे पड़े हुए हैं। कुछ ऐसे भी हैं जिसके बारे में रिपोर्टकारों को ठीक ठीक पता नहीं लगा है। इस निबंध में एक ऐसे ही आलङ्कारिक कवि का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है।

हिन्दीमें समीक्षा

जिस तरह संसार की सब भाषाओं में क्रमविकाश के नियमानुसार परस्पर कुछ न कुछ सादृश्य पाये जाते हैं, उसी प्रकार सभी उपलब्ध

और प्रौढ़ साहित्यों के भी क्रमविकाश की सीढ़ियाँ साफ-साफ झलकती हुई दिखाई पड़ती हैं। जिस तरह भाषाकी उन्नति होते होते उसमें पुष्टता—सब प्रकार के भावों को प्रकट करने की शक्ति—प्राप्त होने लगती है, उसी तरह साहित्य में—साहित्य के प्रत्येक अंगों में—साहित्य के उपचयरूप प्रौढ़ताके सूचक नये नये ढंग भावद्योतन अथवा विचारप्रतिपादन के प्रतीत होने लगते हैं। साहित्य को किसो समय ऐसी उन्नतावस्था आती है जिसमें वह अपने स्वरूप को खोजना, अपनी शक्तियों का निर्धारित करना, अपने गुणदोषों का विवेचन करना, प्रारम्भ कर देता है। साहित्य-जीवन में यह अवस्था बड़े महत्त्व की है। इसका सबसे बड़ा प्रयोजन यही होता है कि वह अपने स्वरूप के विषय में निर्धारित किये गये सिद्धान्तों के अनुसार अपने हरएक अंग की परीक्षा करे और यह निश्चित करे कि उनमें कौन उपादेय और कौन अनुपादेय है। उपादेयों-में भी एक से दूसरे का तारतम्य निर्धारित करे।

यह समीक्षायुग हर एक परिपक्व साहित्य जगतमें कभी न कभी अवश्य लक्षित होता है। ग्रीक साहित्य में अरिस्टाटल ने इस कार्य को किस रूप से किया है, उससे उस साहित्य की कितनी श्रीवृद्धि हुई, यह उनके 'रेटारिक' और 'पोइटिक्स' नामक ग्रन्थ पढ़नेवालों को अच्छी तरह विदित है। लैटिनमें भी होरेस, क्विन्टिलियन आदि ने भी यही कार्य किया है। यूरोप के अन्य आधुनिक साहित्यों में भी यह समीक्षायुग अपना बड़ा प्रभाव डाल चुका है। जर्मन, फ्रेञ्च और अंग्रेजी भाषाओं में इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है किन्तु इन सब भाषाओं में लिखे हुए समीक्षासाहित्य के पर्यालोचन करने पर यही निश्चित होता है कि परिमाण ही में इनका बोलबाला रहा है। कोई विशिष्ट निश्चयात्मक परिणाम देखने में नहीं आता।

जहाँ तक हम लोगों को पता लगा है, यह समीक्षाशास्त्र-साहित्यशास्त्र तात्त्विक रूपसे भारतवर्ष ही में उन्नति कर सका। क्या यह आश्चर्यका विषय नहीं है कि जहाँके लोग झटपट समीक्षाहीन कह दिये

जाते हैं, उन्हीं में यह शास्त्र वास्तविक उन्नति कर सके। धन्य है वह संस्कृत साहित्य जिसमें मम्मट ऐसे सूक्ष्म से सूक्ष्म दृष्टि से साहित्य की प्रत्येक धाराओं—प्रवृत्तियों—का विश्लेषण करनेवाले उत्पन्न हुये। ध्वनि-मार्ग के उपदेशक आनन्दवर्धनाचार्य को भला कौन भूल सकता है? सबसे अन्तिम जो हम लोगों के कवि-पण्डित पण्डितराज जगन्नाथ थे, उनका भी रसगङ्गाधर ग्रन्थ अपूर्ण भी अप्रतिम है। संस्कृत भाषा और साहित्य का भारतीय भाषाओं तथा साहित्यों पर कैसा प्रभाव पड़ा यह किसी भी विज्ञ को बतलाने की आवश्यकता नहीं। यह समीक्षा विषय ही उठा लिया जाय तो देखा जायगा कि इन भाषाओं में जब इस प्रवृत्ति का जोर हुआ तब वह संस्कृत साहित्य की सहायता से ही चरितार्थ की गई। अन्य सभों से कहीं अधिक यह बात हमारे हिन्दी-साहित्य में सब तरह उदाहृत होती हुई प्रमाणित होती है।

यद्यपि हिन्दी-साहित्य का वास्तविक इतिहास अभी भविष्य के गर्भ में है, तथापि इसके विकाश के भिन्न भिन्न क्रम साधारणतया अच्छी तरह लक्षित होते हैं। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ राजपुताने के चारणों की लिखी हुई वीर-कथाओं से हुआ। जिन लोगों ने उन कथाओं को लिखा और जिनके लिये वे कथाएँ लिखी गईं उनके रग रग में वीर रस फड़क रहा था। इसलिये वे अपने हृदय के ओजस्वी भावों को प्रचलित भाषा में प्रचलित ढंग से व्यक्त करने में ही अपनी इतिकर्तव्यता समझते थे। यही दशा उस समय में भी रही जिस समय भक्ति का समुद्र समग्र देश को प्लावित कर भावुकता की ऊँची ऊँची लहरें ले रहा था। भक्तों को कलाबाजी से क्या काम? जैसे जैसे भाव भक्ति के उद्रेक से उनके हृदय में प्रादुर्भूत होते थे वैसे वैसे उनको वे सीधे सादे स्वयं उपस्थित हुये शब्दों में बिना तोड़ मरोड़ के प्रकाशित करते थे। किन्तु इन भक्तों के समय के बाद ऐसा युग आया कि रसिकता ने अपना सिक्का सबके ऊपर जमा दिया। जो कविता पहिले किसी अन्य उद्देश्य सिद्धि के लिये साधन सी समझी जाती थी वही इन रसिकों के लिये आराध्य देवता की तरह साध्य-

स्वरूपा बन गई। हर तरह की कलाबाजी, हाव भाव, मटक झटक, कविता कामिनी को सिखाई जाने लगी। जो समीक्षायुग संस्कृत साहित्य में किसी समय आकर बहुत दिनों वर्तमान रहा वही इस समय हिन्दी साहित्य में भी आया। किन्तु इस आगमन का प्रभाव इस ओर दूसरे ही ढंग का हुआ। जिस तरह आत्म-परिचय का प्रभाव विलासी मनुष्य पर भिन्न ही प्रकार का होता है, कुछ न कुछ उसी प्रकार का प्रभाव समीक्षायुग में हिन्दी-साहित्य में लक्षित होता है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि उपादेय ग्रन्थों की सृष्टि बहुत ही कम हुई। यद्यपि नायिका-भेद के ग्रन्थों का ही बड़ा जोर शोर था, तथापि बहुत से ग्रन्थ ऐसे लिखे गये हैं जो अमूल्य रत्न के समान समझे जाने के योग्य हैं। तात्त्विक विचार से चाहे हिन्दी अलंकार-ग्रंथों का बहुत ही ऊँचा स्थान न हो तथापि कविता की दृष्टि से वे किसी तरह उपेक्षणीय नहीं हैं। जिन ग्रन्थों में अच्छी कविताओं के संग्रह के साथ साथ तात्त्विक विचार भी मिलता है वे ग्रन्थ अवश्य उच्चकोटि के माने जाने चाहियें। आज एक ऐसे ही अनुपम ग्रन्थ तथा उसके रचयिता का वर्णन यहाँ किया जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'रसिक गोविन्दानन्दघन' है इसके रचयिता रसिक गोविन्द हैं। यह पुस्तक खोज में दो स्थानों पर मिली है किन्तु विवरण में जितना और जिस तरह का परिचय देने की कृपा की गई है, उससे इस ग्रन्थ का या उसके रचयिता का वास्तविक स्वरूप कुछ भी नहीं जाना जाता। यही कारण है कि जिन ग्रन्थों में इसका उल्लेख आया है वे भी इस विषय में भ्रमपूर्ण ही मालूम पड़ते हैं। अब तक हिन्दी संसार इस उच्च कोटि के कवि से अधिकांश में अनभिज्ञ है और इनकी रसमयी कविता के आस्वादन से वंचित रहा है। हम लोगों को इस ग्रन्थ की एक हस्त-लिखित प्रतिलिपि काशी के रसिकवर पण्डित चुन्नीलाल जी वैद्य से प्राप्त हुई है। इस विराट् ग्रन्थ को वैद्यजी ने अपने गुरु कविवर दम्पति-किशोरजी गोस्वामी

की कृपा से प्राप्त कर स्वयं अपने हाथ से लिखा है। बड़े आनन्द और सौभाग्य की बात है कि अभी भी ऐसे साहित्य प्रेमी हिन्दी जगत् में विद्यमान हैं। इस ग्रन्थ का पूर्ण परिचय देने के पहले अभी तक ग्रन्थ तथा उसके रचयिता के विषय में जो कुछ लिखा जा चुका है उसका प्रथम उल्लेख कर देना उचित जान पड़ता है।

कवि-विषयक चर्चा

हिन्दी साहित्य का इतिहास चाहे कितना अच्छा भी तैयार हो जाय तथापि ठाकुर शिवसिंहजी का उपकार हिन्दी संसार कभी नहीं भूल सकता। इस लिये पहले यह देखना चाहिये कि वह इनके विषय में क्या कहते हैं। उन्होंने गोविन्द जी कवि के नाम से नीचे लिखा पद दिया है—

रँग भरी भरि भिजवत मोरि अँगिया,
दुइ कर लिहेसि कनक पिचकरवा।
हम सन ठनगन करत डरत नहीं,
मुख सन लगवत अतर अगरवा।
अस कस बसियत तुनु ननदी हो,
फगुने के दिन एहि गोकुल नगरवा।
मोहि तन तकत चकत पुनि मुसकत,
'रसिक गुविंद' अभिराम लँगरवा।

और कहते हैं कि यह सम्वत् १७५० में उपस्थित थे[१]। ठाकुर साहब की कल्पना थी कि इनके कवित्त हजारा में पाये जाते हैं और बहुत करके इसी लिये उन्होंने यह समय निश्चित किया है। डाक्टर ग्रियरसन एक किसी 'रसिक गोविन्द' का नाम लेते हैं और कहते हैं कि उनके छन्द रागकल्पद्रुम में आये हैं[२]। इसके अनन्तर १९०६–१९०८ की रिपोर्ट

१ शिवसिंह सरोज पृ० ६८ और ३७०

२ Modern Vernacular Literature of Hindustan No. 638.

में इनका नाम आया है। रसिकगोविन्द के बारे में विवरण-लेखक यों लिखते हैं—

"अलिरसिकगोविन्द—(Fl. 1800 A. D.)—He calls himself a native of Jaipur, Rajputana; though he lived at Brindaban. His father was one Saligram and his brother Balmukunda. He became a disciple of Hari Vyasa and finally settled at Brindaban."

इसके अनन्तर इनके ग्रन्थों का नाम लिया गया है। वे सबके सब बिजावरनिवासी बाबू राम नारायण जी के यहाँ देखे गये हैं। इनमें रसिक गोविन्दानन्दघन भी है। इसकी ग्रन्थ-संख्या ४४७५ दी हुई है। इसमें से एक वाक्य के भी उद्धृत करने की कृपा नहीं की गई है[1]।

इसी विवरण के आधार पर निम्नलिखित टिप्पणी मिश्रबन्धु-विनोद में पाई जाती है[2] —

अलिरसिकगोविन्द, जैपुर।

ग्रन्थ—[खोज-विवरण में दिये गये सातो ग्रन्थों के नाम]

कविकाल-१८५७ (सम्वत्)

विवरण-हरिव्यास के शिष्य होकर वृन्दावन में रहने लगे थे।

इस टिप्पणी से स्पष्ट ही विदित होता है कि रसिक गोविन्द के कोई भी ग्रन्थ माननीय मिश्र बन्धुओं के दृष्टिगत नहीं हुये थे। शिवसिंह जी के दिये हुये पद को भी ये उदाहरण के तौर पर दे नहीं सकते थे। क्योंकि ठाकुर साहेब के काल निर्णय में भ्रम होने के कारण दोनों गोविन्द एक ही व्यक्ति हैं इस बात के निश्चित करने का इनके पास कोई साधन नहीं था। किंतु बड़े आश्चर्य की बात है कि इन लोगों ने १९१२-१९१४ की खोज-रिपोर्ट में आये हुये गोविन्द को देखकर भी यह

---

1 Report on the Search of Hindi MSS. for 1906, 1907, 1908.

२ मिश्र बन्धु विनोद, नम्बर ११३६।

न विचार किया कि यह शिवसिंह सरोज में आये हुये तथा विनोद में निर्दिष्ट-गोविन्द कवि से अभिन्न हो सकते हैं। वे इस रिपोर्ट में इनके बारे में यों लिखते हैं[1]

"Govind is a new poet. He is said to have been a follower of Tatti Sect founded by Swami Haridas, but he has begun his work with the words used by the Radha Vallabha Sect of the Vaishnavas founded by Goswami Hit Harivansa ji. The poet's relgious preceptor was one Swami Govardhan Deva and he composed this work for use of his brother, Balmukund's son, Narayan. He is a poet of average merit."

इसके अनन्तर 'गोविन्दानन्दघन' का विवरण दिया हुआ है। यह ग्रन्थ वृन्दावन-निवासी लाला बद्रीदास वैश्य के पास देखा गया है। ग्रन्थ संख्या १५१८ लिखी हुई है। यह नहीं बतलाया गया है कि ग्रन्थ पूर्ण है या अपूर्ण। ग्रन्थसंख्या की तुलना से स्पष्ट ही विदित होता है कि यह ग्रन्थ अपूर्ण होगा। इसके बाद इस ग्रन्थ से चार छन्द उद्धृत किये गये हैं किन्तु वे सब ऐसे हैं जिनसे ग्रन्थ के वास्तविक स्वरूप का कुछ भी पता नहीं चल सकता। विषय लिखा हुआ है—"रस नव और नायिकाभेद"।

जितना ऊपर लिखा जा चुका है उतना ही रसिकगोविन्द तथा उनके ग्रन्थ का परिचय (कम से कम छपे ग्रन्थों से) अभी तक हिन्दी संसार को है। अब हम ऊपर लिखी बातों का विचार करते हैं। शिवसिंह जी ने 'शिवसिंह सरोज' में गोविन्द जी के नाम से जो 'रंग

---

1 Report on the Search of Hindi Mss. for 1912, 1913, 1914, No. 65.

भरि भरि' इत्यादि पद दिया है वह निस्सन्देह 'रसिक गोविन्दानन्द-घन' में पाया जाता है। शृंगाररस के उद्दीपन विभावान्तर्गत जो ऋतु-वर्णन आया है, उसी में होली के प्रसङ्ग में पूर्वोक्त पद दिया हुआ है। किन्तु शिवसिंह जी ने जो समय निश्चित किया है वह भ्रमात्मक है। उनको विश्वास था कि ये वही गोविन्द हैं जिनकी कविता हजारा में आई हुई है। इसके अनुसार उन्होंने इनका काल १७५० संवत बतलाया था किन्तु मालूम पड़ता है कि ठाकुर साहेब के देखने में इनके कोई ग्रन्थ नहीं आये थे। इनके ग्रन्थों में उनके निर्माण होने का समय स्पष्टरूप से दिया हुआ है। ग्रियरसन साहब ने तो इनके बारे में कुछ लिखा ही नहीं। उनके प्रधान आधार शिवसिंह जी थे फिर वह अधिक कैसे लिखते? खोज रिपोर्ट[1] में देश कालादि ठीक दिया हुआ है परन्तु इनका हरिव्यास का शिष्य होना जो लिखा गया है वह बिल्कुल प्रमादजन्य है। उस रिपोर्ट में इनके ग्रन्थों से एक भी उद्धरण का न दिया जाना बहुत ही खटकता है। मिश्र बन्धुओं की टिप्पणी के विषय में हमें कुछ भी कहना नहीं है क्योंकि वह पूर्वोक्त रिपोर्ट का सारांश मात्र है। दूसरी रिपोर्ट जिसमें इनका नाम आया हुआ है मिश्र बन्धुओं द्वारा सम्पादित १९१२. १९१३, १९१४ की है जिसमें दिये वर्णन का यह तात्पर्य है—

गोविन्द नये कवि हैं। कहा जाता है कि वे हरिदास जी द्वारा स्थापित टट्टी सम्प्रदाय के अनुयायी थे किन्तु इन्होंने अपना ग्रन्थ उन शब्दों से प्रारम्भ किया है जिनका स्वामी हितहरिवंश जी के द्वारा संस्थापित राधावल्लभीय सम्प्रदाय के वैष्णव प्रयोग करते हैं। इस कवि के गुरु कोई स्वामी गोवर्धन देव थे।......................। ये साधारण श्रेणी के कवि थे।

---

1 Report on the Search of Hindi MSS. for 1906, 1907, and 1908 No. 122.

इस वर्णन में जितनी बातें कही गई हैं वे सब भी कुछ अंश में भ्रमात्मक ही हैं। इतने विचार से यही निकलता है कि रसिक गोविन्द के विषय में हिन्दी संसार को कुछ भी अभिज्ञता प्राप्त नहीं हुई है। इस लिये हम संक्षेप से उन बातों का नीचे उल्लेख करते हैं जो इनके ग्रन्थों से ज्ञात हो सकी हैं।

परिचय

इनका नाम गोविन्द था परन्तु कविता में इन्होंने कहीं अपने को 'रसिक गोविन्द' लिखा है और कहीं 'अलि' या 'अलि रसिक'। 'रसिक गोविन्दानन्द' के प्रारम्भ में रसिक गोविन्द अपने विषय में यों लिखते हैं:—

वैष्णव रसिक गोविन्द लेखक कवि कोक काव्य करैया।
सालिग्राम सुत जाति नटाणी बालमुकुन्द को भैया॥
जैपुर जन्म जुगुल पद सेवी नित्य विहार गवैया।
श्री हरिव्यास प्रसाद पाय भो वृन्दाविपिन बसैया॥
पितु ह्वै प्रतिपाल्यौ प्रकट, प्रभु ह्वै दिय निजधाम।
गुरु ह्वै अभय कियो सदा, जय श्री सालिगराम॥
रामकृष्ण सुत ज्येष्ठ पितु मोती राम, अभिराम।
दग्यक्षर दुखहर सुखद सकल गुनिन के धाम॥
बानी कंठ हिये जुगल, लछिमी ता घर वास।
मुख कविता कर पुस्तिका, कुन्दन तन मृदु हास॥

'लछिमन चन्द्रिका' के प्रारम्भ में भी इन्होंने अपने विषय में संक्षेप से यों कहा है—"जैपुर जन्म, माता गुमाना, बेटा सालिग्राम जी नटाणी का। मोतीराम जी का भतीजा। भाई छोटा बालमुकुन्द जी का। 'रसिक गोविन्द' नामक ग्रन्थ में भी ये अपना परिचय यों देते हैं—

"मातु गुमाना गुविन्द के पिताजु सालिग्राम।
श्री सर्वेसर सरन गुरु, बास वृंदावन धाम॥

इन उद्धरणों से यह बात बिल्कुल साफ तौर से मालूम पड़ती है कि रसिक गोविन्द जी का जन्म राजपुताने के जयपुर में हुआ था। इनके पिता का नाम शालिग्राम तथा माता का गुमाना था। जाति इनकी नटाणी थी। इनके एक बड़े भाई भी थे जिनका नाम बाल-मुकुन्द था तथा इनके मोतीराम नामक एक चाचा भी थे। इन्होंने अपने को हरिव्यास के प्रसाद से वृन्दावन में रहने वाला कहा है अवश्य, परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि हरिव्यास जी इनके गुरु थे जैसा कि १९०६-१९०८ साल वाली रिपोर्ट में लिखा गया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में जो गुरुवंश वर्णन दिया है, उससे यह बात बिल्कुल निःसन्दिग्ध हो जाती है। उस अंश को भी हम यहाँ दे देना उचित समझते हैं :—

जै जै जै श्री राधिका सर्वेश्वर श्री हंस।
सनकादिक नारद सदा, निम्बादित्य प्रशंस॥
श्री निवास विश्वपुरुषोत्तम विलासाचार्य
श्री स्वरूप माधौ बलभद्र पद्म अरु श्याम।
श्रीगोपाल कृपा देवाचारज श्रीसुन्दर भट्ट
पद्मनाभ श्रीउपेन्द्र रामचन्द्र अभिराम।
वामन श्रीकृष्ण पद्माकर श्रवणभूरि
माधव भु श्याम श्री गोपाल बलभद्र नाम।
गोपीनाथ केशो भट्ट मंगल कश्मीर केशो
श्री भट्ट श्री हरिव्यास देव श्री परसराम।
परसराम हरिवंश नारायण वृन्दावन सुखकरन।
श्री गोविन्द गोविन्द सरन जू श्री सर्वेश्वर सरन॥
भक्ति अरु ज्ञान वैराग योगादि कौ
सकल मग सुगम सब को बतायौ।
श्रीमद् भागवत भली विधि कथन करि
लोक कौ शोक संशय नसायौ।

मूढ़ मोसो अधम भूलि भव भ्रमत लखि,
मया करि जबर जमसे बचायौ।
यह जिय जानि ब्रजवास आस धरि,
दास गोविन्द रसिक सरण आयौ।

'लछिमन चन्द्रिका' के प्रारम्भ में भी कविवर रसिक गोविन्द ने इन्हीं बातों का संक्षेप स्पष्टरूप से दिया है :—"श्री परम उदार परमेश्वर सरवेश्वर सर्वोपरि विराजमान। तिनकी परम्परा यह। हंस बंस सनकादिक नारद निम्बादित्य सम्प्रदाय के सिरोमनि आचारज श्री हरिव्यास देवजू महाराज की गादी। श्री परसराम[1] देव जी। श्री हरिवंश[2] देव जी। श्री नारायण देव जी[3]। श्री वृन्दावन देव जी[4]। श्री गोविन्द देव जी[5]। श्री गोविन्द सरन देव जी[6], श्री सर्वेस्वर सरण देव जी[7] महाराज को शिष्य परम कृपापात्र वैष्णवरसिक[8] गोविन्द कवि"।

दीक्षा-गुरु

पूर्वोक्त उद्धरणों से इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि यह निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव थे। उस सम्प्रदाय में हरिव्यास जी जी नाम के एक बड़े प्रभावशाली गुरु हुये। उन्होंने अपनी एक स्वतन्त्र गद्दी स्थापित की। उनकी शिष्यपरम्परा में श्री सर्वेश्वर शरण देव जी नाम के एक बड़े भक्त महात्मा हुये। उन्हीं के शिष्य कवि रसिक गोविन्द थे।

१९१२—१९१४ की खोज रिपोर्ट में इनके गुरु कोई स्वामी गोवर्धन देव बतलाये गये हैं। शायद यह बात नीचे उद्धृत कवित्त से निश्चित की गई हो :—

परम उदार दुख दंद के हरनहार,
सब गुनसार सदा राजत अभेव है।

पूरन प्रकास वेद विद्या के निवास,
दास श्री गोविन्द जासु जग जस को न छेव है ॥
रसिक अनन्यवर, नागर चतुर चारु,
चरन कमल भवसागर के खेव है ।
जीवन हमारी कुञ्ज महल अधिकारी,
ऐसे सुखकारी स्वामी गोवर्धन देव है ॥

इसका अन्तिम पद हमारी पुस्तक में इस प्रकार है :—

जीवन हमारी, कुञ्ज भवन अधिकारी,
ऐसे सर्वेस्वर सरन सुखकारी गुरुदेव है ।

यही पाठ 'रसिक गोविन्दानन्दघन' में तथा अन्य ग्रन्थों में दिये गये वर्णन से सुसङ्गत मालूम पड़ता है। ऊपर दी हुई गुरु परम्परा में भी स्वामी गोवर्धन देव का कहीं नाम नहीं आया। न जाने किस लेखक की कृपा से 'सर्वेश्वर शरण' का स्थान 'गोवर्धन देव' जी को मिल गया।

समय

बड़े ही सौभाग्य की बात है कि हिन्दी के ग्रन्थकार अपने ग्रन्थों में अपना सविस्तर वर्णन दे दिया करते थे। इस से चाहे इनकी नम्रता में बट्टा भले ही लग जाय परन्तु इसका ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। संस्कृत के अधिकांश ग्रन्थकारों ने अपनी स्वाभाविक निरभिमानता के कारण अपनी व्यक्तिगत बातें बहुत ही कम लिखी हैं। इससे संस्कृत साहित्य के इतिहास लिखनेवालों को कितना कष्ट उठाना पड़ा है; यह किसी को बतलाने की आवश्यकता नहीं। रसिक गोविन्द ने अपने करीब करीब हरएक ग्रन्थ में उसके निर्माण का काल दिया है। रसिक गोविन्दानन्द में रचना काल यों दिया है—

वसु[८] सर[५] वसु[८] समि[१] अंक रवि दिन पञ्चमी वसन्त
रच्यौ गोविन्दानन्दघन, वृन्दावन रसवन्त ॥

अर्थात् यह ग्रन्थ (सं० १८५८=१८०२ ई०) वसन्तपञ्चमी रविवार के दिन वृन्दावन में लिखा गया। यह ग्रन्थ कई ग्रन्थों के लिखने के बाद लिखा गया। 'रसिकगोविन्द' का निर्माण काल सं० १८९० है। अतः इनका कविता काल विक्रम की १९ वीं शताब्दी के मध्य से प्रारंभ होकर अन्त तक चला जाता है।

ग्रन्थ

अभी तक हमको इनके नव ग्रन्थों का पता लगा है। बहुत सम्भव है कि इनके और भी ग्रन्थ हों। ऊपर दिये ग्रन्थों के रचना-काल से इनका दीर्घजीवी होना प्रमाणित है। यह लेखक भी अच्छे थे इसलिये इन्होंने अवश्य अन्य ग्रन्थों की भी रचना की होगी। ये ही ग्रन्थ जब लुप्तप्राय हो रहे हैं—हिन्दी संसार इनके नाम तक से परिचित नहीं—तो कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वे अन्य ग्रन्थ अब विस्मृति के समुद्र में डूब गये हों। इनमें से हमने केवल पांच ग्रन्थ देखे हैं। इनका सविस्तर वर्णन देने के पहिले न देखे हुये ग्रन्थों के बारे में जो कुछ पता लगा है वह नीचे दिया जाता है:—

(१) अष्टदेशभाषा—इस ग्रन्थ में भिन्न भिन्न आठ भाषाओं के द्वारा राधाकृष्ण का शृङ्गारमय वर्णन किया गया है। रसिकगोविन्द अनेक-भाषाओं के अभिज्ञ थे। यह ग्रन्थ इस अभिज्ञता का अच्छा निदर्शन है। कहा जाता है कि पञ्जाबी, खड़ी बोली, पूर्वी, रेखता आदि के अच्छे पद्य इसमें हैं। यह ग्रन्थ बहुत बड़ा नहीं है। इसकी ग्रन्थ-संख्या केवल ७५ है।

(२) पिंगलग्रन्थ-छन्दः शास्त्र का छोटा सा ग्रन्थ है।

(३) समय प्रबन्ध-इस ग्रन्थ में भिन्न भिन्न ऋतुओं में राधाकृष्ण की जीवनचर्या वर्णित है। यह भी ग्रन्थ छोटा ही है। ग्रन्थ-संख्या केवल ८५ है।

(४) रसिकगोविन्द—यह अलंकार का ग्रन्थ है। चन्द्रालोक

अथवा भाषाभूषण के ढंग पर इसमें अलङ्कारों का प्रतिपादन किया गया है। उससे उदाहरण के रूप में यहाँ यह दोहा दिया जाता है:—

विशेषोक्ति उपजे नहीं, कारन ते जब काज।
मानद मान मनावत्यौ, मानिनि मान न आज ॥

रसिकगोविन्दानन्दघन में दिये हुये लक्षण-उदाहरण से ये लक्षण तथा उदाहरण सर्वथा भिन्न हैं। वहाँ लक्षण गद्य में दिया गया है और उदाहरण स्वनिर्मित या अन्यरचित पद्यों में दिये गये हैं। इस ग्रन्थ में लक्षण तथा उदाहरण एक ही दोहे में दिये गये हैं। यह ग्रन्थ कवि की वृद्धावस्था में लिखा गया है और बहुत संभव है कि यह इनका अन्तिम ग्रन्थ हो। इसका रचनाकाल उन्होंने यह दिया है —

नभ[०] निधि[९] वसु[८] ससि[१] अब्द रवि दिन पंचमी वसन्त।

अर्थात् संवत् १८९०।

अब हम उन ग्रन्थों का वर्णन करते हैं जिनको हमलोगों ने स्वयं देखा और अनुशीलन किया है:—

(५) रामायण सूचनिका—इस ग्रन्थ में ३३ दोहाओं के द्वारा ककारादि क्रम से रामायण की कथा अत्यन्त संक्षेप से कही गई है। सूचनिका में रचनाकाल नहीं दिया गया है तथापि इतना कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ १८५८ संवत् के पहिले लिखा गया था, क्योंकि रसिकगोविन्दानन्दघन में इसके कई दोहे उदाहरण के तौर पर पाये जाते हैं। ग्रन्थ में कवि के ऊपर कई प्रकार के नियन्त्रण होने के कारण कविता उतनी अच्छी नहीं हुई जितनी अच्छी अन्यत्र है।

(६) कलिजुगरासो—इसमें १६ कवित्तों के द्वारा कलियुग के दुश्चरित्रों का चित्र सा खींचा गया है। प्रत्येक कवित्त के अन्त में यह पद आता है—"कीजिये सहाय जु कृपाल श्रीगुविन्दराय, कठिन कराल कलिकाल चलि आयो है"। हमारी पुस्तक में रचनाकाल नहीं दिया हुआ है किन्तु रिपोर्ट में इस ग्रन्थ का रचनाकाल सम्वत् १८६५ दिया

हुआ है। यह भी कहा गया है कि यह पुस्तक ग्रन्थकार के हाथ की लिखी हुई है[१]। किन्तु कविता की दृष्टि से यह ग्रन्थ गोविन्दानन्दघन से पहिले का सा मालुम पड़ता है। रिपोर्ट में भूल होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

(७) युगलरसमाधुरी—इस पुस्तक को श्रीनिम्बार्क पुस्तकालय, नानपारा, जिला बहराइच के पण्डित माधवदास ब्रह्मचारी ने बिना मूल्य वितरणार्थ सम्वत् १९७२ में प्रकाशित की थी। पुस्तक बहराइच के ही 'बालार्क प्रेस' में छपी थी। पता नहीं कि इस समय यह पुस्तक मिलती है या नहीं। इस पुस्तक में १६ पृष्ठ हैं। आरम्भ में आनन्द-धाम श्री वृन्दावन का बड़ा ही मनोहर वर्णन है। तदनन्तर श्री राधा-कृष्ण जू की विविध ललित लीलाओं का बड़ी ही सजीव तथा सुन्दर भाषा में वर्णन किया गया है। कविता परम मनोहर है।[२]

(८) लछिमन चन्द्रिका—यह ग्रन्थ अभी तक बिल्कुल ही अज्ञात है। न इसका नाम किसी रिपोर्ट में आया है और न मिश्रबन्धुविनोद में। रसिकगोविन्दानन्दघन में जितने लक्षण दिये हुये हैं उन्हीं का यह संग्रह है। गोविन्दानन्दघन उदाहरण के कारण बहुत बड़ा हो गया है, इसलिये उसमें आये सम्पूर्ण विषय को संक्षेप में जानने के लिये ग्रन्थकार ने यह सूचनिका स्वयं तैयार की है। इसके लिखे जाने का कारण तथा प्रसङ्ग कविवर ने ग्रन्थ के आदि में दे दिया है। वह यह है—

> कान्यकुब्ज जगनाथ-सुत, लछिमन लछिमनरूप।
> ताहित लछिमन चन्द्रिका, रची गुविन्द अनूप॥

---

१ देखो Report of Hindi MSS. for 1906,7,8 No. 121 (a)

२—अन्तिम तीन ग्रन्थों को हमने 'रसिक गोविन्द और उनकी कविता' नामक पुस्तक के परिशिष्ट २ में छपवाया था। प्रकाशक हिन्दी प्रचारिणी सभा, बलिया। सं० १९८३।

काशी माँहि सुनाइ तेहि, पुनि वृन्दावन आय।
रामचन्द्र के ब्याह में, लिखि तेहि दई पठाय॥

* * * *

रसिकगुविन्दानन्दघन रच्यो ग्रन्थ श्रीधाम।
ताकी लछिमन चन्द्रिका, सूचनिका अभिराम॥

इसमें इसका निर्माण काल नहीं दिया हुआ है किन्तु ग्रन्थ के अन्त में समाप्ति के अनन्तर यों लिखा हुआ है:—

लिखितं श्रीवृन्दावने। लेखकः स्वयं कविराजः। मिती ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदा भौमवार संवत् १८८६।

इससे यह पता लगता है कि यह ग्रन्थ रसिकगोविन्दानन्द के २८ वर्ष बाद लिखा गया। इससे यह भी सूचित होता है कि रसिक गोविन्दानन्दघन उनके जीवित काल ही में प्रचलित हो चुका था; यहाँ तक कि उसे अच्छी तरह हृदयङ्गम करने के लिये—उसका संक्षेप लिखने के लिये ग्रन्थकार से लोगों को प्रार्थना करनी पड़ी।

(९) रसिकगोविन्दानन्दघन—कविवर रसिक गोविन्द का यह सबसे बड़ा तथा प्रधान ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसका निर्माण काल स्वयं ग्रन्थकार ने वसन्त पंचमी सन्वत् १८५८ दिया है। यह ग्रन्थ लम्बे साइज के पत्रों पर लिखा गया लगभग साढ़े चार सौ पत्रों में (अर्थात् लगभग नौ सौ पृष्ठों में) समाप्त हुआ है। इस में साहित्य के लक्षणा व्यञ्जना के विचार को छोड़ अन्य सब विषयों का विशद रूप से प्राचीन कवियों के निर्मित तथा स्वरचित पद्यों के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। लक्षण जितने हैं वे सब गद्य में हैं तथा इन्हीं के बनाये हुये हैं। यह ग्रन्थ चार प्रबन्धों में विभक्त है। प्रथम प्रबन्ध में सब अङ्गों के साथ रसों का वर्णन किया गया है। दूसरे में नायक नायिका भेद दिखाया गया है। तीसरे प्रबन्ध में काव्यदोष-विचार है और चौथे में गुण और अलङ्कारों का प्रतिपादन है। अब हम क्रम से एक एक प्रबन्ध लेते हैं और उनके स्वरूप का संक्षेप में परिचय देते हैं।

ग्रन्थ का विशेष परिचय

ग्रन्थारम्भ इस कवित्त से होता है—

ललित सिंगार परिहास युत दूतीमुख
विरह निवेदन में करुणा को साज है।
रूठिवे में रौद्र सुरतोत्सव में वीर
कम्प भै, विभत्स नखरद-छतको समाज है।
अद्भुत उलटि सिंगार, सान्ति प्यारी के
मनाये विना पी को न सुहाय कछु काज है।
दंपति विहार सदा वंदत गुविंद जाहि
सेवत सरस रस-राज महराज है।

प्रथम प्रबन्ध
रसनिरूपणम्

इनके अनन्तर वृन्दावन की प्रशंसा में एक ऐसा रसमय छप्पय आता है जिसको यहाँ देने के लोभ को हम संवरण नहीं कर सकते।

सघन कुंज अलिगुंज पवन तहँ त्रिविध सुहाई।
रतन जटित अवनी अनूप जमुना वहि आई॥
छ रितु, कोक संगीत राग रागिनी रति रतिपति।
सब सुख साज समाज सहित सेवत अति नितप्रति॥
शृंगार प्रेमरस सरस पुनि काल कर्म गुन कछु न डर।
दंपति विहार गोविन्द जै जै श्रीवृंदाविपिन वर॥

इसके बाद कवि ने अपने तथा गुरु के वंश का वर्णन किया है जिसको ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। ग्रन्थ लिखने का प्रयोजन तथा नामकरण का अभिप्राय भी इसी स्थान पर उल्लिखित है। वह यह है—

वेटा वालमुकुन्द को, श्रीनारायण नाम।
रच्यो तासु हित ग्रन्थ यह, रसिक गुविंद अभिराम॥

* * *

रसिकगोविन्दानन्दघन, सुरत प्रीति परतीति।
नाम गुविन्दानन्दघन, धर्यो मीत यहि रीति॥

यहै गुविन्दानन्द घन, नाम धर्यौ यहि हेत।
कहत सुनत सीखत लिखत, सब विधि आनँद देत॥
रसिकगोविन्दादिकन कृत, यह आनन्द समूह।
याते नाम अनन्दघन, धर्यौ रहित प्रत्यूह॥
शब्द समुद्र अगाधि मधि, नवनिधि रस छवि देत।
भरत गोविन्दानन्दघन, बरषत रसिकन हेत॥

इस विषय में लछिमन चन्द्रिका में एक बात और अधिक कही गई है। वह यह है—'रसिक गोविन्द को मित्र आनन्द घन चौबे! याते ग्रन्थ को नाम रसिक गुविन्दानन्दघन धर्यौ।"

इसके उपरान्त मूल ग्रन्थ आरम्भ होता है। आरम्भ का थोड़ा सा अंश बानगी के तौर पर यहाँ दिया जाता है—

"अथ रस निरूपणं—अन्य ज्ञान-रहित जो आनन्द सो रस। प्रश्न-अन्य ज्ञान रहित आनन्द तो निद्राहू है? उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चैतन्य। भरत आचार्य सूत्र करता को मत-विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के जोगते रस की सिद्धि। अथ काव्यप्रकाश को मत-कारण कारज सहायक हैं जे लोक में इनही को नाट्य में काव्य में विभाव संचारी भाव संज्ञा है। इनके संजोग ते प्रगट हो जो स्थायी भाव, सो रस। अथ टीका कर्ता को मत तथा साहित्य दर्पण को मत-सत्त्व, विशुद्ध, अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्द, चिन्, अन्य ज्ञान नहिं संग, ब्रह्मास्वादसहोदर रस।" इसके अनन्तर अभिनव गुप्ताचार्य का मत कुछ विस्तार के साथ दिया हुआ है। यही ढंग लक्षण करने में इन्होंने सर्वत्र रखा है। इसके अनन्तर शृङ्गार रस के हर एक अंग का बहुत ही अच्छा वर्णन किया गया है। अन्य रसों का भी वर्णन अच्छा है किन्तु उतने विस्तार के साथ नहीं। अधिकांश उदाहरण प्रसिद्ध प्राचीन कवियों के चुने हुये पद्य हैं।

द्वितीय प्रबन्ध में नायक नायिका भेद कहा गया है। साधारण तरह नायिका भेद के ग्रन्थों में जो जो बातें रहती हैं वे सब इसमें आ गई हैं किन्तु वे सब सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद जिन्हें देने में अन्य रसिक कवि लोग अपना कर्तव्य पालन समझते थे, यहाँ नहीं दिये गये हैं। यह प्रबन्ध नायक-भेद से शुरू होता है। इसके अनन्तर नायक के सहचरों का साधारण वर्णन दिया गया है। तदुपरान्त नायिकाभेद शुरू होता है। केवल प्रधान प्रधान भेद उदाहरणों के साथ दिखाये गये हैं। इसमें भाव हावादि उदाहरणों के संग वर्णित हैं। इनका यह प्रबन्ध भी अत्युत्तम हुआ है। प्राचीन परिपाटी से प्रचलित किसी विषय को छोड़ा भी नहीं और पीछे के छिछोरे शृङ्गारी कवियों की तरह मर्यादोल्लङ्घन भी नहीं किया। उदाहरण भी अन्यत्र की तरह चुने हुये दिये गये हैं।

दूसरा प्रबन्ध

इस प्रबन्ध में काव्य के दोष दिखाये गये हैं। हिन्दी अलंकार ग्रन्थों में दोष विवेचन का स्थान बहुत ही कम रहा है। दोष के एक दो ग्रन्थों का नाम सुनने में आता है किन्तु वे सब अप्राप्य से हो गये हैं। यह प्रबन्ध बहुत करके काव्यप्रकाश के सप्तमोल्लास के आधार पर बनाया गया है। एक बात इस प्रबन्ध में बड़े मार्के की यह है कि दूसरे कवियों के दोष निकालने का बड़ा भारी सुयोग यहाँ होने पर भी ग्रन्थकार ने अपनी बड़ी ऊँची सज्जनता दिखलाई है। पहिले तो प्राचीन कवियों के दोष ही कम दिखलाये हैं। जहाँ कहीं दिखाये भी हैं तो वे ही दोष दिखलाये हैं जो सभी को अखरने वाले हैं। कहीं कहीं तो प्राचीन ग्रन्थों में दोष के उदाहरणमें ही आये हुये पद्य दिये गये हैं। बहुत करके दोष उदाहरण में अपने ही बनाये हुये छन्द दिये हैं। और यह भी कह दिया है कि इसमें यह सुधार करने से यह निर्दोष हो जायगा। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी:—

तीसरा प्रबन्ध

'अथ प्रसिद्धिहत—कविन के संकेत रहित पद जा विषै होइ सो प्रसिद्धिहत।

कवित्त—आनँद के कन्द, नँद नँदन सो मिलन काज,
सुन्दरी सलोनी चली संग सखियान की।
सुभग सिंगार काछे, अँग सुकुमार आछे,
कुटिल कटाछैं भृकुटी की अँखियान की।
दृग अरविन्दवर, बदन अमंद इन्दु,
सरस हसनि "श्री गुविन्द" सुखदान की।
वलय गरज कटि किंकणी धुकार पद,
नुपूर को सोर पुनि घोर बिछियान की॥

गरज धुकार सोर घोर ये शब्द जुद्ध के समै प्रसिद्ध हैं। यहाँ शृंगार मैं रणित कुणित नदित धुनि ऐसो कहनो उचित।" यह पद्य रसिक गोविन्द का स्वनिर्मित है।

अथ कष्टार्थ—कवि के हृदय को अर्थ अक्षरनितें प्राप्त जहाँ नहीं होय सो कष्टार्थ।

गिरिधर—

"नायक अपनी नायिका जनम पाइ देखी न।
रूप कुरूप लख्यौ नहीं सेज परस्पर लीन॥
सेज परस्पर लीन इतौ पर नायक रूठौ।
प्यारी लियो मनाइ लिख्यौ मजकूर अनूठौ॥
कह गिरिधर कविराय, हुते दोऊ सम लायक।
यह जानी नहिं परी कौन विधि रूठौ नायक॥

अपार्थ—मतवारे को सौ उन्मत्त को सौ बालक को सौ वचन होय अरु अर्थ जाको समुझिये नहीं, सो अपार्थ।

केशव दोहा—

पिये लेत नर सिन्धु को, है अति सज्जर देह।
ऐरावत हरि भावतो, देख्यो गरजत मेह॥

यह दोहा केशवदास की कविप्रिया में इसी दोष के उदाहरण में आया है।

इतने उदाहरणों से यह स्पष्ट मालूम पड़ जायगा कि यह प्रबन्ध भी बहुत ही उपादेय है, बल्कि यों कहना चाहिये सब से अधिक उपादेय है। अन्य विषय के तो अन्य भी अच्छे अच्छे ग्रन्थ हैं। किन्तु दोषों का इतना मार्मिक विवेचन और कहीं भी नहीं मिलता। अपने को सरस्वती का वरद पुत्र समझने वाले आजकल के कवि गण यदि इस ग्रन्थ का कुछ भी मनन करें तो हिन्दी साहित्य का कितना उपकार हो जाय।

इस प्रबन्ध में गुण, वृत्ति और अलङ्कारों का वर्णन है। गुण और वृत्ति के विवेचन में भी इन्हों ने मम्मट भट्ट के काव्यप्रकाश का ही अनुसरण किया है। इन्होंने भी माधुर्य ओज प्रसाद ये ही तीन गुण माने हैं। अलंकार का भाग सबसे बड़ा है और अच्छा भी है। प्राचीन कवियों के उदाहरण भी इस प्रबन्ध में अधिक मात्रा में दिये हुये हैं। इनके अलंकार विवेचन के सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने योग्य है। हिन्दी के आलंकारिकों ने चन्द्रालोक के ढंग को खूब अपनाया। वह ढंग यह है—दोहा आदि छोटे छन्द के पूर्वार्द्ध में लक्षण देना तथा उत्तरार्द्ध में उदाहरण देना। भाषा-भूषण और दूलह का कविकुलकंठाभरण इस ढंग के अच्छे नमूने हैं। रसिक गोविन्द ने इस ढंग का अनुसरण नहीं किया है। जो ढंग रसादिनिरूपण में इन्होंने रक्खा है वही ढंग अलंकारों के वर्णन में भी रक्खा है। वह यह है कि पहले गद्य में लक्षण, तदनन्तर अपने या दूसरों के पद्य में उदाहरण। ढंग भिन्न होने पर भी अलंकार के भेद इन्होंने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार ही माने हैं। कहीं कहीं केशव की छाया भी स्पष्ट मालूम पड़ती है। यद्यपि इनका अधिक जोर अर्थालंकारों ही की ओर था तथापि इन्हों ने शब्दालंकारों को भी छोड़ा नहीं है। प्रधान प्रधान सभी शब्दालंकारों का लक्षण तथा उदाहरण दिया गया है।

चतुर्थ प्रबन्ध

यह हुआ इस ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय। इतने ही से अच्छी तरह समझ पड़ सकता है कि यह ग्रन्थ कितने महत्त्व का है। ग्रन्थ के महत्त्व से ग्रन्थकार की भी असाधारणता व्यञ्जित होती है। रसिक गोविन्द बड़े अच्छे विद्वान् आलंकारिक थे। इसके साथ ही साथ उनमें भावुकता और सहृदयता भी खूब थी। ऐसा कभी कभी देखा जाता है। बड़े विद्वान् उसी ही दर्जे के सहृदय कम होते हैं। और यदि भावुक हो भी गये—कविता के रसास्वादन में पटु भी हो गये तो भी वे स्वयं उतनी अच्छी कविता नहीं कर सकते। इनमें यह तीनों बातें सोने में सुगन्ध और मार्दव की तरह बहुत अच्छी तरह आ जुटी थीं। इस बात के निदर्शन के लिये उदाहरणों के साथ इनकी विशेषताओं को हम नीचे दिखलाते हैं।

विद्वत्ता तथा आलङ्कारिकता

हिन्दी के लिये यह बड़े ही अभिमान की बात है कि और किसी आधुनिक भारतीय भाषाओं में इतने अलङ्कार ग्रन्थ नहीं लिखे गये। तथापि यह कहना ही पड़ेगा कि इन ग्रन्थों के लिखने वालों में बहुत करके विद्वत्ता से कवित्व ही अधिक था। ये लोग शास्त्रीय विचारों में घुसना अधिक पसन्द नहीं करते थे। यही कारण है कि अधिकांश ग्रन्थ नायिका भेद और अलङ्कार ही के पाये जाते हैं। ऐसे ग्रन्थकार इने गिने हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ में काव्य के प्रत्येक अङ्ग पर विचार किया है। केशवदास, भिखारीदास इत्यादि महानुभावों के ग्रन्थों को छोड़कर और ग्रन्थ ऐसे देखने में नहीं आते। रसिक गोविन्द को भी इन्हीं आचार्यों की श्रेणी में रखना चाहिये। इनके रसिकगोविन्दानन्दघन की भी इन्हीं विशिष्ट ग्रन्थों के साथ गणना की जानी चाहिये। इन्होंने संस्कृत अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों का बहुत अच्छा अनुशीलन किया था। रस का स्वरूप-वर्णन जैसी मार्मिकता से अन्तःप्रविष्ट होकर इन्होंने किया है वैसा जहाँ तक हमको पता है और किसी

ने नहीं किया। काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों का सारांश निकाल कर इन्होंने यहाँ रख दिया है।

ऊपर हम कह आये हैं कि हमारे हिन्दी आलङ्कारिकों की रुचि नायिका भेद की ओर अत्यन्त अधिक रही है। शृंगार रस के विभावों के वर्णन करने में आलम्बन के तौर पर नायका नायिका का वर्णन होना अनुचित नहीं है और ऐसा ही संस्कृत के आचार्यों ने किया भी है। किन्तु केवल शृंगार की प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिये स्व-कल्पना से नये नये भेद गढ़ना इतना उचित नहीं जँचता। हमारे रसिक गोविन्द ने इस बात का ध्यान रख कर ही द्वितीय प्रबन्ध लिखा है। इनके नायिका-वर्णन के आधार साहित्यदर्पण और रसमञ्जरी मालूम पड़ते हैं।

तृतीय प्रबन्ध में जो इन्होंने दोषों का वर्णन किया है वह (जैसा हम ऊपर कह आये हैं) काव्य प्रकाश के आधार पर है। यह करना इनका बहुत ही समुचित प्रतीत होता है। संस्कृत साहित्य में भी मम्मटाचार्य जैसा और कोई काव्यदोष निकालने वाला नहीं निकला। किसी ने इसी के सम्बन्ध में यह श्लोक हँसी में कहा है :—

काव्यप्रकाशो यवनः काव्याली च कुलाङ्गना।
अनेन प्रसभाकृष्टा कष्टामेषाऽश्नुते दशाम्॥

गुण अलङ्कार का निरूपण भी इनका अनेक प्राचीन ग्रन्थों का निष्कर्ष स्वरूप है। गुण-निरूपण में काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उसी प्रकार अलङ्कार-वर्णन में चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द की आभा साफ झलकती हुई दिखाई देती है। कितने स्थानों पर तो उन ग्रन्थों का अविकल अनुवाद ही किया गया है। किन्तु यह अनुवाद ऐसे अनूठे ढंग का हुआ है कि जिन्होंने संस्कृत ग्रन्थ नहीं देखा है, उन्हें उन में अनुवाद का तनिक भी भान नहीं हो सकता। हमारी बहुत इच्छा थी कि संस्कृत ग्रन्थों से तथा इस ग्रन्थ से उद्धरण देकर उन दोनों की समता दिखाते किन्तु ऐसा करने

से इस प्रबन्ध के बहुत बढ़ जाने का भय है। अतः उससे हम विरत होते हैं।

इन्होंने केवल शास्त्रीय बातों में ही संस्कृत ग्रन्थों का आधार नहीं लिया बल्कि उदाहरण से बहुत कुछ सहायता ली है। इन्होंने संस्कृत के बहुत अच्छे भाव वाले श्लोकों का सरस अनुवाद कर हिन्दी साहित्य भण्डार को बढ़ाने का बड़ा श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इसके निदर्शन के लिये हम एक दो उदाहरण देते हैं।

विश्वनाथ कविराजने अपने साहित्य दर्पण में माधुर्य गुण के उदाहरण में यह श्लोक दिया है :—

लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्।
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥

अब देखिये रसिक गोविन्द ने इसका अनुवाद कैसा किया है:—

करि कुञ्ज लतानिकी गुंजित मंजु
अलीन के पुंज नचावतु है।
अँग अँग अलिंगि, उतंग अनंग
गुविन्द की सौ सरसावतु है।
विकसे वन कंजनि सों मिलि कै,
रज रंजित ह्वै चलि आवतु है।
यह मन्द समीर चहूँ दिसि वृन्द
सुगन्धनि के बरसावतु है।

एक और दूसरा उदाहरण देखिये। विश्वनाथ कविराज ने अपने 'प्रभावती परिणय' से निम्न लिखित पद्य को लेकर साहित्य दर्पण में मुग्धा के उदाहरण में दिया है:—

दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्
नोद्दामं हसति, क्षणात् कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।

किञ्चिद्भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम्।

रसिकगोविन्द इसका यों अनुवाद करते हैं:—

आलस सों मंद मंद धरा पै धरत पाय,
भीतर ते बाहिर न आवे चित्त चाय कै।
रोकति दृगनि छिन छिन प्रति लाज साज,
बहुत हँसी की दीनी बानी बिसराय कै॥
बोलत बचन मृदु, मधुर बनाइ उर—
अन्तर के भाव की गभीरता जनाय कै।
बात सखी सुन्दर गोविन्द की कहात तिन्है
सुन्दरि बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै॥

सहृदयता

ऊपर के वर्णन से यह मालूम हो ही गया कि ये अलंकारशास्त्र के कैसे पण्डित थे। अब यहाँ हमें यह दिखलाना है कि यह सहृदय भी वैसे ही थे। इनके ग्रन्थ से किसी भी काव्य रसिक को साफ मालूम पड़ सकता है कि इनमें भावुकता कूट कूट कर भरी थी। जिस तरह संस्कृत के शास्त्रीय तथा काव्य ग्रन्थों का इन्होंने अनुशीलन किया था उसी प्रकार हिन्दी के करीब करीब सब अच्छे ग्रन्थों का भली-भाँति पर्यालोचन किया था। इनके चुने हुए उदाहरणों से अच्छी तरह मालूम पड़ता है कि वह काव्यास्वादन में बड़े ही अन्तः प्रविष्ट थे। केवल उदाहरणों की दृष्टि से भी यदि इनका यह ग्रन्थ देखा जाय, तो भी संग्रह-ग्रन्थों में इसका स्थान बहुत ऊँचा रहेगा। नायिका भेद के अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो हिन्दी कविता के अच्छे संग्रह ग्रंथ कहे जा सकते हैं। नवीन कवि का 'सुधासर', सरदार कवि का 'शृंगार संग्रह', द्विज कवि मन्नालाल का 'शृंगारसुधाकर' आदि ग्रंथ इसके अच्छे उदाहरण हैं। इन संग्रह ग्रन्थों से इनका रसिक गोविन्दानन्दघन किसी

प्रकार कम नहीं है। नीचे हम अकारादि क्रम से उन कवियों का नाम देते हैं जिनकी कविता यहाँ उदाहरण के रूप में दी गई है:-

आधीक
आनन्दघन
आलम
ऊधोराम
कल्याण
कवीन्द्र
कान्ह
कालिदास
काशीराम
किशोर
कुलपति
कृष्ण
कृष्णलाल
केशव
गदाधर
गिरिधर
गंग
घनश्याम
चन्द
छत्रसिंह (राजा)
जगजीवन
जयनारायण
तत्त्ववेत्ता
तुलसीदास
देव
देवीदास
धुरन्धर
ध्रुवदास
नरोत्तम
नागरीदास
नाथ
निपट
निवाज
नन्ददास
नन्दनकवि
पुखी
पृथ्वीराज
प्रसिद्ध
प्रहलाद
ब्रह्म
भगवन्त
भवानीप्रसाद (राय)
भूधर
मतिराम
महाकवि
मुकुंद

मोतीराम	श्रीपति
रघुराय	श्रीभट्टदेव जू
रसखान	सदानन्द
रसिक सनेही	सिरोमणि
राम	सुन्दर
राय प्रवीन	सूरति
लाल	सूरदास
वृन्द	सेनापति
वेनी जू	सोभ
व्यास जू	सोमनाथ
शंभू	हरिदास (स्वामी)
	हितहरिवंश जू

अब हम उन कवियों की एक एक कविता देते हैं जिनके विषय में अन्यत्र बहुत कम पता है।

राम

चन्दन कपूर और केसर अगर चूर
कुंकुंम गुलाब भेद मृगमद गारौंगी।
मौलसिरी मालती के माधवी के हार,
भाँति के ललित चीर चुनि चुनि धारौंगी॥
हरषि हिये को आद फरकि जतावत है,
'रामजू' प्रतीत मोति अँगनि सवारौंगी।
अंक भरि प्यारे को निसंक आज भेंटत हौ,
दे जुग उरोज मैं मनोज मोड़ मारौंगी॥

प्रहलाद

छूटि छुटि परे आज बैंदी मेरी भाल पैं ते,
मुख पे ते मोतिन की लरी लरकति है।
चूरे हूँ की कोल डग भरत निकसी जाति,

जत्र तत्र जूरे हूँ की गाँठि भरकति है ॥
जानी न परति, परदेस पिय 'प्रह्लाद'
निकसि उरोजन पै आँगी अरकति है।
तनी तरकति कर चूरी चरकति,
सिर सारी सरकति आँख बाईं फरकति है ॥

मोतीराम

मूल मलयज को समूल जर जैवो अरु
गुण जर जइयो या सुगन्ध सहराई को।
फटि जइयो भूतल ते केतकी कमल कुल
हूजियो अकुल अलिकुल दुखदाई को ॥
'मोतीराम' सुकवि मनोज मालती के हूजौ
पूजौ जिन विरही जन हँसाई को।
राजवंस हंसनिको वंस निरवंस जैयो
जस मिटि जैयो कलानिधि कसाई को ॥

सोभ

देखिये पियारे कान्ह सरद सुधारे सुधाधाम,
उजियारे चौकी चामीकर दरसैं।
चोभै चाँदि चमकैं चन्दोरा गुही मोतिन की,
झलकति झालरैं जुन्हाई जोति परसैं ॥
हीरसी हँसनि हीराहार की लसनि
सोंधे सारि रहिसनि 'कवि सोभ' छवि सरसैं।
फोर फोर कलामुख चंद से सरस प्यारी
बादिला सरस रूप झलाझल बरसैं ॥

और भी ऐसे कई कवि हैं जिनकी कविता यहाँ देने योग्य है परन्तु विस्तारभय से उन्हें यहाँ हम नहीं देते हैं।

पुखी कवि

पुखी हिन्दी के एक बड़े अच्छे कवि हो गये हैं। उनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता, केवल स्फुट कवित्त इधर उधर संग्रह ग्रंथों में मिलते हैं। इनके कई छन्द इस ग्रंथ में भी उदाहरण के तौर पर आये हुए हैं। उनमें से कुछ यहाँ दिये जाते हैं।

सीता सुधि लै कै लंकपुरी प्रलै कै,
कलधौत को जरै कै, यो समन्त घहराति हैं।
उठति भभूकैं चलैं पवन की झूकैं
'पुखी' डर कपि जू कै, सूकैं लहराति हैं॥
अंगनिकी लपटैं गगन जाइ झपटैं
दपटैं दिनेस को थहर थहराति हैं।
देवनि की जै की, दसकंठ के अजै की,
रघुवंस के विजै की ए पताका फहराति है॥

चोंथते चकोर चहुँ ओर मुख चंद जानि
रहे डरि दसनि बसनि दुति संपा के।
लीलि जाते बरही विलोकि बेनी व्याल
गुन गुही पै न होती जो कुसुम सर कंपा के॥
कहै कवि 'पुखी' ढिग भौंह न धनुष होती
कारि कैसे छोड़ते अधर बिम्ब झंपा के।
दाख कैसो झौंरा झलकति जोति जोबन की
चाट जाते भौंरा जो न होती रंग चंपा के॥

कवित्व

ऊपर हम दिखला चुके कि रसिक गोविन्द कैसे पण्डित और कैसे भावुक थे। अब हमें यहाँ यह दिखलाना है कि वह कवि भी ऊँचे दर्जे के थे। कवि कई प्रकार के होते हैं। कोई तो ऐसे होते हैं जिनका शब्द ही पर बड़ा जोर होता है, नाना प्रकार के अनुप्रास, यमक आदि दिखलाने में उनका पटुत्व सर्वतोगामी होता है। दूसरे प्रकार के कवि वे

होते हैं जो अर्थ पर विशेष ध्यान देते हैं। उनकी कविताओं में अलंकारों की संसृष्टि और संकर की छटा जगह जगह अपूर्व आनन्द दिया करती है। सबसे उत्तम कवि वे होते हैं जिनकी कविता में शब्द तथा अर्थ सहायक बन रस रूप व्यंग्य को अनुभवगोचर कराते हैं। ऐसे कवि बहुत विरले होते हैं। हिन्दी कवियों में इनकी संख्या और भी कम है। गोस्वामी श्री तुलसीदास जी, सूरदास जी, विहारी आदि इस श्रेणी के अग्रगण्य कवि कहे जा सकते हैं।

यदि हम कवियों की इन तीन श्रेणियों को ध्यान में रख कर रसिक गोविन्द का विचार करें तो इनका स्थान द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के बीच में कहीं आवेगा। इनका शब्दों पर अच्छा अधिकार था, फिर भी वे बेमतलब के यमक अनुप्रास के जुटाने में अपनी शक्ति का व्यय नहीं करते थे। अर्थ के वैचित्र्य पर इनका ध्यान अवश्य था, कहीं कहीं इनके रूपक बहुत अच्छी तरह जमे हैं। यह स्वभाव से ही भक्तिमय-रसमय थे, इसलिये कहीं कहीं इनकी रस में तन्मयता अवश्य झलकती है, किन्तु बहुत करके वह ध्वनिरूप उत्तम व्यंग्य कहा जाने वाला रस नहीं है। यही कारण है कि हम इनको न तो कविवर विहारी के साथ ही खड़ा करना चाहते हैं और न उनसे अत्यन्त दूर ही ले जाकर इन्हें पटकना चाहते हैं।

इन्होंने रसिक गोविन्दानन्दघन तथा लछिमनचन्द्रिका के अन्त में अपने ग्रन्थ के अधिकारी का वर्णन किया है—

> कोक काव्य भाषा निपुन, कवि पंडित जो होइ।
> जिज्ञासी हरिजन रसिक, अधिकारी है सोइ॥

यह एक प्रकार से कवि रसिक गोविन्द ही का निजी वर्णन है। कोकशास्त्र की जानकारी इन्होंने अपने सब ग्रन्थों में राधाकृष्ण के शृंगारमय वर्णन में दिखाई है। काव्य में यह निपुण कैसे थे, इसे हम ऊपर दिखा ही चुके हैं। अब रही भाषा की निपुणता। उसमें यह निःसन्देह बहुत बढ़े चढ़े थे। 'अष्टदेश-भाषा' नामक जो ग्रन्थ इन्होंने लिखा है

उसमें तो इन्होंने अपने बहुत भाषाओं की जानकारी भलीभाँति दिखलाई ही है। 'रसिक गोविन्दानन्दघन' में भी यत्र तत्र इन्होंने अन्य भाषाओं के उदाहरण दिये हैं। हम उनमें से एक दो नीचे देते हैं :—

पंजाबी भाषा।

रोलियाँ मुक्ख लगावदाँ लाल,
गुलाल अबीर उडावदां झोलियाँ।
खोलियाँ गालियाँ तालियाँ दैं दाँ,
करैदाँ गलीविच बोलियाँ ठोलियाँ।
बोलियाँ किचि न साउड़ी जिंदि,
उसी से लगी दिल प्रीति कलोलियाँ।
चोलियाँ रंग 'गुबिन्द' भिजावदाँ,
गावदाँ रंग रंगीलियाँ होलियाँ।

पूर्वी भाषा।

रंग भरि भरि भिजवइ मोरि अँगिया
दुइ कर लिहिस कनकपिचकरवा।
हम सन ठनगन करत डरत नहिं
मुख सन लगवत अतर अगरवा।
अस कस बसियत तुनु ननदी हो
फगुन के दिन एहि गोकुल नगरवा।
मोहि तन तकत बकत पुनि मुसुकत
'रसिक गुबिन्द' अभिराम लँगरवा।

इन भाषाओं के उदाहरणों में यह भी देख लेना चाहिये कि जोड़-तोड़ के शब्दों पर भी इनका कितना अधिकार था। जब इतना अधिकार इन भाषाओं पर था, तब व्रजभाषा का कहना ही क्या। उस भाषा में तो यह सब तरह के शब्दचमत्कार दिखला सकते थे। अनुप्रासमयी कविता का एक एक उदाहरण लीजिये।

घुँघुराली अलक सँवारी अनियारी भौंहैं
कजरारी आँखें कजरारी मतवारी मैं ।
धारी सारी जरतारी सरस किनारी वारी
मालती गुही है बैनी काली सटकारी मैं ॥
बारी वैस रूप उजियारी 'श्री गुविन्द' कहै
वारी सुरनारी नरनारी नागनारी मैं ।
मिलन बिहारी सों दुलारी सुकुमारी प्यारी
बैठी चित्रकारी की अटारी सुखकारी मैं ॥

अब जरा कठोर अनुप्रास के झंकार का भी मजा लीजिये—

भेस भयंकर जम्भजिह्व छुरी धार कढ्यौ
खभ ते 'गोविन्द' यों नृसिंह किलकारिकै ।
दंत कटकटत विकट अट्टहास दाढ़
दिट्ठी बिज्जु छटा देती दुष्ट गर्व गारिकै ॥
हक्क पक्क इन्द्र के, फनिन्द्र हू के सक्क पक्क
घराहूँ धसक्का दीह धक्क पक्क धारिकै ।
जुद्ध करि क्रुद्ध ह्वै विरुद्धि दुरबुद्धि को
प्रसिद्ध नख उद्धत सों डार्यो पेट फारिकै ॥

अब यमक का एक उदाहरण बानगी के तौर पर यहाँ दिया जाता है ।

संग सखि तेरे वा दरी बादरी में
काल्हि कोइ पिकबैनी बैनी बनि फारीही ।
मुखचन्द्र मानिनि को चन्द्रमा नीको ऐसे
कहत 'गोविंद' चन्द्रमानिते उजारीही ॥
कोटि उरबसी वारों और उर बसी कौन
तूही उरबसी सोइ उरधारीही ।
बिन कजरारी कजरारी आखें बेसरही बेसर
सँवारी ही सुबेसर सँवारी ही ॥

अब जरा शब्द श्लेष का चमत्कार देखिये :—

बतियाँ मनमोहिनी मोहै 'गुविन्द'
भली विधि नेह नवीन सनी।
अब नीकी सबै अँगनामैं अहैं,
उजियारी जगामग जोति घनी॥
वर अंबर में सुप्रकाशित हैं,
सुखमा कवि कौन पै जात भनी।
कमनी नवबाल बनी सजनी,
किधौं दीपिका माल रसाल बनी॥

इनका शब्द पर कैसा अधिकार था यह इतने ही उदाहरणों से अच्छी तरह मालुम हो सकता है। अब इनके अर्थ के चमत्कार निरखिये—

लसत असित सित लोहित ललित सुतौं
चोवा चारु अबिर गुलाल चोरि रखियाँ।
छुट कलिकुटिल कटाछन की पिचकारि
मन्द मन्द हँसनि मृदङ्ग चङ्ग लखियाँ॥
भाव भरी भौंहैं मन मोहत 'गोविन्द' जू को
बरुनि पलक बनि सोहैं संग सखियाँ।
होरी रंग बोरी चित चोरी की खिलारिन ये
गोरी भोरी नवल किशोरी तेरी अँखियाँ।

देखिये इस कवित्त में रूपक की कैसी अद्भुत छटा है।

उठि प्रात अन्हात खिली अवली
अरविन्दन की दरसावति है।
तब ते छवि प्यारी के नैनन की
चित तैं न टरै अति भावति है॥
सुनि हंसनि की धुनि नूपुर की
धुनि कानन में मँडरावति है।

ललि पूरन चन्द्र 'गोविन्द' कहै,
तु टहै मुख की सुधि आवति है ॥

इस सवैया में भी स्मरणालंकार कम चमत्कार-जनक नहीं है।

अब जरा सन्देहालंकार की ओर देखिये :—

काजर की कोटरी में, कचन की रेख किधौ,
सघन घटा दमकति दुति दामिनी।
कुहु की निशा में नव दीपन की माला किधौं,
दीपति रसाल 'श्रीगोविन्द' अभिरामिनी ॥
सिगार की साला में मुदित मन मोहिनी कैं,
नीलकंज की कुटी मे कमला है कामिनी।
कैधो कारी सारी मैं किसोरी गोरी भोरी आज,
आय भरी भ्राजै भाल भाँतिन सो भामिनी ॥

केशव की तरह इन्होंने एक 'प्रेम' नामक अलंकार माना है, उसका भी एक उदाहरण लीजियेः—

साँवरे रंग रँगे सु रँगे, पुनि प्रेम पगे सो पगे ही पगे हैं।
रूप अनूप समुद्र अपार, मझार पगे सो पगे पगे ही हैं।
और कहा कहिये सजनी सुनरीक ठगे सो ठगे ही ठगे हैं।
या ब्रजनन्द 'गोविन्द' की सैन सो नैन लगे सो लगेही लगे हैं।

अब हम रस के कुछ उदारण देते हैं।

शृङ्गार

मृगखंजन गंजन रंजन नैन सुअंजन की पुनि रेख दई।
मनको सब भाँति प्रसन्न करै, बचनामृत की रचना सु नई ॥
कवि गोविन्द रूप कहाँ लौं कहै सुखमा अँग अंग अनूप टई।
मृदुहासहिं उत्तर दै पिय कौ भुव बंक विलासनि सो चितई ॥

हास्य

खोपरि के खपरानि दिया बलि सभु करी कदलास मे माई।
चंद अमंद किये रसमी, रस मीस गुविन्द सौं बाति बनाई ॥

नागिनी की फन की मनिदीप सिखा कै जगामग जोति जगाई।
सिव के ऐसे चरित्र विलोकि, उमाको हँसी न रुकी मुख आई॥

करुण

वृजचन्द गुविन्द गये जब तैं, विरहानल ताप तई सु तई।
मुँदरी अँगुरीन की उद्धव जू इन कंकन रीति लई सु लई॥
जलधार धरा पै परै अँखियाँ, निसि बासर नींद गई सु गई।
कुच कुंकुम भीजि रही सु रही, उर पीर अनेक भई सु भई॥

भाव

श्री अवधेस कुमार तिहारे तुरंगन की अवली विचरैं हैं।
रेत उड़ै तिन के खुर की सु चढ़ै नभ पै पुनि भूपै परै हैं॥
ताते भई अति गंग में कीच, कवी जन गोविंद यौं उचरैं हैं।
संकित भार न धार सकै सिव, सीस तैं धार धारा पै धरै हैं॥

अब इनके भक्तिभाव के उदाहरण देकर हम इस प्रबन्ध को समाप्त करते हैं।

स्वर्ग समुद्र सैल भूतल रसातल,
पताल आदि हूँ क्यों न जनम लस्यौ करैं
काहू जाति काहू पाँति काहू भाँति,
देखि सज्जन सराहैं भावैं दुरजन हस्यौ करैं॥
पूज्य अमरनि के पुरन्दरादि देवन के,
मुक (?) सिंहासन की सीढिन घस्यौ करैं।
ऐसे वृजचन्द्र श्री गुविन्द के पदारविन्द,
जौ पै उर अन्तर निरन्तर 'बस्यौ करैं॥

स्वर्ग को जु चाहै, सो तो स्वर्ग ही सिधारे किन,
पावै किन मुक्ति जानै मुक्ति जु विचारी है।
ध्यावतु है ब्रह्म सो तो ब्रह्महीं को ध्यावौ,
जावो शक्ति हीं मिलौ, जानै शक्ति चित धारी है॥
हौं तो श्री गुविन्द जू के पद अरविंदन की,
दासी सुखरासी वार वार वलिहारी हैं।
मेरे सरवस सरवेस्वर सुजान सदा,
सघन निकुंज के विहारी पिय प्यारी हैं॥

---

(८)

पारिजात-हरण

(मैथिली नाटक)

मिथिला-प्रदेश भारत का एक गौरवमय प्रांत है। भारत के धार्मिक तथा दार्शनिक इतिहास में मिथिला का नाम सुवर्णाक्षरों में लिखने के योग्य है। यह वही प्रदेश है, जिसमें कर्मयोगी महाराज जनक ने निष्काम कर्म का ज्वलंत दृष्टांत संसार के सामने उपस्थित किया था। इसी प्रदेश की धूलि को जनक-नंदिनी जानकी ने अपने जन्म से पवित्र किया था। इसी देश में मैत्रेयी तथा गार्गी-जैसी ब्रह्मवादिनी महिलाएँ उत्पन्न हुई थीं। याज्ञवल्क्य-जैसे स्मृतिकारों को अपनी गोद में पालने का गौरव भी इसी भूमि को प्राप्त है। यह तो मिथिला की धार्मिक गरिमा की महिमा का परिचय है। दार्शनिक संसार में तो मिथिला का स्थान इससे भी बढ़कर है। यहाँ ऐसे-ऐसे दार्शनिक सूर्य उदय हुए हैं, जिन्होंने अपनी प्रखर किरणों से अज्ञानांधकार दूर हटाकर भटकने-वाले सांसारिक जिज्ञासुओं के लिये सरल मार्ग दिखलाया है। कौन ऐसा है, जिसने न्याय-सूत्रों के रचयिता महर्षि गौतम का नाम नहीं सुना? कौन ऐसा संस्कृतज्ञ है, जिसके कान सर्वतंत्र-स्वतंत्र वाचस्पति मिश्र का नाम सुनकर पवित्र न हो चुके हों? कौन ऐसा विद्वान् है, जिसने बौद्ध-मत-निरासक श्री उदयनाचार्य की यह प्रसिद्ध प्रौढ़ोक्ति न सुनी हो—

"वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः ;

उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा
न हि तरणिरुदीते दिग् पराधीनवृत्तिः।"

इन दार्शनिक-प्रवरों ने मिथिला-भूमि में ही जन्म लिया था। कौन ऐसा हिंदी जाननेवाला विद्वान् होगा, जिसने विद्यापति का नाम न सुना हो? विद्यापति भी इसी मिथिला के पाले-पोसे सपूत थे। इस प्रकार मिथिला स्मार्त धर्म की जननी, दार्शनिक तत्त्वों की उद्भावयित्री और कोमल-कांत पदावली की गौरवमयी माता है। आज यहीं के एक विख्यात नाटक का परिचय भावुक पाठकों को दिया जाता है।

मिथिला की भाषा

नाटक का परिचय देने के पहले मैथिली भाषा तथा मैथिल-नाटकों के विषय में कुछ कहना अनुचित न होगा। आजकल के मैथिल-विद्वान् मैथिली भाषा को एक स्वतंत्र भाषा मानने लगे हैं। वे उसे हिंदी-भाषा के संपर्क से कोसों दूर रखना चाहते हैं। उनकी लिपि भी देवनागरी से बिलकुल जुदी है। उसमें प्रधानतः बँगला-लिपि की छाया दृष्टि-गोचर होती है। मिथिला से बंगाल के निकटवर्ती होने तथा दोनों के परस्पर घनिष्ठ संबंध से मैथिली भाषा में बँगला का प्रभाव बहुत अधिक दृष्टि-गोचर हो रहा है। मैथिल-पंडितों ने इसकी स्वतंत्र स्थिति सिद्ध करने के लिये 'मिथिला-मिहिर'-नामक पत्र मैथिली भाषा में ही निकाला है। परंतु भाषा-तत्त्व के प्रकांड पंडितों की यह सर्वमान्य सम्मति है कि पूर्वी हिंदी के अनेक प्रभेदों—विविध बोलियों—में से मैथिली भाषा भी एक है। जिस प्रकार भोजपुरी, मगही आदि बोलियाँ पूर्वी हिंदी से संबंध रखती हैं, उसी भाँति मैथिली भी एक प्रांतीय बोली है। इतना मानने के लिये हम सब उद्यत हैं कि अन्य बोलियों में साहित्य का कहीं नामोनिशान नहीं है; परंतु मैथिली में एक समुज्ज्वल तथा बहुमूल्य साहित्य अभी सुरक्षित है। अन्य बोलियों की अपेक्षा मैथिली बोलनेवालों की संख्या भी कहीं अधिक है। अतएव मैथिली को स्वतंत्र भाषा न मानकर पूर्वी हिंदी की

एक समुन्नत बोली मानने में कोई आपत्ति नहीं देख पड़ती। यही कारण है कि विद्यापति की पदावली की भाषा को बंगालियों ने बंगला सिद्ध करने का निरंतर प्रयत्न किया, परंतु सब व्यर्थ हुआ। समय ने सिद्ध कर दिया कि पदावली की भाषा हिंदी ही है, अन्य नहीं।

मैथिल-नाटक

नाट्य-कला का जन्मस्थान यह भारतवर्ष ही है। इतने प्राचीन नाटक ग्रीक-भाषा में भी नहीं मिलते। संस्कृत-नाटक ही सबसे प्राचीन जान पड़ते हैं। पाणिनि के सूत्रों की आलोचना से जान पड़ता है कि ईसा से सात सौ वर्ष-पूर्व भारत में नाट्य-कला की अच्छी उन्नति हो चुकी थी; नाट्य-शास्त्र के विषय में भी ग्रंथ तैयार हो चुके थे। पाणिनि ने कृशाश्व तथा शिलालि के रचे नट-सूत्रों का उल्लेख किया है। इस प्रकार यद्यपि भारत को नाट्य-कला के उद्भावक का गौरव प्राप्त है, तथापि आधुनिक भारत की राष्ट्र-भाषा हिंदी में यथार्थ नाटकों का प्रायः अभाव ही है। यह देखकर किसी भी देशहितैषी को दुःख हुए बिना न रहेगा। हिंदी के नाटक केवल उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। हिंदी में यथार्थ नाटक का जन्म तो अभी, गत शताब्दी के अंतिम भाग में ही, हुआ है। हिंदी के नाटकों में संस्कृत-नाटकों से कुछ विभिन्नता या विशेषता नहीं दृष्टि-गोचर होती। सौभाग्यवश हिंदी की एक शाखा मैथिली में नाटक की उत्पत्ति बहुत पहले हो चुकी है। जिस नाटक की चर्चा आगे की जायगी, उसी का रचना काल ईसा की चौदहवीं सदी का आरंभिक वर्ष है। मैथिली के नाटकों में ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उन्हें अन्य नाटकों से सर्वथा पृथक् किए हुए हैं। मैथिली भाषा का नाटक केवल एक अंक में समाप्त होता है*। पुरुष प्रायः संस्कृत

* संस्कृत में भी ऐसे एक अंक में समाप्त होनेवाले नाटक होते हैं; परंतु आलोचकों की राय में ऐसे छोटे रूपकों के लिये नाटक जैसा श्लाघनीय नाम रखना ठीक नहीं। अतएव वे उन्हें 'छाया-नाटक' के नाम से पुकारकर अपने निष्पक्ष हृदय का परिचय देते हैं। 'दूतांगद'-नामक रूपक ऐसा ही प्रसिद्ध छाया-नाटक है।

में अपने हृद्‌गत भाव को प्रकट करते हैं, और स्त्रियाँ प्राकृत में। परंतु जो कुछ गीत दिए गए हैं, और अच्छी तरह दिए गए हैं, वे सब मैथिली भाषा में हैं। नाटक की नायिका जो अभी प्राकृत में बोल रही थी, मैथिली में गाने लगती है। मैथिल-नाटकों की यही विशेषता है कि पात्रों की बातचीत में संस्कृत या प्राकृत का, परंतु गाने में मैथिली भाषा का प्रयोग होता है।

समालोच्य नाटक

अब हम प्रस्तुत विषय की ओर आते हैं। समालोच्य मैथिल-नाटक का नाम है "पारिजातहरण"। नाटक का कथानक हरिवंश आदि पुराणों में प्रसिद्ध कृष्ण-विषयक एक घटना है। संक्षेप में कथा यह है— श्रीकृष्ण वसंत की छटा निरखते हुए रुक्मिणी के साथ रैवतक-पर्वत पर टहल रहे हैं। इतने में महर्षि नारद भगवान् के दर्शन की उत्कट उत्कंठा से वहाँ पधारते हैं। श्रीकृष्ण का दर्शन पाकर नारद कृतकृत्य हो जाते हैं। आह्लाद की अधिकता से महर्षि नंदन-वन की शोभा बढ़ाने वाला पारिजात का फूल श्रीकृष्ण को अर्पण करते हैं। कृष्ण वह सुगंधित पुष्प रुक्मिणी को सादर दे डालते हैं। इतने में कृष्ण की प्राणप्रिया दयिता सत्यभामा की दृष्टि, जो उस समय वहाँ टहलने आई थी, अपने पति के इस अनुचित व्यवहार पर पड़ती है। व्यवहार के अनौचित्य से वह आग-बबूला हो जाती है। सोचती है, कृष्ण भी बड़े छलिया हैं, मुझे तो अपनी प्राणप्रिया कहा करते हैं, पर यह अनुपम फूल रुक्मिणी को दे दिया। जब कृष्ण को सत्यभामा के रूठने की खबर मिलती है, तब वह शीघ्र ही पधारते हैं। वह इंद्र के पास पारिजात का एक फूल भेजने के लिये कहला भेजते हैं। इंद्र के अस्वीकार करने पर कृष्ण धावा बोल देते हैं। फूल लाने की कौन कहे? पारिजात का वृक्ष ही उखाड़ लाकर पटरानी सत्यभामा के आँगन में लगाया जाता है। अक्षय पुण्य की लालसा से सत्यभामा अपने

प्राणप्यारे कृष्ण को, पेड़ के नीचे, नारद को दान में देती और फिर मूल्य देकर उन्हें खरीद लेती है। बस, नाटक की कथा इतनी ही है।

नाटककार का समय

पारिजातहरण के कर्ता का नाम उमापति उपाध्याय है। संस्कृत-साहित्य में उमापतिधर का नाम कुछ अप्रसिद्ध नहीं है। यद्यपि उनका कोई काव्य अभी तक नहीं मिला है, जिससे उनकी योग्यता और कवित्व-शक्ति का पता लगे, परंतु विश्व-विख्यात गीति-काव्य गीतगोविंद के रचयिता श्रीजयदेव के 'वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः' उल्लेख से हम उमापतिधर की समास-बहुल गौड़ीरीति का अनुमान कर सकते हैं। यह उमापतिधर सेनवंश के राजा विजयसेन के सभा-पंडित थे। उमापति की लिखी हुई एक प्रशस्ति अभी हाल में मिली है, जिसमें विजयसेन के द्वारा मिथिला के राजा नान्यदेव (१०९८ ई० —११२५) के पराजय की बात लिखी है। पर यह उमापतिधर पारिजातहरण के कर्ता उमापति से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। इनका उल्लेख यह बताने के लिये किया गया है कि जिस नान्यदेव को विजयसेन ने हराया था, उसी की चौथी पीढ़ी में उमापति के आश्रयदाता ने जन्म लिया था।

मिथिला में यह किंवदंती है कि उमापति ने नान्यदेव से चौथे राजा हरिदेव (या हरदेव) के शासन-काल में इस नाटक की रचना की। पारिजातहरण की अंतरंग-परीक्षा से सर्वथा इसकी पुष्टि होती है। नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है—"महाराज हरि हरदेव की आज्ञा है कि उमापति के नाटक का अभिनय किया जाय।" इससे स्पष्ट सूचित होता है कि उमापति हरिहर के आश्रय में रहते थे। हरिहर का राज्य-काल सन् १३०३ से १३२३ तक है। अतएव उमापति के आविर्भाव का समय भी चौदहवीं सदी का प्रथम चतुर्थांश है। इतिहास से उपर्युक्त कथन की सर्वथा पुष्टि होती है। उमापति के समय में मुहम्मद तुग़लक दिल्ली का बादशाह था। उसने बंगाल

पर चढ़ाई करके उसे अपने अधिकार में कर लिया। वंगाल जाते समय मिथिला से होकर जाना पड़ता है। इतिहास वंगाल पर विजय प्राप्त करने की कथा को रोचक शब्दों में उच्च स्वर से पुकारकर कह रहा है; परंतु मिथिला के वारे में वह सर्वथा मौन है। संभव है, वंगाल में जैसी सफलता मुहम्मद तुग़लक को प्राप्त हुई, वैसी मिथिला में न प्राप्त हुई हो। वहुत संभव है कि मिथिलानरेश के हाथों दिल्ली की सेना को पराजय सहनी पड़ी हो। पारिजातहरण से इस दूसरी संभावना की सत्यता सिद्ध होती है। उमापति ने हरिहरदेव को 'यवन-वनच्छेदन कराल करवाल' (मुसलमानों के वन काटनेवाली भयंकर तलवार) वतलाया है। अतः यद्यपि यह कथन आश्रित कवि की अत्युक्ति सा जँचता है, परंतु इस अत्युक्ति का आधार कोई वास्तविक घटना अवश्य होगी। संभव है, तुग़लक की सेना पर हरिहरदेव ने कुछ विजय पाई हो। यद्यपि पठानसम्राट् की विशाल, वंग-विजयिनी सेना के एक प्रांतीय नरेश द्वारा पराजित किए जाने की वात हास्यकर प्रतीत होती है, तथापि मिथिला-विजय के विपय में मुसलमान इतिहासकारों का मौनावलंबन इस हास्यकर संदेह की ही पुष्टि कर रहा है। अतएव हमारे कविवर के आश्रयदाता हरिहरदेव तथा नान्यदेव से चतुर्थ मिथिला-नरेश हरदेव या हरिदेव (शायद पूरा नाम हरिहरदेव होगा) एक ही व्यक्ति हैं। अतः पारिजातहरण की रचना चौदहवीं सदी के प्रथम चतुर्थांश में, लगभग १३२० ई० में हुई होगी।

कविता

अच्छी कविता में ऐसे चुने हुए शब्द होने चाहिए, जिनसे कवि का अभीष्ट अभिप्राय अनायास ही पाठकों के हृदयंगत हो जाय। अर्थ में भी कुछ वैचित्र्य होना आवश्यक है। वे अर्थ, जिनसे रस की अभिव्यक्ति शीघ्र हो जाती है, उत्तम कविता के आवश्यक साधन हैं। कविता की आत्मा रस है; अतएव रस के विना कविता की क़ीमत उतनी ही है, जितनी चित्र-लिखित निर्जीव ललना की।

तात्पर्य यह कि कविता में शब्द-लालित्य, अर्थ-चमत्कार तथा रस-व्यक्ति का होना सर्वथा आवश्यक है।

पारिजातहरण में कविता के आवश्यक साधन प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। छोटे-छोटे परिचित शब्दों में ग़ज़ब का माधुर्य भरा हुआ है। उसके मैथिली गीत माधुर्य से शराबोर हैं। माधुर्य के साथ-साथ प्रसाद की अधिकता सोने में सुगंध हो गई है। शब्दों का निवेश रस के अनुरूप ही है। अलंकारों की छटा खूब ही मनोमोहिनी है। हाँ, जो बनावटी अलंकारों से, बाहरी पाउडर आदि से, शोभित ललना के मुख-मंडल को ही आदर्श सौन्दर्य का निदर्शन समझते हैं, उन्हें इस कविता-कामिनी की छटा वास्तव में आकृष्ट नहीं कर सकती। परन्तु जिन्हें ललना के स्वाभाविक रूप में सुंदरता का सच्चा स्वरूप दिखाई देता है, उन्हें यह कविता सचमुच मुग्ध कर देगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। कृष्ण के इस सुंदर चित्र पर तनिक दृष्टिपात कीजिये—

"सखि हे रभस रस चलु फुलवारी;
तहाँ मिलल मोर मदन मुरारी।
कनक मुकुटमणि भल भासा;
मेरु-शिखर जनि दिनमणि वासा।
सुंदर नयन, बदन सानंदा;
उगल जुगल कुवलय लय चंदा।
पीत बसन तनु भूषन मनी;
जनि नव घन उग दामिनी।
वनमाला उर उपर उदारा;
अंजनि-गिरि जनि सुरसरि-धारा।"

वाह कैसा सुंदर छटा है! कैसा मधुर शब्दों का निवेश है! कल्पना की स्वाभाविता तथा नवीनता रसिकों के चित्त में कैसा आनंद-मय कौतूहल पैदा कर रही है! जान पड़ता है, वनमाली हमारी इन आँखों के सामने अपनी छटा दिखा रहे हैं! कृष्ण के पीत वसन की

सजल-नील मेघों में दमकनेवाली बिजली के साथ उपमा कितनी अनुरूप है ! कृष्णके गले में लटकनेवाली आजानु लंबिनी माला का ध्यान कर किस सहृदय का चित्त अंजन-गिरि में वहनेवाली पवित्रसलिला सुरसरित् की उज्ज्वल धारा की नवीन उत्प्रेक्षा से सद्यः आनंद-निमग्न नहीं हो जाता !

यह तो हुआ कृष्ण की रूप छटा का अलौकिक दृश्य, अब ज़रा रसिक पाठक कृष्ण की प्राणप्यारी सत्यभामा की छवि का दर्शन कर अपने नेत्रों को सफल कीजिए—'

"देखियत चानकलाक सँदेह ;
वसुधा वसि जनि विजुली रेह ।
मणिमय भूषण अंग अमूल ;
कनकलता जनि फूलल फूल ।"

कल्पना की कैसी ऊँची उड़ान है ! सत्यभामा की दीप्त मुखच्छटा के सामने बिजली या चंद्रमा का सन्देह अकिंचित्कर ही प्रतीत होता है ।

विरह-दशा

पारिजातहरण की कविता रस से भरी हुई है। नाटक की आवश्यकता के अनुसार कवि ने इसमें विप्रलम्भ-शृंगार का ही वर्णन किया है। सत्यभामा की विरह-दशा के वर्णन को सुनकर पत्थर का कलेजा भी पानी-पानी हो जाता है, फिर सहृदय के हृदय की तो बात ही क्या ? पाठक इस वर्णन को पढ़कर स्वयं अपने सहानुभूति-पूर्ण हृदय की दशा निरखिए—

"कि कहब माधव तनिक विशेषे ;
अपनुहु तनु धनि पाव कलेशे ।
अपनुक आनन 'आरसि हेरी ;
चानक भरम कोप कत वेरी ।
भरमहु निअ कर उर पर आनी ;
परसै तरस सरोरुह जानी ।

चिकुर-निकर निअ नयन निहारी ;
जलधरजाल जानि हिय हारी।
अपन बचन पिकरव अनुमाने ;
हरिहरि तेहु परितेजय पराने।"

वाह, गजब की विरह-दशा है! अपने ही शरीर से भय!—आश्चर्य! दर्पण में अपना ही मुख देखकर सत्यभामा उसे चंद्र समझती और डर से काँप उठती है। अपने ही केशपाश को देखकर नील घन घटा की भ्रांति से उसका हृदय बैठ जाता है! अपने ही मधुर वचनों में कोकिला की काकली की भ्रांति हो जाती है! पाठक ही बतावें, विरह में ऐसी भ्रांति—ऐसा पागलपन—अपने प्यारे शरीर से ही भय खाना—अलौकिक नहीं है?

उपालंभ

अब जरा दूसरी ओर दृष्टि डालिए। जब कभी सत्यभामा को कुछ भी सुध आती है, वह छलिया कृष्ण की अनुचित करतूतों पर शोक प्रकट करती है; कृष्ण की मीठी बातों में आकर अपना दिल दे देने के लिये, अपने को भला बुरा कहती है—

"हरि सो प्रेम आस कय लाओल
पावल परिभव ठामे ;
जलधर छाहरि तर हम सुतलहु
आतप मेल परिनामे।
(सखि हे) मन जनु करिय मलाने;
अपन करम फल हम उपभोगब
तोहे किय तेजह पराने। (ध्रुव)
पुरब पिरीति रीति हुनियँ बिसख
तइओ न हुनकर दोसे ;
कतेक जतन धरियँ परिपालिय
साँप न मानय पोसे।

कबहु नेह पुनि नहिं परगासब
केवल फल अपमाने ;
बोरि सहस दस अमिय मिजाविय
कोमल न होय पखाने ।"

कितना मीठा उपालंभ है ! गोपी-भुजंग काले कृष्ण के ऊपर ये वचन कितने फबते हैं ! गोपियों के साथ रासलीला करनेवाले कृष्ण की कितने ही यत्न करने पर भी पोस न माननेवाले भुजंग के साथ उपमा क्या ही अनुरूप है ! पारिजातहरण में गीतगोविंद की छाया कहीं-कहीं स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है ।

यह गीत गीतगोविंद के गीतों के ढंग का है । इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि उमापति के हृदय पर जयदेव ने अधिक प्रभाव डाला है । कई स्थानों पर इस प्रभाव की झलक स्पष्ट रूप से प्रकट होती है । उमापति ही नहीं, पीछे के समग्र कृष्ण-भक्त कवियों के पदों में गीत-गोविंद की छाया देख पड़ती है !

मानिनी-मनावन

साँवरे कृष्ण-जैसे रसिक-शिरोमणि का इस उपालंभ को भी सुनकर कानों पर हाथ रक्खे बैठे रहना कैसे संभव हो सकता था । झट आप सत्यभामा के महल में पधारे, और हाथ जोड़कर प्रियतमा को मनाने लगे—

"आज पुरुब दिसि बहलि सगर निसि
गगन मलिन भेल चंदा ;
मुनि गेलि कुमुदनि तइअओ तोहर
धनि मूनल मुख अरविंदा ।
कमल बदन कुवलय दुह लोचन
अधर मधुरि निरमाने ;
सगर सरीर कुसुम तुअ सिरजल
किए तुअ हृदय पखाने ।

असकति कर कंकन नहिं परिहसि
हृदय हार भेल भारे ;
गिरि सम गरुअ मान नहिं मुंचसि
अपरुप तव व्यवहारे ।"

कृष्ण की समझ में सत्यभामा का व्यवहार बिलकुल बेढंगा है। हृदय में सफेद मोतियों की माला तो भार-सी जान पड़ती है, परंतु गिरि के समान भारी (कठोर) मान अभी वह हृदय में छिपाए हुए है। क्या यह व्यवहार अपरूप नहीं ? इस मनावन में दूसरा पद्य तो बड़े ही मार्के का है ! देखिए, कितने मीठे शब्दों में एक रमणीय भाव प्रकट किया गया है। सत्यभामा का समग्र शरीर ही कुसुममय है। मुख कमल है, आँखें कुवलय हैं, और अधर भी तो माधुर्यमय फूल है। भला इतने कोमल शरीर में भी हृदय पत्थर का बना हुआ है। आश्चर्य है !

इतनी मनावन से भी अभीष्ट फल होते न देखकर कृष्ण नहीं रुकनेवाले थे। झट उन्होंने मनाना छोड़कर अपना दोष ही स्वीकार कर लिया वह अब सत्यभामा के दोषों को उचित दंड देने के लिये हठ करने लग गए। भावुक पाठक, देखिए, कृष्ण के वचन कैसे चातुरी से भरे हैं ! कितना सुन्दर व्यंग्य इनमें भरा हुआ है—

"मानिनि मानह जओं मोर दोसे;
शास्ति करिअ वरु न करिय रोसे।
भौंह कमान बिलोकन बाने;
बेधह बिधुमुखी कय समधाने।
पीन पयोधर गिरिवर साधी,
बाहु फाँस धनि धरु मोहि बाँधी।
को परिणति भय परसनि होही;
भूषन चरन कमल देह मोही।"

वाह-वाह ! कैसे मधुरिमा-पगे व्यंग्य-वचन हैं ! क्यों न हो, रसिक-शिरोमणि साँवरे ने ही जब इन वचनों को श्रीमुख से निकाला है। कृष्ण का यह कथन कितना उचित है कि जो मुझे दोषी समझो, तो मुझे दंड दो। मैं हर तरह तैयार हूँ। हे चंद्रवदनी, अपनी कमान-रूपी भौंहों से बाण-सदृश तीखे कटाक्ष छोड़ो। मैं उनसे विध जाने के लिये उद्यत हूँ। हाँ, यदि केवल बाणों से वेधना तुम्हें अभीष्ट न हो, तो लो, मैं फाँस में बँधने के लिये भी आया हूँ। अपने भुजपाशों से मुझे जकड़ दो। कौन ऐसी मानिनी होगी, जिसका पत्थर का भी कलेजा इन वचनों से पिघल न जाय ; जिसके मान की प्रबल दृढ़ ग्रंथि ढीली न पड़ जाय ? कौन ऐसा सहृदय भावुक होगा, जिसके हृदय में ये व्यंग्य-वचन आनंद-पूर्ण कौतूहल की धारा न बहा देंगे ?

ऊपर गीतगोविंद की छाया की बात कही गई है। कविवर को यह उक्ति गीतगोविंद के एक पद्य से सूझी है। जयदेव का वह मनोहर पद्य यह है—

"सत्यमेवासि यदि सुदति मयि कोपिनी
देहि खरनखरशरघातम् ;
घटय भुजबंधनं जनय रदखंडनं
येन वा भवति सुखजातम् !"

इस से श्रीकृष्णचंद्र मानिनी राधा की मानग्रंथि खोलने का यत्न कर रहे हैं। मैथिली गीति का 'बाहुफाँस धनि धरु मोहिं बाँधी' स्पष्ट ही 'घटय भुजबंधनम्' का अनुवाद जान पड़ता है।

परिजातहरण की कविता का निदर्शन हो चुका। संक्षेप में, कविता रसमयी है; ठौर-ठौर अनोखी उक्तियाँ भरी पड़ी हैं; शब्दमाधुर्य के साथ-साथ प्रसाद-गुण का मेल अत्यन्त आनन्ददायक है। नाटक की दृष्टि से भी इसे कुछ बुरा नहीं कह सकते। बाहरी घटनाओं को न दिखाकर केवल पारिजातहरण की ही घटना वर्णित है। भाषा की

दृष्टि से तो यह नाटक अपना बड़ा मूल्य रखता है। कुछ लोगों का ख्याल है कि विद्यापति की पदावली ही मैथिली भाषा का सर्व प्रथम निदर्शन है परन्तु यह नाटक इस विचार को भ्रांत सिद्ध करता है। यह नाटक विद्यापति (लगभग १४०० ई०) से करीब ७५ वर्ष पहले लिखा गया है। अतएव भाषातत्त्व के पंडितों को मैथिली भाषा के शब्दों के संबंध में इस नाटक से बहुत कुछ मदद मिलेगी।

पलटूदास

इस पुण्यभूमि भारत ने न-जाने कितने भगवद्भक्तों की अलौकिक लीलाओं को प्रत्यक्ष किया है। इसकी रज अनेक महात्माओं के पदों का स्पर्श कर अपने को कृत्यकृत्य मानती है। इसके एक छोर से दूसरे छोर तक भक्ति में सराबोर भक्तों ने दीन संसारी जनों पर असीम उदारता के भाव से प्रेरित होकर ऐसी सुधामयी बानी की वर्षा की है, जिसकी सरसता में अब भी न तनिक फीकापन आया है, न उसके माधुर्य में कटुता। बल्कि ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, उनकी बानी मधुरता में और भी गाढ़ी बनती जाती है, उनका महत्त्व निरन्तर बढ़ता जाता है तथा उनकी सत्यता कसौटी पर कसे जाने से और भी समुज्ज्वल दीखने लगती है। ऐसे कितने महात्मा हुए, उनकी संख्या हजारों में गिनने-योग्य है। कुछ पहुँचे हुए भक्तों की बानी तो किसी प्रकार प्रकाशित हो गयी है, परंतु अनेक महात्माओं के वचन-रत्न अब भी विस्मृति के गर्त में छिपे हुए हैं। वह हमारे लिए—खासकर हिंदी-साहित्य के लिए—सौभाग्य का दिन होगा, जब समग्र महात्माओं की अलौकिक बानी प्रकाशित होकर जिज्ञासु जनों के तप्त हृदय को शीतल बनावेंगी। आज ऐसे ही एक पहुँचे हुए महात्मा के दिव्य विचार तथा रसमयी कविता के अनूठे कतिपय निदर्शन मनोरञ्जन तथा ज्ञान-वृद्धि के लिए उपस्थित किये जाते हैं।

जीवनी

इन महाभक्त का नाम पलटूदास था। इनके जीवन की अनेक घटनाओं का अभी तक कुछ भी पता नहीं लगा है, तथापि यह निश्चित

रूप से ज्ञात है कि नगपुर-जलालपुर नामक गाँव में, जो फैजाबाद जिले में आजमगढ़ की पश्चिमी सीमा से मिला हुआ था, इनका जन्म एक काँदू बनिया के घर में हुआ था। उसी जगह गोविंद नामक किसी व्यक्ति को इन्होंने अपना गुरु बनाया तथा अयोध्याजी में आकर ये रहने लगे। अवध के नवाब शुजाउद्दौला के जमाने में ये वर्तमान थे, अतः अनुमान से जान पड़ता है कि इनको हुए करीब डेढ़ सौ वर्ष हुए। इनके नाम पर पंथ चला, जिसके मानने वाले आज भी भारत में बहुत से मनुष्य मिलेंगे। एक बनिये को नवीन मत की स्थापना करते देख कर हजारों बैरागी इनसे जलने लगे थे, जिसका वर्णन कभी कभी इनकी बानी में पाया जाता है—'सब बैरागी बटुर के पलटुहिं किया अजात'। इनकी भक्ति बड़े ऊँचे दर्जे की थी तथा इनका योगाभ्यास भी प्रशंसनीय था।

सिद्धान्त

ये महात्मा 'सतनामी' पंथ के अमूल्य हीरक थे। इस पंथ के अनुसार 'सत' नाम से—प्रख्यात ब्रह्म का सतत जप, ध्यान, मनन तथा कीर्तन से—ही अखिल मुक्ति की उपलब्धि होती है। पलटूदास का सिद्धांत भक्ति तथा योग की सुदृढ़ भित्ति पर अवलम्बित है। जो निखिल जगत् का नियामक परमात्मा है, उसे आप अपना 'प्राण-प्यारा' समझते हैं तथा अपने को उसके प्रेम के रंग में रँगी हुई 'प्रिया'। उसकी भक्ति-भावना से—तन्मयता से—जो अभेद अन्त में उत्पन्न हो जाता है: इन्होंने उसका वर्णन फड़कती परन्तु सीधी भाषा में किया है। पाठक, इनकी ऊँची अनुभूति पर जरा ध्यान दें। आप कहते हैं कि मैं उस प्यारे की खोज में निकली, परन्तु उसे पाकर मैं अपने अस्तित्व को ही भूल गयी। प्रिय का ध्यान करते करते भृंगी-कीट न्याय के अनुसार मैं स्वयम् पिय के रूप में बन गयी, जिस प्रकार अग्नि में डाली गयी वस्तु स्वयम् आग ही बन जाती है तथा नदी समुद्र में मिलकर अपनी हस्ती को खो बैठती है। जब मैं रही ही नहीं,

तो अपना सन्देशा ही कैसे सुनाऊँ ? भक्ति की तल्लीनता का कैसा सच्चा चित्र है—

> पिय की खोजन में चली आपुहि गई हिराय ॥
> आपुहि गई हिराय कवन अब कहै सँदेसा,
> जेकर पिय में ध्यान भई वह पिय के भेसा ॥
> आग माँहि जो परै सोऊ अग्नी हो जावै,
> भृङ्गी-कीट को भेंटि आपु सम लेइ बनावै ॥
> सरिता बहि के गई सिन्धु में रही समाई,
> शिव सक्ती के मिले नहीं फिर सक्ती आई ॥
> पलटू देवल कहँ कहा मत कोउ झाँकन जाय,
> पिय की खोजन में चली आपुहि गई हिराय ॥

इस कुण्डलिया को पढ़कर जी मचल मचलकर कहता है कि अवश्य ही पलटूदास का प्रेम आदर्श कोटि का था तथा वह केवल शब्द-मात्र न होकर वास्तविक अनुभव पर टिका था। इसे पढ़कर उस उर्दू कवि की बात भी जी में आ गड़ती है, जिसने अपने सनम की खोज में अपनी हस्ती ही भुला दी।* ऐसी ऊँची अनुभूति ईश्वर के सतत कीर्तन से ही प्राप्त हो सकती है।

पलटूदास योग के अभ्यास के भी पूरे अनुरागी थे। सतगुरु की कृपा से उस 'सत' को कहीं बाहर तीर्थों में ढूँढ़ने की जरूरत नहीं पड़ती, बल्कि वह इस काया के भीतर ही अपना डेरा डाले हुए है। केवल अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए, फिर देखिये, वह क्यों न दिखायी देगा ? संक्षेप में उनका यही सिद्धान्त था कि उस परमपिता की प्राप्ति कोरी भक्ति से ही नहीं हो सकती, बल्कि उसके लिए तपश्चर्या की भी आवश्यकता है। जब तक यह देह पवित्र नहीं हो पाया है, तब तक उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है। अतएव योग का भी आश्रय लेना ही पड़ेगा।

---

* उसे खोजा बहुत हमने न पाया।
अगर पाया तो खुद अपना न पाया॥

कविता

लेखक पलटूदास की कविता को अत्यन्त प्रभावशालिनी समझता है। वह उसकी सरसता, सरलता तथा मधुरता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। अधिकांश महात्माओं के उपदेश नीरस हैं। कविता की दृष्टि से उनका बहुत मूल्य नहीं है। उनमें यतिभंग है तथा शब्दों का बलात्कार मरोड़। परन्तु पलटूदास की कुण्डलियाँ कविता की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्व की हैं। वे इतनी सरल हैं कि साधारण मनुष्य भी समझ सकता है, चोटीली ऐसी हैं कि पढ़ते पढ़ते हृदय में उन भावों की तरंग उमड़ने लगती है। उदाहरणार्थ कतिपय पद्य दिये जाते हैं। जिनको उनकी कविता का पूरा आस्वादन अभीष्ट हो, वे उनकी 'बानी' तथा 'शब्द' जो सन्त-बानी-संग्रह, प्रयाग से प्रकाशित हुई हैं, अवश्य पढ़ें।

प्रेम तो चकोर का ही श्लाघनीय है। वह पल भर चन्द्रमा से अपनी दृष्टि नहीं हटाता। वह चन्द्रमा के विरह में आग चुगता है। उसका चित्त चन्द्रमा में ही लगा रहता है। जिस ओर चन्द्रमा जाता है वह भी उसी ओर फिरता जाता है तथा चन्द्र के डूबने पर वह उसे आग के भीतर देखता है। मधुकर भी प्रवीण प्रेमी है, जो अपने को बँधाना पसन्द करता है, परन्तु प्रेम नहीं छोड़ता। पतंग भी दीपक पर अपनी आहुति कर देता है। उस ईश्वर के प्रति ऐसा ही सच्चा स्नेह करना चाहिए—

जैसे चन्द चकोर पलक से टारत नाहीं,
चुगै बिरह से आग रहै मन चन्दे माँही॥
फिरै जेहाँ दिस चन्द तेही दिस को मुख फेरै,
चन्दा जाय छिपाय आग के भीतर हेरै॥
मधुकर तजै न पद्म जान से जाय बँधावै,
दीप में ज्यों पतँग प्रेम से प्रान गँवावै॥
पलटू ऐसी प्रीति कर परधन चाहै चोर,
आठ पहर निरखत रहै जैसे चन्द चकोर॥

पाठकों ने सांसारिक होली तो सदा खेली है तथा नेत्रों से देखी है। आइये, पलटूदास के साथ हम सब प्रेम की होली खेलें। यदि आप इसे खेलने में आनाकानी करें, तो कम से कम इस होली का सुहावना दृश्य तो अपनी सूक्ष्म आँखों के सामने उपस्थित कीजिये—

खेल सिताबी फाग तूँ बीती जाति बहार ॥
बीती जाति बहार सम्बत लगने पर आया,
लीजै डफ्फ बजाय सुभग मानुपतन पाया ॥
खेलो घूँघट खोल लाज फागुन में नाहीं,
जो कोउ करि हैं लाज, काज सपनहुँ में नाहीं ॥
प्रेम की भरि लै माट, सुरत की कर पिचकारी,
ज्ञान अबीर बनाय, नाम की दीजै गारी ॥
पलटू रहना है नहीं सुपना यह संसार,
खेल सिताबी० ॥

अच्छी बात है; होली मजे में खेलिये, परन्तु होली खेलते समय भी इस देह की असत्यता को कभी न भूलने दीजिये। यह तो केवल बालू को भीत, घास पर की शीत तथा पानी के बीच बताशे की तरह निराशा उपजानेवाली है; इस पर भरोसा कैसा ? पलटूदास के शब्दों में—

धूँआ का धौरे हरा ज्यो बालू को भीत ॥
ज्यों बालू की भीत ताहि को कौन भरोसा,
ज्यों पक्का फल डार गिरत से लगै न दोसा ॥
कच्चे घड़े ज्यों नीर पानी के बीच बतासा,
दारू भीतर अगिन, जीवन की ऐसी आसा ॥
पलटू नरतन जात है घास के ऊपर सीत,
धूँआ का धौरे० ॥

ऐसे क्षणभंगुर जीवन में खयाली पुलाव पकाने से लाभ क्या ? हवाई महल उठाने से फायदा क्या ? आइये, कुछ उपाय सोचा जाय। उपाय नजदीक ही है। यदि हम अपनी बुद्धि तथा मन को ऐसा

शुद्ध बना दें—इनका मैला हटाकर ऐसा निर्मल कर दें—कि संसार में रहते हुए संसार की कर्मवासना रूपी दुर्गन्धि इसे मैला न बना डाले, तो इससे बढ़कर क्या चाहिए ? दवा आपके पास ही है, सतगुरु आपकी सहायता के लिए हाथ फैलाये बैठे हैं। यदि इस सुयोग का लाभ न उठाया जायगा, तो 'का वर्षा जब कृषी सुखाने' की कहावत हमपर चरितार्थ होने लगेगी।

धुबिया फिर मर जायगा चादर लीजै धोय ॥
चादर लीजै धोय मल है बहुत समानी,
चल सतगुरु के घाट भरा जहँ निर्मल पानी ॥
चादर भई पुरान दिनौ दिन बार न कीजै,
सतसंगत में सौद ज्ञान का साबुन दीजै ॥
छूटे कलमल दाग, नाम का कलप लगावै,
चलिये चादर ओढ़, बहुरि नहिं भवजल आवै ॥
पलटू ऐसा कीजिये मन नहिं मैला होय,
धुबिया फिर मर० ॥

ईश्वर का अस्तित्व बाहर थोड़े ही है; किसी एक स्थान में—मन्दिर, मसजिद या गिरजे—में उस अपरिमेय का निश्चित निवास थोड़े है; वह तो प्रत्येक के अन्तःकरण में सर्वदा रहता है तथा उससे एक इञ्च भी जगह खाली नहीं है। जिस प्रकार फूल में सुगन्धि, काठ में आग, दूध में घी तथा मेंहदी में लाली है, उसी प्रकार इस असार संसार का सार परब्रह्म घट घट में व्याप्त है। उसे परखने की आवश्यकता है। सांसारिक झमेले में पड़ने से भला लाभ क्या हो सकता है ? पलटूदास ने इस तत्व को कितनी सरलता से व्यक्त किया है—

बैरागिन भूली आपमें जल में खोजै राम ॥
जल में खोजै राम जाय के तीरथ छानै,
भरमै चारों खूँट नहीं सुध अपनी आनै ॥
फूल माँहि ज्यों बास, काठ में अगिन छिपानी,

खोदे बिन नहीं मिलै, आहि धरती में पानी ॥
जैसे दूध घृत छिपा छिपी मेंहदी में लाली,
ऐसे पूरनब्रह्म कहूं तिल भर नहिं खाली ॥
पलटू सतसंग बीच में करि लै अपना काम,
वैरागिन भूली० ॥

स्नेहीजन ही प्रेमी के तड़फड़ाते हृदय को जान सकते हैं। जिसके हृदय से कभी प्रेम की आह नहीं निकली, भला वह 'स्नेह की पीर' क्या जाने ? उस स्नेही के वियोग में जो असीम व्याकुलता होती है—अथवा नारद के शब्दों में 'तद्विस्मरणे परम व्याकुलता च'—उसकी असलियत का पता प्रेमीजन के अनुभवप्राप्त हृदय ही जान सकते हैं। जिसने 'आप बीती' नहीं जानी, उसे पता ही क्या लगेगा ?

प्रेमबान जाके लगा सो जानैगा पीर ॥
सो जानैगा पीर काह मूरख से कहिये,
जामे लगै न ज्ञान ताहि से चुपके रहिये ॥
लाख कहै समुझाय बचन मूरख नहिं मानै,
तासों कहा बसाय टान सो अपनी ठानै ॥
जाको जगत पियार ताहि सों भक्ति न आवै,
सतसंगत से विमुख और के सन्मुख धावै ॥
जिनकर हिया कठोर है पलटू धसै न तीर,
प्रेम बान जाके० ॥

पलटूदास कहते हैं कि ऐसी निरन्तर भक्ति करने से जीव मुक्त हो जाता है। आखिर मुक्ति है क्या ? वैष्णवभक्त 'कैंकर्य' (दास्य) को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। इस जगत् से मुक्ति तभी मिलती है, जब यह जीव उस सकलगुणनिधान के समीप में सदा उनकी सेवा करता हुआ आनन्द लूटता है। उनका किंकर बनकर सुखसागर में सदा गोता मारना ही मुक्ति की उत्तम अवस्था है परन्तु पलटूदास की मुक्ति वैष्णवों का 'कैंकर्य' न होकर वेदान्तियों का 'ब्रह्माद्वैत' हो जाता है। जीव तथा ब्रह्म

में तनिक भी भेद नहीं। जिस प्रकार जल से तरंग उठती है, फिर भी अन्त में जल में ही लीन हो जाती है, उसी भाँति यह जीव ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है और यह उसीमें मिलकर एक हो जायगा—

जल सों उठत तरंग है जल ही माँहि समाय ॥
जल ही माँहि समाय सोइ हरि सोई माया,
अरुझा वेद पुरान नहीं काहू सुरझाया ॥
फूल में है ज्यों बास, काठ में आग छिपानी,
दूध में है घिउ रहै नीर घट माँहि लुकानी ॥
जो निर्गुन सो सगुन और नहिं दूजा कोई,
दूध जो कोइ कहै ताहि को पातक होई ॥
'पलटू' जीव और ब्रह्म सों भेद नहीं अलगाय,
जल सों उठत तरंग है जल ही माँहि समाय ॥

खण्ड ३

लो क का व्य

भोजपुरी—एक अनुशीलन

भोजपुरी का नामकरण बिहार प्रान्त के आरा जिले के डुमराँव नामक स्थान से १ मील पूर्व में स्थित 'भोजपुर' नामक गाँव के कारण पड़ा है। यह डुमराँव राज्य की प्राचीन राजधानी थी। वर्तमान भोजपुर आजकल एक सामान्य गाँव होने पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी भोजपुर को विख्यात वीर आल्हा और ऊदल की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। मध्य युग में उज्जैन वंशी (उजेन) राजपूतों ने राजपूताने से आकर यहाँ अपना विस्तृत राज्य स्थापित किया था। भोजपुरी उन लोगों की बोली है जिनके नस नस में वीर रस का संचार रहता है, जो 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति' के गर्हणीय सिद्धान्त का पूर्ण तिरस्कार कर अपनी पराक्रमी भुजाओं का सहारा लेते हैं और सुदूर विदेशों में भी अपने प्रबल प्रताप की पताका फहराते हैं। जिस प्रकार भारत के भाल को ऊंचा करने वाला वीर राजस्थान स्वतन्त्रता के नाम पर मर मिटने वाले अपने सपूतों के कारण से प्रसिद्ध है उसी प्रकार भोजपुर-मण्डल—शाहाबाद, बलिया, छपरा, गाजीपुर, आदि जिलों की भूमि—अपने वीर निवासियों की कार्यावली से विख्यात है। भोजपुर निवासियों के रग रग में अक्खड़पन रहता है। इसका परिचय हम इस प्रसिद्ध कहावत से पाते हैं :—

भागलपुर का भगेलुआ भइया, कहलगाँव का ठग्ग।
जो पावे भोजपुरिया तो तोरे दोनों का रग्ग॥

प्रसिद्ध भाषाविद् डा० ग्रियर्सन का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि भोजपुरी उस उत्साही जाति की व्यावहारिक भाषा है जो परिस्थिति के

अनुरूप अपने को बदलने के लिये सदा तैयार रहती है और जिसका प्रभाव हिन्दुस्तान के प्रत्येक भाग पर पड़ा है। हिन्दुस्तान में सभ्यता फैलाने का यश बंगालियों तथा भोजपुरियों को प्राप्त है। इस काम में बंगालियों ने अपनी कलम से काम लिया है तथा वीर भोजपुरियों ने अपने डण्डे से। भोजपुरियों की इस वीर प्रकृति में ही बिरहा, लोरकी, आल्हा आदि वीररस प्रधान लोक गीतों के उत्थान का रहस्य छिपा हुआ है। अक्खड़पन को जतानेवाली लाठी के वर्णन में गिरिधर कविराय की यह कुण्डलिया भोजपुर-निवासियों का जातीय गान स्वीकार की जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

> लाठी में गुन बहुत हैं सदा राखिये संग।
> नदी नार अगाह जल तहाँ बचावे अंग॥
> तहाँ बचावे अंग झपट कुत्ता को मारै।
> दुस्मन दावागीर होइ तिनहूँ को झारै॥
> कह गिरिधर कविराय बात बाँधा यह गाँठी।
> सब हथियारन छाड़ि हाथ में राखा लाठी॥

विस्तार

भोजपुरी का विस्तार बहुत अधिक है। इसके बोलनेवालों की संख्या मराठी भाषा के बोलनेवालों से भी अधिक है। मराठी बोलने वालों की संख्या दो करोड़ से कम है परन्तु भोजपुरी बोलने वालों की संख्या दो करोड़ से भी अधिक है। व्रज भाषा के बोलने वाले केवल ८० लाख के लगभग हैं। विहारी की तीनों बोलियों में भी भोजपुरी का ही नम्बर इस दृष्टि से पहला है। मैथिली बोलने वालों की संख्या १-करोड़ से कुछ ऊपर है और मगही की संख्या लगभग ७० लाख के है। इस प्रकार भोजपुरी अपनी हमजोलियों से ही संख्या और विस्तार में अधिक नहीं है, प्रत्युत दूरस्थित अपनी बहनों—व्रज और मराठी से भी कहीं बढ़ चढ़कर है। इतना होने पर भी क्या यह कम दुःख की बात नहीं है कि इसका साहित्य अभी तक समृद्ध रूप में नहीं दीख पड़ता।

यह अभी तक लिखित अवस्था में भी नहीं है। भोजपुरी साहित्य की अभिवृद्धि न होने का प्रधान कारण राजाश्रय का अभाव है। भोजपुर मण्डल में किसी व्यापक प्रभावशाली नरपति का पता नहीं चलता। इस मण्डल में अधिकतर किसानों की ही बस्तियाँ हैं। किसी गुणग्राही राजा के आश्रय न मिलने से हमारी बोली का साहित्य समृद्ध न हो सका। भोजपुरी को न तो विद्यापति ही मिले और न सूरदास ही। तब मैथिली तथा ब्रजभाषा के समान इसकी वृद्धि हो तो कैसे हो? यदि कोई प्रतिभा-सम्पन्न कवि इसे भी मिल गया होता तो स्वभाव से सरल तथा मधुर होने के कारण से इसका भी साहित्य रसिकों के गले का हार बन गया होता। परन्तु भोजपुरी के लोकगीतों को पढ़कर हम भलीभाँति कह सकते हैं कि भोजपुरी में भी माधुर्य है, हृदय को बरबस अपनी ओर खींचनेवाले भावों तथा शब्दों का मधुमय सम्मिलन है. चित्त को आनन्द-सागर में विभोर बना देने वाले रसों का शोभन परिपाक है।

प्राचीन कवियों द्वारा भोजपुरी का प्रयोग

हिन्दी के मान्य प्राचीन-काव्यों में भोजपुरी का प्रयोग मात्रा में कुछ कम नहीं है। हिन्दी के अनेक महाकवियों ने इस भाषा के शब्दों को अपनी कविता में स्थान दिया है। कबीर, जायसी तथा तुलसी की कविताओं में इस भाषा के शब्द अनेक स्थानों में बिखरे पड़े हैं। कबीर तथा तुलसी का कार्य-क्षेत्र विस्तृत भोजपुर मण्डल के अन्तर्गत ही था। कबीर तो काशी के ही निवासी थे और बाबा तुलसीदास की कर्मभूमि काशी ही थी। परन्तु जायसी तो ठेठ अवध के रहने वाले थे। उनकी भाषा में भोजपुरी शब्दों का चुनाव अवश्य ही इस भाषा के सौन्दर्य का सूचक है। कबीरदास का यह पद्य ठेठ भोजपुरी में ही लिखा गया है।

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़वलें,
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गइले बकरा।

कहहिं कबीर सुनो भाई साधो,
जम दरवजवा बान्हल जइबे पकरा।

जायसी की इन चौपाइयों में हमारी बोली अपना आसन जमाये बैठी है:—

सबै कटक मिलि गोरहि छेंका, गूँजत सिंह जाइ नहि टेका।
सिंघ जियत नहिं आप धरावा, मुये पाछ कोई घिसियावा॥

तुलसीदास के रामायण में तो भोजपुरी का व्यापक प्रभाव स्पष्ट ही दीख पड़ता है। रामायण में ७० प्रतिशत ऐसे शब्द मिलेंगे जिनका संबंध हमारी ही बोली से है। तुलसीदास ने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो ठेठ भोजपुरी के हैं तथा जिनका प्रचलन भोजपुर-मण्डल को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है। उदाहरण के लिये 'जिमि गँव तकइ किरात किशोरी; जीवन मूरि जिमि जुगवत रहऊँ, अचल होइ अहिवात तुम्हारा। जो राउर अनुशासन पाऊँ' आदि चौपाइयों में गँव ताकना, जुगवत रहना, आदि क्रियापद तथा अहिवात और राउर जैसे संज्ञा पदों का प्रयोग वही व्यक्ति कर सकता है जो हमारे गाँवों में बोली जानेवाली बोली से नितान्त परिचित हो। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि हिन्दी के प्राचीन कवियों ने भोजपुरी के व्यापक प्रभाव को पहचाना था तथा उसे कविता के लिये सर्वथा उपयुक्त माना था।

भोजपुरी साहित्य

आधुनिक काल में भोजपुरी भाषा के महत्त्व की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करनेवाले पहले व्यक्ति डाक्टर सर ग्रियर्सन थे जिन्होंने लण्डन की रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका (जिल्द १६, १८) में तथा इण्डियन एण्टिकेरी (१८८५) में भोजपुरी के अनेक गीतों का संग्रह अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। इस भाषा का व्याकरण भी उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया। अंग्रेजी विद्वानों

में डाक्टर वीम्स, डाक्टर हार्नली तथा सर कैम्पवेल ने इस वोली की विशेषताओं पर बहुत कुछ लिखा है परन्तु ग्रियर्सन का प्रयत्न इस क्षेत्र में नितान्त श्लाघनीय है। यह हर्ष का विषय है कि इनके प्रयत्नों से प्रेरित होकर देशी विद्वानों ने भी भोजपुरी के उद्धार का बीड़ा उठाया। साहित्य-प्रेमी मझौली नरेश लाला खड्गबहादुर मल्ल ने 'सुधाबूँद' में ६० भोजपुरी-कजरियों का संग्रह किया (बाँकीपुर, १८८४)। पं० रविदत्त शुक्ल ने 'देवाक्षर चरित' नामक नाटक के अनेक दृश्य इसी बोली में निबद्ध किये हैं (बनारस १८८४ ई०) तथा 'जंगल में मंगल' नामक पुस्तक में उस समय बलिया में होने वाली घटनाओं का भोजपुरी में वर्णन किया है (बनारस १८८६ ई०)। पं० रामगरीब चौबे के 'नागरी विलाप' की अनेक कवितायें भोजपुरी में लिखी गई हैं (काशी १८८६ ई०)। भारतजीवन प्रेस के स्वामी बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'बिरहा नायिका भेद' लिखकर साहित्यकों का विशेष मनोरंजन किया है। बलिया जिले के भोजपुरी कवि पं० दूधनाथ उपाध्याय लिखित 'गोविलाप छन्दावली' और 'भरती के गीत' को जिन लोगों ने पढ़ा है वे भोजपुरी के माधुर्य को कभी भूल नहीं सकते।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हम भोजपुरी के मान्य कवियों को भूलते जा रहे हैं। सीवान के पास रहनेवाले लक्ष्मी सखी ने अनेक पुस्तकों की रचना हमारी प्यारी भोजपुरी में करके हमारी भाषा के महत्त्व को बढ़ाया है। इधर अनेक विद्वानों ने भोजपुरी साहित्य के उद्धार का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। डा० कृष्णदेव उपाध्याय एम० ए० ने दो बृहत्काय भागों में भोजपुरी साहित्य के ग्राम-गीतों के रूप में बिखरे हुए रत्नों को एकत्रित कर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित किया है श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह ने 'भोजपुरी लोक गीतों में करुण-रस' नामक ग्रन्थ में भोजपुरी गीतों का अच्छा संग्रह प्रकाशित किया है। इन विद्वानों ने जो सामग्री उपस्थित की है वह भोजपुरी बोली के अनु-

सन्धान-कर्ताओं के लिए बहुमूल्य है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने भी इस बोली में दो चार छोटे नाटक लिखे हैं जो बहुत ही सुन्दर तथा आकर्षक हैं। अब भोजपुरी बोली के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर भी अधिकारी विद्वानों की दृष्टि आकृष्ट हुई है। इस दिशा में डाक्टर उदयनारायण त्रिपाठी एम० ए० डि० लिट् का प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है जिन्होंने भोजपुरी भाषा का बृहत्काय तथा वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत कर हमारी बोली को महत्ता प्रदान की है। संभवतः यह पहला ही अवसर है जब किसी विद्वान् को किसी प्रान्तीय बोली (डाइलेक्ट) के व्याकरण लिखने के लिये डाक्टर की उपाधि मिली हो। इसी बात से आप भोजपुरी के महत्व को स्वतः समझ सकते हैं। हम डाक्टर उदयनारायणजी को हृदय से धन्यवाद देते हैं जिन्होंने अपनी रचना से हमारी बोली को गौरवान्वित किया है। यह ग्रंथ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना की ओर से अभी प्रकाशित हुआ है।

भोजपुरी की उपादेयता

भोजपुरी ग्रामगीतों का संग्रह अत्यन्त आवश्यक है। इन गीतों के संग्रह का रुचिर परिणाम यह होगा कि हिन्दी-भाषा की शब्द-सम्पत्ति नितान्त समृद्ध होगी। हिन्दी की सर्वाङ्गीण उन्नति होने पर भी जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि देहाती ग्रामीण विषयों पर लिखने के समय लेखक को शब्दों का टोटा होने लगता है। यह बात कुछ विचित्र सी जान पड़ती है पर है सोलहो आने सच्ची। अपने रोज-मर्रे के परिचित विषयों के नाम से भी हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं विशेषतः खेती बारी की चीजों से। उदाहरण के लिये कई आवश्यक शब्दों की परीक्षा कीजिए। भोजपुरी में बच्चा देने की अवस्था प्राप्त होने पर भी जो गाय बच्चा नहीं देती उसे 'कलोर' कहते हैं। गाय के तुरन्त उत्पन्न बच्चे को (जिसे वेद में धरुण कहते हैं) लेरुवा कहते हैं। गर्भघातिनी गाय का नाम है लड़ायल और बाँझ गाय को कहते हैं 'बहिला'। यह बहिला शब्द भाषा की दृष्टि से संस्कृत शब्द 'वशा' के

अनुरूप ही है। इस प्रकार गाय की विभिन्न अवस्थाओं के सूचक जो सार्थक शब्द भोजपुरी में उपलब्ध होते हैं इनके अनुरूप खड़ी बोली में ढूँढ़ने पर भी शब्द नहीं मिलेगे। अतः भोजपुरी से इन शब्दों को बिना लिये हिन्दी भाषा का भाण्डार कदापि नहीं भर सकता। इसी प्रकार से आसावती, उरेहना, चेलिक, अनुहार, सुहवा, रमझल्ला आदि भोजपुरी के ऐसे सार्थक तथा अर्थाभिव्यञ्जक शब्द हैं कि इन्हें अपनाने से खड़ी बोली में व्यापकता के साथ जीवट भी आवेगा। उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त भोजपुरी के मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ इतनी अनूठी तथा भावपूर्ण हैं कि इनके व्यापक रूप से प्रयोग करने से ही हिन्दी का कल्याण निश्चित संभव है। इन्हें प्रान्तीय तथा ग्रामीण कहकर अनादर की दृष्टि से देखना उचित नहीं है। ये ग्राह्य हैं, उपेक्षणीय नहीं। इनके कतिपय उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

एक त बुनी अपने गोर, दोसरे अइली कमरिया ओढ़।
एहि कमाई पर तेल बुकवा।
ए मँगमुड़ना, का ए पटिया सँवरनी।
जिन बिअइली तिन तवइली, बेटा ले पड़ोसिन भंइली।

अब भोजपुरी बोली के कतिपय मुहावरों को देखिये:—

पाताल खिलना = बहुत दूर चला जाना।
फिरहिरी होना = कार्य में व्यग्र होना।
लगा लगाना = किसी कार्य को आरम्भ करना।
तरवा में आग लगना = क्रोध से आग बबूला होना।
हाथे दही जमाना = मार खाने पर भी चुप रहना।
हाथ झुलाते आना = असफल होकर लौट आना।

इन मुहारों में इतनी भावव्यञ्जकता वर्तमान है कि इनकी उपेक्षा सवथा निन्दनीय है। मेरा पूरा विश्वास है कि यदि भोजपुर की इन लोकोक्तियों तथा मुहावरों का समावेश खड़ी बोली में किया जाय तो उसकी साहित्य-वृद्धि होने के अतिरिक्त वह अवश्य व्यापक बन

जायेगी। इसीलिये खड़ी बोली का भी कल्याण इसी में है कि भोजपुरी का साहित्य पनपे, कवि तथा लेखक भोजपुरी में अपनी रचना कर इसे समुन्नत तथा गौरवशाली बनावें।

भोजपुरी-साहित्य की सुषमा

भोजपुरी साहित्य के सर्वस्व लोकगीत हैं जो आज भी इस मण्डल के नरनारियों का मनोरञ्जन किया करते हैं। इन गीतों में चित्रित अवस्था का संबंध ग्राम्य जीवन से है परन्तु इनमें प्रदर्शित भावों में सर्वथा नागरिकता भरी पड़ी है। इन गीतों में आलंकारिक चमत्कार की कमी नहीं है। हिन्दी काव्य की अधिकांश उपमायें परम्परा भुक्त होने से बासी तथा फीकी लगती हैं परन्तु इन भोजपुरी गीतों की उपमायें नितान्त स्वाभाविक हैं। ये स्वच्छंद बहने वाली वायु की तरह स्वतन्त्र हैं, तो जंगल में स्वतः खिलने वाले फूलों की तरह सुन्दर हैं। भोजपुर का यह अज्ञात कवि मुख की उपमा सूरज-ज्योति से देता है, आँख की उपमा आम की फली से, नाक की सुग्गे की टोर से, भौंहों की चढ़ी कमान से, ओठ की काटे हुए पान से, बाहों की सोने की छड़ी से, पेटकी पुरइन के पत्ते से, पीठ की धोबी के पाट से और पैरों की केले के खम्भों से। साहित्यिज्ञों से यह बतलाने की आवश्यकता कहाँ कि ये सब उपमायें काव्य जगत् में बिल्कुल अनूठी और अपूर्व हैं।

भोजपुरी-गीत

भोजपुरी गीतों की मधुरिमा किस साहित्यिक के मानस में आनन्द की लहरी उद्वेलित नहीं करती? भाषा का सौन्दर्य तथा भावों का सौष्ठव—किसी भी दृष्टि से इनकी समीक्षा की जाय इनका स्थान उच्चकोटि के काव्यों में किया जायगा। भोजपुरी मैथिली तथा बँगला की सगी बहिन है। ये तीनों ही मागध अपभ्रंश की हमजोली बेटियाँ हैं। भोजपुरी का यह शब्द-माधुर्य मागधी की देन है। मैथिली तथा

बँगला की शब्दमाधुरी से हमारे श्रवण भलीभाँति परिचित हैं। हमारी बोली में निबद्ध काव्यों की भी ठीक यही दशा है। भोजपुरी में ढलते ही कविता में एक अद्भुत शाब्दिक मोहकता उत्पन्न हो जाती है—ऐसी मोहकता कि आस्वाद लेनेवाले रसिकों के हृदय को बरबस मस्त बनाये देती है। कर कंगन को आरसी क्या ? छपरा जिले के सुप्रसिद्ध कवि लक्ष्मी सखी का यह भजन हमारे कथन को सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ होगाः—

मने मने करीले गुनावनि हो पिया परम कठोर।
पाहनो पसीजि पसीजि के हो नहि चलत हिलोर ॥ १ ॥
जे उठत विसय लहरिया हो छने छने में घँघोर।
तनिको ना कनखि नजरिया हो चितवत मोरे ओर ॥ २ ॥
भावे घरे ऑंगन ना सेजरिया हो नाहिं लहर पटोर।
बेंजन कवनो तरकरिया हो जइसे माहुर घोर ॥ ३ ॥
तलफीलें, आठो पहरिया हो गति मति भइलो भोर।
केहु ना चीन्हेला अजरिया हो बिनु अवध किसोर ॥ ४ ॥
कइसे सहीं बारी रे उमिरिया हो दुख सहज कठोर।
'लछमी सखी' मोरा नाहिं भावेला हो पथ भात परोर ॥ ५ ॥

इस गीत में शब्दों का माधुर्य जितना लुभावना है, भावों का चमत्कार भी उसी प्रकार श्लाघनीय है।

रसपरिपाक

भोजपुरी गीतों में रसों का परिपाक खूब ही हुआ है। पुत्र जन्म के समय जो 'सोहर' गाये जाते हैं उनमें उल्लास की अभिव्यञ्जना कितनी अच्छी है। परन्तु इन गीतों में करुण रस का परिपाक विशेष मात्रा में हुआ है। इस रस की अभिव्यक्ति इन गीतों में तीन अवसरों पर विशेषरूप से होती है—बिदाई, वियोग और वैधव्य। इन तीनों अवसरों पर सुखमय जीवन का अवसान हो जाता है तथा दुःख का नया अध्याय आरम्भ होता है; जीवन के वसन्त में अचानक पतझड़ शुरू हो

जाता है। इसलिए ये तीनों अवसर मनुष्य के कोमल हृदय पर गहरी चोट करनेवाले होते हैं। इन विषयों की जो गीतें भोजपुरी में उपलब्ध होती हैं वे करुण रस की मात्रा में उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती हैं। जिस प्रकार महाकवि भवभूति की करुण कविता सुनकर वज्र का हृदय भी टूक टूक हो जाता है और पत्थर भी रो उठता है--

अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

उसी प्रकार इन गीतों को पढ़कर भी पत्थर के समान कठोर हृदय पुरुष का भी कलेजा आँसुओं के रूप में पसीज पसीजकर बाहर निकल पड़ता है—

अँसुअन के मग जल बह्यौ हियो पसीज पसीज।

अब कतिपय उदाहरणोंसे मैं इस कथन की पुष्टि करना चाहता हूँ। भोजपुर की एक सुन्दरी परदेश जानेवाले पति से बिछोह के दिनों के बिताने की युक्ति पूछ रही है। सुनिये यह गीत दिल पर कितनी चोट पहुँचा रहा है—

जुगुति बताये जॉव। कवन बिधि रहबो राम। (टेक)
जो तुहुँ साम बहुत दिन बितिहैं,
अपनी सुरतिया मोरी बहियाँ पर लिखाये जॉव ॥ १ ॥
जो तुहुँ साम बहुत दिन बितिहैं,
बिरना बोलाइ मोके नइहर पहुँचाये जॉव ॥ २ ॥
जो तुहुँ साम बहुत दिन बितिहैं,
बहियाँ पकरि मोके गंगा भसिआये जॉव ॥ ३ ॥

इस गीत के प्रत्येक पद से करुण रस चुआ पड़ता है। यह गीत क्या है? करुण रस की कलशी है। वियोग की आशङ्का से उत्पन्न दुःख का इतना सरस तथा सजीव, अकृत्रिम और हृदयविदारक वर्णन खड़ी बोली में भी मिलना दुर्लभ है। इस गीत की सादगी पर विज्ञ आलोचक अपने को निछावर कर रहा है।

एक दूसरी विरहिणी की व्याकुलता को तो परखिये, जो प्रिय का वियोग न सहकर उसकी खोज में निकल पड़ती है और बटोहियों से उसका पता पूछती है। इस गीत में बड़ा ही लोच है—द्रुत लय है। इस 'झूमर' का पूरा स्वाद झूम झूमकर गानेवाली कलकण्ठ कामिनियों के 'कोरस' में ही मिल सकता है। विरहिणी की बातें तो कान लगाकर सुनिये—

आजके गइल भौंरा कहियाले लवटब, कतेक दिनवाँ
हम जोहों तोरी बटिया, कतेक दिनवाँ। १।
गनत गनत मोर अँगुली भइल खियानी, चितवते दिनवाँ
नैनवाँ ढुरे लोरवा चितवते दिनवाँ। २।
एक बने गइलीं दूसरे बने गइलीं तीसरे बनवाँ
मिलल गोरू चरवहवा तीसरे बनवाँ। ३।
गोरू चरवहवा तुहीं मोर भइआ कतहूँ देखल ना।
मोर भँवरा परदेसिया कतहूँ देखल ना। ४।

भोजपुरी भजन भी बड़े प्रभावशाली हैं। इनमें संसार की निःसारता, जीवन की अनित्यता, सम्पत्ति की क्षणभंगुरता का सुन्दर प्रतिपादन मिलता है। बूढ़ी स्त्रियां जब तीर्थयात्रा या गंगास्नान के लिए संघ बाँधकर जाती हैं, तब इन भजनों को गाया करती हैं। भजनों का कोमल भाव, वृद्धाओं के कण्ठ से निकली भक्तिविह्वल ध्वनि, प्रातःकाल का सुहावना समय—ये तीनों मिलकर इन्हें इतना रसमय बना देते हैं कि सुननेवालों का हृदय इस विषय प्रपञ्च से दूर हटकर भगवद्भक्ति के सरोवर में गोता लगाने लगता है। इन भजनों में रहस्यवाद भी पूरी मात्रा में है।

गीतों में भोजपुरी का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है, तो 'बिरहों' में भोजपुरी का अक्खड़पन दीख पड़ता है। परन्तु इन बिरहों में सरल सुभग भावों का भी सन्निवेश हमें उपलब्ध होता है। बिरहों के उद्गम के विषय में किसी भोजपुरी कवि की उक्ति बड़ी मार्मिक है—

नाहीं बिरहा कर खेती भइया
नाहीं बिरहा फरे डाढ़ ।
बिरहा बसेला हिरिदया में ए रामा,
जब उमगेले तब गाव ॥

किसी स्वाधीनपतिका की व्यङ्गमयी उक्ति का आस्वादन कीजिये—

रसवा के भेजलीं भँवरवा के संगिया
रसवा ले अइलेहा थोर ।
अतना ही रसवा में केकरा के बटवों
सगरी नगरी हित मोर ॥

इस विरहे में भँवर (पति और भौंरा) तथा रस (प्रेम और मधु) का श्लेष सहृदयों के मर्मस्थल को स्पर्श कर रहा है ।

मैं आपके सामने भोजपुरी के लिए अवश्य पैरवी कर रहा हूँ । परन्तु भोजपुरी में इतने स्वाभाविक गुण हैं कि इस पैरवी की विशेष जरूरत नहीं जान पड़ती है । जो स्वभाव ही सुन्दर है उसमें सौन्दर्य सिद्ध करने के लिए शपथ खाने की आवश्यकता नहीं होती । भोजपुरी की भी यही दशा है । जो दो चार उदाहरण मैंने आप लोगों के सामने रखे हैं वे बिन्दुमात्र हैं । साहित्य के प्रेमियों के लिए भोजपुरी के सौन्दर्य का अनुमान करने के लिए इतना ही पर्याप्त होगा ।

कुछ सुझाव

भोजपुरी के साहित्य का अभिवर्धन हमारा परमावश्यक कर्तव्य है । इसके लिए हमें ठोस कार्य करना चाहिए । यह कार्य एक आदमी के बूते का नहीं है । 'सात पाँच की लाठी एक जने का बोझ' । आप लोग दत्तचित्त होकर इस पवित्र कार्य में लग जायँ, तभी कुछ कार्य सिद्ध होगा । इसके निमित्त मैं एक योजना आपलोगों के सामने प्रस्तुत करना

चाहता हूँ। आप इसमें अपनी सहायता प्रदान करें यही मेरा नम्र निवेदन है।

(१) भोजपुरी अनुसन्धान समिति की स्थापना—

इस अनुसन्धान समिति की स्थापना भोजपुर मण्डल के किसी विशिष्ट नगर में होनी चाहिए। इसका सदस्य भोजपुरी से प्रेम रखने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता है। इसकी एक अपनी पत्रिका होनी चाहिए जिसमें भोजपुरी से सम्बद्ध लेखों का प्रकाशन होता रहे। भाषा की अभिवृद्धि के निमित्त इन उपायों का अवलम्बन नितान्त आवश्यक है। बिना इस समिति की स्थापना किये भोजपुरी भाषा का प्रसार तथा प्रचार, समृद्धि तथा अभिवृद्धि सफलतापूर्वक सिद्ध नहीं हो सकती। ठोस साहित्यिक कार्य की यह मूल भित्ति है। हर्ष का विषय है कि इधर 'भोजपुरी' नामक पत्रिका भोजपुरी में ही आरा (बिहार) से निकल रही है।

(२) भोजपुरी साहित्य का प्रकाशन—

यह कार्य बहुत विशाल है। भोजपुरी में उपलब्ध गीतें भिन्न भिन्न अवसरों पर हमारे घरों में गाई जाती हैं। इस समग्र साहित्य का ठीक वैज्ञानिक ढंग से संकलन होना चाहिए। भोजपुरी में ग्रामीण कहानियों का भी संकलन अपेक्षित है। भाषा शास्त्र की दृष्टि से लोकोक्तियाँ तथा मुहावरों का संग्रह आवश्यक है। यह काम बड़ा ही उपादेय तथा लाभप्रद है।

(३) भोजपुरी का वैज्ञानिक अध्ययन—

भोजपुरी के व्याकरण तथा विराट् कोष के संकलन की महती आवश्यकता है। मेरा अपना अनुभव है कि खड़ी बोली के प्रभाव से भोजपुरी के ठेठ शब्द धीरे-धीरे नष्ट होते चले जा रहे हैं। नगर में शिक्षा पानेवाला भोजपुरी बालक इन्हें समझ भी नहीं पाता। फलतः ये व्यवहार से लुप्त होते चले जाते हैं। शीघ्र ही इन शब्दों के संग्रह की आवश्यकता है।

(४) भोजपुरी कवियों को प्रोत्साहन—

भोजपुरमण्डल के अनेक मान्य कवि खड़ी बोली में कविता करते हैं। उनसे यह प्रार्थना है कि वे अपनी बोली में भी कविता करने का प्रयत्न करें। हमें चाहिए कि गाँवों में बिखरे हुए भोजपुरी कवियों को यथोचित प्रोत्साहन दें।

(५) प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह—

भोजपुरमण्डल में प्राचीन इतिहास की सामग्री बिखरी पड़ी है। प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेष भरे पड़े हैं। हमें उत्साही कार्यकर्ता चाहिए जो इन स्थानों में भ्रमण कर इतिहास की उपयोगी सामग्री का संग्रह कर सकें।

(६) रीति-रस्मों का अध्ययन—

भोजपुरमण्डल में विवाह आदि संस्कारों के समय पर जो रीतियाँ प्रचलित हैं उनका संकलन तथा वर्णन हमें करना चाहिए। समाजशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन के लिए इसका विशेष महत्त्व है। इस प्रकार ब्रजसाहित्य मण्डल (मथुरा) जो उपयोगी कार्य ब्रजसाहित्य के उद्धार के लिए कर रहा है वही कार्य हमें अपने साहित्य के अभ्युत्थान के निमित्त करना चाहिए। यही भोजपुरी के प्रेमियों से मेरा नम्र निवेदन है। आशा है वे इस ठोस कार्य में चित्त लगावेंगे। अन्त में लक्ष्मी सखी के दो भजनों के साथ यह निबन्ध समाप्त किया जा रहा है।

कजली

सुनि सुनि पिया के सनेस हमरो जियरा ललचे ना।
टपर टपर गीरे लोर सखिया चलते चलते ना।।
काहे जे औगुन भईल बहुत गलते गलते ना।
तेहि से चले के हाथ सखिया मलते मलते ना।।
पिया बिनु जियवा हमरा हिअवा कलपे ना।
जेकर तेज प्रताप घट घट नूर झलके ना।।

बेरि बेरि हेरीले बाट सखिया पलके पलके ना।
करि मंजन असनान सरजु जल जल जलके ना ॥
राजा जनक के बेटि हम त दोसरा खलके ना।
लछिमी सखी पिआ धरबो बहिया छोरबों बलके ना ॥

(चौमासा

झमर झमर उ जे बरसेला मेघवा गगन घटा घनघोर हे।
खोलिले हे सखि कपट केवरिआ अपने जे होला अँजोर हे ॥
खासा खसम पिआ लौटेला सुन्दर माया मोह भागेला चोर हे।
बारी बयस मोरा घरे रहु पिअउ मिनती करीले करजोर हे ॥
निसि दिन करब चरन सेवकाइ आठो घरि रहब अगोर हे।
नाहिं त अबही संगहि प्रान जइहें सुनि लेहु अवध किसोर हे ॥
सकल भुवन कर करता धरता जो कुछ करिए से थोर हे।
अपने सुजान पिआ का समुझाओ मैं अबला मति मोर हे ॥
लछमी सखि के सुन्दर पिअवा पुरुष दुभुज किसोर हे।
भजब त भजिले आपन पिअवा नात होखेला हाथी से घोर हे ॥



गीतों की दुनियाँ

गीतों की दुनिया ही निराली है। इसमें जिस समाज का वर्णन किया गया है वह कितना स्वस्थ, कितना स्वाभाविक, कितना सुन्दर तथा कितना निर्मल है! गीतों में अभिव्यक्त गृहस्थी का चित्र कितना रँगीला दीख पड़ता है! गृहस्थी में खाने पीने के लायक ही सामान प्राप्त हैं; वह समृद्धि में लोट पोट नहीं करती, परन्तु इस जीवन में जिस सन्तोष, आन्तरिक शान्ति, वाह्य सौन्दर्य की झाँकी दीख पड़ती है वह किसी दिव्य लोक की प्रतीत होती है। कितनी कोमल कल्पना तथा मधुर भावुकता का राज्य है इस गीत-सुलभ जगत् में! परिचित वस्तुओं के लिये भी अनेक मधुर उपमानों की रमणीय कल्पना गीत जगत को संगीतमय वनाये डालती है।

पतिदेव घर के मालिक होने की हैसियत से 'प्रभु जी' कहलाते हैं, रंगरलियाँ मचाने के कारण 'कन्हैया', रस के लोलुप होने के कारण 'भौंरा' तथा धर्म-कर्म के फल के साक्षी होने के कारण 'सम्भइता।' उचित अवसरों पर इन साहित्यिक शब्दों का प्रयोग गीतों की काव्यकला का पर्याप्त द्योतक है। जब प्रसव की वेदना से व्याकुल निःसहाय गर्भिणी वेदना को बाँट लेने के लिए अपने 'समवइता' को खोजती है, तब वह कितना कवित्वमय प्रतीत होता है! जनप्रिय धर्म के समग्र फलों में साक्षी है, तब क्या उसे उचित नहीं है कि वह गर्भवेदना को भी बाँटकर व्याकुल पत्नी के बोझ को हलका बना डाले। गीतों में चित्रित सुन्दरी की सौन्दर्य कल्पना में कितनी नूतनता तथा नैसर्गिकता भरी है। वह पान के समान पतली (तन्वंगी) है, तो सुपारी की भाँति सरस चिकण

दुरहुर है। वह फूलों के समान कोमल (सुकुवार) है, तो चन्दन के समान सौरभ फैला रही (गमकती) है। उसके केश काले और लम्बे हैं। जब अपने बाबा के तालाब पर माथा मीसने और नहाने जाती है, तो उसके सौन्दर्य की छटा देखकर लोग मूर्छित हो जाते हैं। कभी कभी उसका बाल टूट कर नदी में बह निकलता है उसकी सुकुमारता और सुनहला रंग किसी भी देखनेवाले रसिक के हृदय को बरबस खींच लेता है। और वह उस कांचन केश वाली कामिनी की खोज में बेचैन हो उठता है। उसके प्रेम के दो ही विषय हैं—माँग और कोख, पति और पुत्र जिनको केन्द्र मान कर सुन्दरी स्नेह को अभिव्यक्ति अभिराम शब्दों में करती है। पुत्र पाने की चाह कितनी मीठी है इन ललनाओं में।

पुत्र उत्पन्न होते ही माता के मन को हरता है; मन को रख लेता है—वह 'मनहरन' है, 'मन राखन' है। लीला का ललित निकेतन है—वह गोविन्द जी के नाम से अभिहित होता है।

सासु

वहू के हृदय में अपने सास ससुर के लिए गहरा, निश्छल आदर का भाव बना है। सास मचिया (छोटी खटिया) पर बैठ कर गृह का पालन करती है। वह नितान्त आदरणीय होने से 'बढ़ैतिन' है। ससुर 'बढ़ैता' है। सासु का हृदय कितना कोमल और सहानुभूतिमय है। अब उसे खबर लगती है कि बहू को गर्मी के दिनों में बाहर से पानी लाने में क्लेश होता है, तब उसका हृदय पसीज जाता है और अपने पति से आग्रह कर आँगन में कुआँ खोदने की व्यवस्था कर देती है। पानी खींचने के लिए रेशम की डोर लगा देती है जिससे उसके हाथ में किसी किस्म की तकलीफ न हो। सास अपने पुत्र के मंगल के लिये तो चिन्तित रहती है, परन्तु इससे अधिक अपने पतोहू के कल्याण साधन में व्यग्र है। किसी पाहुन के आने पर सोने की थाली में

भोजन परोसा जाता है और उसके स्वागत में रात भर चन्दन का तेल जलाया जाता है।

बहू

प्रियतम कार्यवश मोरँग चला जाता है और लौटने में विलम्ब कर बैठता है। बेचारी पत्नी का हृदय बेचैन हो उठता है। वह कहती है कि यदि मैं जानती कि मेरा लोभिया मोरँग जायगा, तो मैं उसे रेशम की डोर से बाँध लेती। इतना ही नहीं; रेशम की डोर के टूटने की आशंका हो सकती है, इससे अधिक दृढ़ होता है वचन का बन्धन (प्रतिज्ञा की शृंखलता) जिससे उसे बाँध रखती। बड़ी कोमल कल्पना है इस वियोगिनी कामिनी की—

जइ हम जनती ए लोभिया, जइबे तुहूँ मोरँग गया
घींची बाँही बन्हितो ए लोभिया, रेसम के रे डोरिया।
रेसम के रे डोरिया ए लोभिया, टुटि फाटि जइहैं
बचन के बान्हल कतहीं ना राम जइहैं॥

प्रिय का यह विलम्ब पत्नी को असह्य हो जाता है। वह अपने पड़ोसी भीमल मल्लाह के हाथ उनके पास पाती भेजना चाहती है, परन्तु पत्री कैसे तैयार हो? वह अपने नेत्र के काजल की स्याही बनाती है और अपना अंचल फाड़ कर कागज तैयार करती है। मदन लेख (प्रेमपत्र) लेकर भीमल मल्लाह मोरँग जाता है और उसके पति को लाने में समर्थ होता है।

बड़ा उदात्त आदर्श तथा पवित्र चरित्र है इन भारतीय ललनाओं का जिनके सुकृत सौरभ से ये गीत गमक रहे हैं। पति के परदेस चले जाने पर प्रोषितपतिका की व्याकुलता स्वाभाविक है, परन्तु वह कभी अनुचित व्यवहार में अपना हाथ नहीं डालती। देवर उसके पास नेह गाँठने का प्रस्ताव लाकर उपस्थित होता है, परन्तु वह उसे दुत्कार देती है और क्रोध में आकर प्रिय के आने पर देवर की 'अलफी बाहीं' (सुन्दर हाथों) को काट डालने की धमकी देती है।

पत्नी का सन्देश पाकर निर्मोही पति जब नहीं लौटता, तब पत्नी की चिन्ता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। वह नालायक उसे दूसरा पति कर लेने की सलाह देता है, तब पतिव्रता की स्वाभाविक तेजस्विता चमक उठती है। वह कह बैठती है कि तुम्हारी बहन या माता दूसरा पति कर लें वह आजन्म अपने व्रत को निभायेगी और तुम्हारे जैसे आदमी को ड्योढ़ीदार बनाकर रखेगी। पति के अतिरिक्त बहू को सुख स्वप्नों का केन्द्र उसका पीहर है और वह उसी ओर टकटकी लगाये जीवन बिता रही है। पीहर की हर एक चीज में उसके वास्ते कितनी मोहकता है। भाई और पिता और माता के लिवा ले जाने की आशा उसकी जीवन-लता को हरी भरी रखती है और अपनी माँ से फिर मिलने तथा परिचित देश में स्वतंत्रता की वायु के सेवन की कोमल कल्पना उसके जीवन को सरस बनाये रहती है। बुरी ससुराल मिलने पर उसे सास, ननद और जेठानी के व्यङ्ग बाणों से विद्ध होने के अवसरों की कमी नहीं रहती। यह वस्तुस्थिति बुरे दिन आने पर भारतीय समाज में आज भी विशेष रूप से दीख पड़ती है। परन्तु ये गीत उस दुनिया की सैर कराते हैं जहाँ किसान हल बैल के सहारे अपनी निष्कपट जीविका उपार्जन करता है। मचिया पर बैठकर बढ़ैतिन सास अनुशासन में लगी रहती है, जहाँ रेशम की डोर ले वधू अपने आँगन के कुएँ से पानी खींचती है और बच्चे अपनी छलहीन हँसी से बड़ों का मनोरंजन किया करते हैं। भोजपुरी गीतों में चित्रित समाज का वातावरण कितना शान्त है, कितना निर्मल है, जिसके सामने आधुनिक समाज का प्रकाश फीका, बनावटी तथा मलिन प्रतीत होता है।

---

(१२)

लोक-काव्य में करुण रस

भोजपुरी गीतों में करुण रस की मात्रा अत्यधिक दीख पड़ती है। यह करुण रस अनेक अवसरों पर विभिन्न परिस्थितियों में प्रवाहित होता हुआ दीख पड़ता है। इस रस की अभिव्यक्ति इन गीतों में तीन अवसरों पर विशेषरूप से होती है—विदाई, वियोग और वैधव्य। इन तीनों अवसरों पर सुखमय जीवन का अवसान हो जाता है। तथा दुख का नया अध्याय प्रारम्भ होता है। जीवन के वसन्त में अचानक पत-झड़ शुरू हो जाता है। ये तीनों अवसर मनुष्य के कोमल हृदय पर गहरी चोट करने वाले होते हैं। विदाई के अवसर पर लड़की का माता-पिता से वियोग होता है। वियोग में पति से विछोह होता है और वैधव्य में अपने प्रीतम से सदा के लिये आत्यान्तिक विच्छेद हो जाता है। यही कारण है कि इन गीतों में करुण रस की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है। जिस प्रकार भवभूति की करुण कविता सुनकर वज्र का हृदय फट जाता है और पत्थर भी पसीज जाता है। उसी प्रकार इन करुण रस से ओत-प्रोत गीतों को पढ़कर पत्थर के समान कठोर पुरुष का भी कलेजा आँसुओं के रूप में पसीज पसीज कर बाहर निकल पड़ता है। यथा—

"आँसुन के मग जल व्हौ दियो पसीज पसीज"

बेटी की विदाई

कन्या की विदाई का समय कितना करुणोत्पादक है। इसे शब्दों में बतलाने की जरूरत नहीं होती। पितृगृह में स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन बिताने वाली दुलार से पाली गई कन्या एक अनजान अपरिचित घर

में जाती है। पिता के घर के दुलार की याद उसके हृदय को मसोसने लगती है। और उनकी मानसिक वेदना आँसुओं की झड़ी के रूप में बहती दीख पड़ती है। ऐसे अवसर पर बड़े बड़े धीरों की भी धीरता का बाँध टूट जाता है, साधारण लोग किस गिनती में हैं? कालिदास ने शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उद्विग्नचेता महर्षि कण्व के मुख से जिस भावोद्गार को अभिव्यक्त किया है वह साहित्य-वेत्ताओं से अपरिचित नहीं है। इस प्रसंग का मार्मिक चित्रण इन गीतों में उपलब्ध होता है।

आठ काठ की बनी डाँड़ी या पालकी पर चढ़कर वधू पति गृह जा रही है। इस अवसर पर उसका सगा भाई उसे पालकी से उतर जाने को कहता है। वह उसे अपने ही घर रखने की बात कहता है, परन्तु बहिन बोल उठती है, ऐ मेरे भाई मेरी डांड़ी छोड़ दे, मुझे जाने दे। जानते हो मेरा बोझा कितना है, तुम सात लौंड़ियों का भार मजे में सह सकते हो। उन्हें देखकर तुम खिला पिला सकते हो परन्तु मेरा यह भार तुम सह नहीं सकते।

छोड़ भइया डँड़ियावा घरे जाये रे देउ।
साती लउँडिया के भारवा ए गो हमारो नाँही॥

कैसी दीनता है इस कन्या की।

विदाई के समय माता पुत्री को समझा रही है, कि घबराना मत तेरे भाई को खबर लेने के लिये जरूर भेजूँगी। परन्तु जेठे भाई के भेजने में कन्या को विश्वास नहीं होता। वह कहने लगती है कि तुम बासी भात खाने को देते समय भी क्रुद्ध हो जाया करती थी और फल फूल खरीदने के समय भी मुझे लुलवा देती थी। लो अब मैं चली। अब मेरे बासी भात को रखे रहना और फल खरीदने के पैसे से धेनु गाय खरीद कर स्वयं दूध पीना।

हमारी त्रसिया के आमा धरिह वार वार।
हमारा ही केनवा के आमा कीनहि धेनु गाय॥

बेटी के ये व्यंग वचन बिल्कुल सच्चे थे। उसका वर्ताव सचमुच ऐसा ही था। इन वचनों से माता की आँखें खुल जाती हैं और कहती है कि उसकी छाती पत्थर की है, भला होता यदि उसकी छाती फट जाती।

चलेके त चलछु हो बेटी दीहल् समुझाई।
आरे पथल के छतिया हो बेटी बीहरि बछु जाई॥

परन्तु प्यारी माता का हृदय पुत्री के प्रति दयारहित हो नहीं सकता। कुपुत्रो जायेत कचिदपि कुमाता न भवति। दृश्य बदलता है। पुत्री की सवारी वन बीहड़ को पार करती दूर निकल जाती है। वह पालकी का ओहार तनिक हटाकर क्या देखती है कि उसका भाई उसके पीछे पीछे आ रहा है, माता सच्ची निकली। भाई को देख बेटी का हृदय माता के लिये बेचैन हो जाता है, और वह अपने भाई को लौटा देती है। माता अटारी पर खड़ी है। पुत्र को लौटा देख झिड़कने लगती है कि मेरे रतन को तूँ कहाँ रख आया। मेरी बेटी को किस वन बीहड़ में छोड़ आया। भाई 'अर्थो हि कन्या परकीय एव' की दुहाई देकर माता को समझाता है। इस गीत में माता के कोमल हृदय तथा अकृत्रिम स्नेह की अभिव्यक्ति कितने दर्दनाक शब्दों में की गई है।

कन्या की विदाई के समय माता-पिता के रोने का पारावार नहीं है। पिता के रोने के कारण गंगा में बाढ़ आई है। माता के रोने के कारण उसकी आँखों के सामने अंधेरा छा गया है, भाई के रोने से उसके पैर की धोती भींग रही है, परन्तु भावज के नेत्र में आँसू का बूँद भी नहीं है।

बाबा के रोवले गंगा बढ़ियाली।
आमा के रोवले अनोर
भइया के रोवले चरन धोती भीजे।
भउजी नयनवां न लोर।

कन्या के लौट आने की सब कामना करते हैं परन्तु उस कामना में प्रेम के विकास के अनुसार तनिक भिन्नता भी है। परिवार के लोगों की मानसिक वृत्ति परीक्षा-योग्य है! माता कहती है कि बेटी तू रोज उठकर आया कर। पिता कहते हैं छ मास पर आना। भाई कहता है कि कल ही प्रयोजन है, उत्सव है और भावज कहती है दूर चली जा। जान पड़ता है कि भावज की प्रवृत्ति का आश्रय लेकर ही निरुक्तकार ने दुहिता की व्युत्पत्ति 'दूरे हिता' की है। गीत के शब्दों में:—

आमा कहेले बेटी नित उठि आंव।
बाबा कहे ले छव मास।
भइया कहेलें बहिना काल्हे परोजन।
भउजी कहेली दुर जाव।

भावज के रुष्ट होने का कारण कभी कभी कहा गया कटुवचन है। इसे वह मानती है। कारण पूछने पर कहती है कि न तो तूने मेरे तेल नून छेंका, न तो कोठी में पेहान लगा दिया, वचन ही मेरा वैर उत्पन्न करने का कारण है:—

नाही तू ननदी नून तेल छेकलू,
नाहीं कोठी लवलू पेहान।
नाहीं तुहूँ ननदी रसोइयां झाकी अइलू,
बतिये बैरिन भइल तोहार॥

बेटी को ससुराल ले जाने के लिये उसका श्वसुर बारात सजाकर आया है। हाथी घोड़े द्वार पर उगने वाले चन्दन पेड़ में बाँध दिये गये हैं। वे चन्दन के पेड़ को तोड़ मरोड़ रहे हैं। पिता से यह दृश्य देखा नहीं जाता, वह क्रुद्ध होकर बरातियों को झिड़की सुना रहा है। इस पर उसकी पुत्री घर से बाहर निकल कर पिता को समझाने लगती है।

सहु बाबा सहु रे बाबा आज की रतिया हो।
बाड़ा हो पराते हो बाबा जाइबी बड़ी दूर॥
दुवरा राउर होइहें ए बाबा रन रे बन।
आँगन राउर होइहें ए बाबा भदउआँ निशि राति॥

हे बाबा, आज की रात इस क्लेश को सह लीजिये। कल बहुत तड़के मुझे बहुत दूर जाना होगा। हमारे चले जाने पर आप का द्वार जंगल की तरह सूनसान हो जायगा और आपका आँगन भादों की काली अँधियारी निशा हो जायगा। कितना दर्द भरा हुआ है कन्या के इस कथन में! उसकी बात सोलहो आने सच्ची निकली। दूसरे दिन उस कुटुम्ब की दशा कैसी बदल जाती है। गीत के मनोरम शब्दों को ही पढ़ लीजिये। कितनी वेदना भरी है, इन छोटे छोटे वाक्यों में—

दुवरा भुलीए भूली बाबा जे रोवेले,
कतहीं न देखों हो बेटी नुपुरवा हो तोहार।
अँगना भूलीए भूली आमा जे रोवेले,
कतहीं न देखों हो बेटी रसोइआ झाझाकाल।
रसोइआ भूली ए भूली भउजी जे रोवेली।
कतहीं ना देखों हे बेटी रसोइया झाझाकाल॥

दरवाजे पर पुत्री की विदाई से व्याकुल होकर पिता रो रहा है कि बेटी कहीं भी तुम्हारा नूपुर (पायजेब) में नहीं देख रहा हूँ। आँगन में बैठी हुई माता रो रही है और रसोई घर में बैठी भावज रो रही है कि कहीं भी बेटी दिखलाई नहीं पड़ती। उसके बिना रसोई घर भयानक और सूना लगता है। इस गीत के करुण भाव को सुनकर कौन ऐसा हृदय होगा जिसका दिल विदाई के समय की चोट की याद से विचलित न हो जायगा और जिसकी आँखें आँसुओं से भींग न जावेंगी।

विदाई के इन भोजपुरी गीतों में जो भाव दिखलाये गये हैं उनके समान ही भाव अन्य भाषाओं के लोकगीतों में भी प्रचुर मात्रा में

पाये जाते हैं। मानव हृदय सर्वत्र एक समान है, चाहे हम भोजपुरी गीतों को पढ़ें, चाहे गुजराती गीतों को। मिलन और बिछुड़ना, संयोग और विछोह मानव जीवन के चिरसंगी हैं। वियोग का तीता घूंट पीकर ही सांसारिक जीवन मीठा होता है। यही कारण है कि लोक गीतों में इस विषय का रसमय वर्णन विशेष मात्रा में उपलब्ध होता है।

पंजाब के एक लोकगीत में कन्या अपने पिता से बिदाई के समय कह रही है:—

साँडा चिडियाँ दा चम्बा वे, बाबल असीं उड़ जाना।
साडी लम्बी उड़ारो वे बाबल के हडे देश जाना।
तेरा चौका माण्डा वे, बाबल तेरा कौन करे।
तेरा महल दां बिच बिच वे बाबल मेरी माँ रोवे॥

गीत का आशय है कि हे पिता जी मैं तो एक चिड़िया हूँ मुझे तो एक दिन उड़ जाना होगा। मेरी उड़ान बड़ी लम्बी है। मुझे किसी अनजान देश में उड़कर जाना है। हे पिता मेरे बिना तेरा चौका बर्तन कौन करेगा? तुम्हारे महल के बीच मेरी अम्मा रो रही है।

ठीक इसी प्रकार एक गुजराती बेन अपनी दशा का वर्णन कर रही है:—

अमे रे लीलुडा बननी चर कलडी
उड़ी जांशु परदेश जो।
आज रे दादा जीना देश माँ,
काले जांशु परदेश जो।

मेघाणी—लोक साहित्य पृष्ठ १८३

मैं तो एक हरे भरे जंगल की चिड़िया हूँ। उड़कर परदेश चली जाऊँगी। आज दादा जी के देश में हूँ, कल परदेश चली जाऊँगी।

कश्मीर की एक कुलाङ्गना पति के परदेश जाने पर किन शब्दों में अपनी विरह व्यथा का बयान कर रही है।

यार चलूम तय कति छाँड़न, आर आसनय व्यसियय ।
यारस रुसतूय बाग फुलमय, कुसम्य छाव्यम करमाह ।

अर्थात् मेरा प्रेमी चला गया है, उसे मैं कहाँ खोजूँ । हे सखि उसे मुझे छोड़ते तनिक भी दया नहीं आई । यदि समय पाकर मेरे यौवन रूपी उपवन में वसन्त आवे तो उसका स्वाद कौन लेगा ?

क्या यावुन गोयना हीरिथ ।
मानंदि तीर ज़न गुम नीरिथ ॥

हाय ! क्या यह यौवन फिर आवेगा जो तीर के मानिन्द गुम हो गया है—निकल कर चला गया है ।

एक दूसरी विरहिणी इस प्रकार ईश्वर से प्रार्थना कर रही है ।

यार गोमय पाम्पोर वते ।
कुंग पोश व रटनाल मते ।
मूछम तते पछुस यते ।
यार सायवो बोज़तम ज़ार ॥

आशय है कि मेरा यार पाम्पुर (कश्मीर का एक मशहूर स्थान) की ओर चला गया है । केशर के फूलों ने उसे गले लगा लिया । वह वहाँ और मैं यहाँ । ओ खुदा मेरी विनती सुन लो । (कुंग = केशर; पोश = पुष्प) पंजाब की कन्या कितने पते की बात सुना रही है ।

दिल दरिया समुन्दरों डूँघा ।
कौन दिलां दीयाँ जाणे ।
विचे चप्पू विच्चे वेड़ी ।
विच्चे वंग महाणो ॥

दिल एक दरिया है, समुन्दर से कहीं अधिक गहरा । दिल की बातें कौन जान सकता है । इसके बीच क्या चप्पू क्या किश्ता, क्या मल्लाह (सभी डूब जाते हैं) ।

वियोग

इन गीतों में प्रिय वियोग का वर्णन बड़े ही सरस शब्दों में किया गया है। प्रिय के परदेश चले जाने पर पत्नी के लिये सारा संसार सूना लगता है। घर काटने को दौड़ता है। प्रिय वियोग के समय समस्त प्रकृति में एक अनोखी विषमता का साम्राज्य उठ खड़ा होता है। एक प्रोषितपतिका अपनी दयनीय दशा दर्शाती हुई कह रही है कि अरे निर्मोही लोभी, तुम्हारे बिना देखे कितने लोग रो रहे हैं। घर में तुम्हारी घरनी रोती है, बाहर हरिनी रोती है, तालाब में चकवा चकई रो रहे हैं। बिछोह करते समय तुझे तनिक दया नहीं आई। गीत के शब्दों में

> घारावा रोवे घरिनी ए लोभिया बाहारवा राम हरिनियाँ।
> दाहावा रोवे चाका चकइया बिछोहवा कइले निरवा मोहिया ॥

एक दूसरी प्रोषित पतिका के मनोभावों की बानगी देखिये। वह कह रही है कि ठंढी पुरवैया चल रही थी। नींद में अलसाई पड़ी थी। उसी वक्त वह मेरा प्रियतम मुझे छोड़कर चला गया। वह नाना प्रकार से उसकी सेवा करना चाहती है। कचहरी जाते समय वह अपने प्यारे के पैर में बबूल का कांटा बनकर चुभना चाहती है। कभी कोयल बन मीठा शब्द सुनाना चाहती है। कभी फुलवाड़ी में फूल बनकर अपने प्यारे के वास्ते गमकना चाहती है। जल में मछली बनकर प्यारे के पैरसे लिपटना चाहती है, पति के देश में जाकर पानी बरसने के लिये बादल से प्रार्थना करती है। गरज यह है कि विरह व्यथा से सताई गई विरहिणी अपनी व्यथा को भूलने की विशेष चेष्टा करती है, परन्तु उसे सफलता नहीं मिलती।

एक दूसरी सुन्दरी अपने प्यारे से बिछोह के दिनों को बिताने की युक्ति पूछ रहा है। दिल में दर्द पैदा करने वाली इस गीत को पढ़िये और स्वयं गुनगुना कर इसका रसास्वाद लीजिये।

जुगुति बताये जाँव।
कवन विधि रहवों राम ॥ टेक ॥
जो तुहु साम बहुत दिन बितिहैं।
अपनी सुरतिया मोरे बहियां पर लिखाये जाव ॥ १ जुगुति बताये॰
जो तुहुं साम बहुत दिन बितिहैं।
बिरना बोलाइ मोको नइहर पहुँचाये जाव ॥ २ जुगुति बताये॰
जो तुहुँ साम बहुत दिन बितिहैं।
बहियां पकरि मोंके गंगा मसिआये जाव ॥
जुगुति बताये जाव कवन विधि रहिवों राम ॥

किसी स्त्री का पति विदेश जाने के लिये प्रस्तुत है। उसकी प्रेमी स्त्री उससे कहती है कि आप के वियोग में मैं कैसे रहूँगी इसकी उक्ति मुझे बतलाते जाइये। ऐ मेरे प्राणप्रिय, यदि तुम विदेश में बहुत दिन बिताओगे तो कृपा कर अपना चित्र मेरी बाहों पर चित्रित कर दो। जिसे मैं वियोग के दिनों में सदा देखती हुई शान्ति धारण करूँगी ॥ १

ऐ मेरे प्राणप्रिय, यदि तुम विदेश में बहुत दिनों तक रहोगे तो कृपाकर मेरे भाई को बुलाकर मुझे अपने मायके पहुँचवा दो। (जिसमें मैं तेरे वियोग को काट सकूं) ॥ २

ऐ मेरे प्राणप्रिय ! यदि तुम विदेश में बहुत दिन तक रहोगे तो मेरी बाँह पकड़ मुझे गंगाजी में गिरा दो (जिससे मैं मरकर तुम्हारे वियोग के दुःसह दुःख को सहने से वंचित हो जाऊँगी) ॥३॥

इस गीत के प्रत्येक पद से करुण रस चुआ पड़ता है। यह गीत क्या है करुण रस का कलश है। जितनी करुणा इन कतिपय पंक्तियों में भरी पड़ी है, इतनी संभवतः समस्त हिंदी साहित्य में भी नहीं मिलेगी। वियोग की आशंका से उत्पन्न दुःख का इतना सरस, सजीव अकृत्रिम तथा हृदय द्रावक वर्णन अन्यत्र उपलब्ध नहीं। हिन्दी के कतिपय कवियों ने पति के परदेश जाने के समय उनकी

स्त्रियों की आंखों में आँसू तो जरूर दिखलाये हैं। परन्तु इस गीत में तो स्त्री अपने को गंगा में डुबो देने की प्रार्थना कर रही है जिससे न तो वह जीती रहेगी और न वह वियोग के कष्टों को सहन करेगी। हिन्दी के तोष आदि कवियों ने वियोगिनियों के आँसू से नदियों में बाढ़ आने की बात लिखी है। यह वर्णन अलंकार की दृष्टि से भले ही चमत्कारपूर्ण हो परन्तु श्रोताओं के हृदय पर यह कुछ भी चमत्कार पैदा नहीं करता। परन्तु इस गीत में वर्णित भाव अपनी अकृत्रिमता के कारण सहृदयों के दिल पर सहज ही में चोट करते हैं। 'बहिया पकरि मोके गंगा भसियाये जात्र' आदि पदों में जो गहरी वेदना छिपी हुई है उसे अच्छी तरह से वे ही जान सकते हैं जो 'भसियाना' शब्द के अर्थ को जानते हैं। इस स्त्री को पति का वियोग सह्य नहीं है, परन्तु गंगा में गिरकर मर जाना सह्य है। इस घनिष्ठ तथा स्वाभाविक प्रेम की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है।

इस गीत में पति के वियोग में उसके चित्त के स्मरण करने का वर्णन है। यह प्रथा बहुत प्राचीन मालूम पड़ती है। कालिदास ने अपने मेघदूत में यक्ष पत्नी का अपने पति का चित्र बनाकर मनोविनोद वर्णन किया है। इस गीत में करुण रस की मात्रा इतनी कूट कूट कर भरी हुई है, जिसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है। मैं तो महाकवि भवभूति की अनेक करुण रसमई कवितायें इसी एक ही गीत पर निछावर करने के लिए तैयार हूँ। इस गीत की सरसता, मधुरता तथा करुणरसता के विषय में मतिराम का यह पद उपयुक्त जान पड़ता है। 'ज्यौं ज्यौं निहारिये नेरे ह्वै नैनन, त्यों त्यों खरी निकरे सी निकाई।'

कोई विरहिणी स्त्री अपनी दुःखद दशा का वर्णन करते हुये कह रही है कि मेरी धानी रंग की चुनरी (साड़ी) इत्र के समान गमक रही है। मैं अपने यौवन को लिये हुए सीत के समागम के लिये मायके में तरस रही हूँ। मैंने सोने की थाली में भोजन परोसा था परन्तु

उस भोजन का करनेवाला आज विदेश में पड़ा तरस रहा है। मैंने बड़े लोटे में पीने के लिए गंगाजल रक्खा था, तथा पति के खाने के लिए लवंग और इलायची लगाकर पान का बीड़ा तैय्यार किया था परन्तु उस पान का खानेवाला परदेश में विराज रहा है। उस प्रियतम के सोने के लिए मैंने कलियों को चुन चुनकर सेज तैयार की थी परन्तु उस सेज को सुशोभित करनेवाला परदेश में है।—

मोरी धानी चुनरिया इतर गमके।
धनि बारी उमरिया नइहर तरसे॥
सोने की थाली में जेवना परोसलों।
मोर जेवनवाला विदेस तरसे॥
झझरे गेडुववा गंगाजल पानी।
मोर घूंटनवाला विदेस तरसे॥
लवंग इलायची के बीड़ा लगवलीं।
मोर कूंचन वाला विदेस तरसे॥
कलिया चुन चुन सेजवा लगवलीं।
मोर सूतन वाला विदेस तरसे॥

प्रिय के वियोग में तड़पने वाली इस विरहिणी की दशा देखने ही योग्य है। प्रिय के वियोग में कामिनी की व्याकुलता कितनी अधिक है। बेचैनी को न सहने के कारण वह स्वयं प्रिय को खोजने के लिये निकल पड़ती है, और बटोहियों से उसका पता पूछती चलती है। इस गीत में बड़ा ही लोच है, द्रुत लय है। इस 'झूमर' का पूरा स्वाद झूम झूमकर गानेवाली कलकण्ठ कामनियों के कोरस में ही मिल सकता है। विरहिणी कह रही है कि ऐ भौंरा तुम आज परदेश जाकर कितने दिनों में लौटोगे। मैं कितने दिनों तक तुम्हारे मार्ग की प्रतीक्षा करूँगी। जब पति बहुत दिनों तक परदेश से लौटकर नहीं आया तब स्त्री दुःखी होकर कहती है कि पति के आने की अवधि के दिन गिन गिन मेरी अंगुली घिस गई। उसके आने के दिन की प्रतीक्षा करते

पानी के पियासल हरिनवाँ जमुनवाँ घाटे रे जाय।
बोवलों मैं चीनवाँ हो रामा हरिनवाँ चरि रे जाय॥
बाट बटोहिया भइया तुहूँ रे मोर भाय।
एहि राहे देखुआ हरिनवां बहेलिया ले ले रे जाय॥
देखुइं मैं देखुइं हे पातरि हाजीपुर के रे हाट।
हाथ गोड़ बन्हले बहेलिया हटिया ले ले रे जाय॥
पग तोरे थाके बहेलिया हथवा लागे रे घून।
कवनो कसूरवाँ बहेलिया मेरी सेजरिया कइलो रे सून॥
चाम मांसु बेंचिहे बहेलिया हाड़वा दिहे रे मोर।
ओही हार लेइ सती होइबों एहिं जमुना तीर॥
पानी के पिआसल हरिनवाँ॥

वैधव्य—

इन गायनों में विषाद की रेखा जरूर खिंची हुई है, परन्तु अमिट रूप से नहीं। दिन ज्यों ज्यों ढलते जाते हैं रातें जितनी बीतती जाती हैं, विषाद की रेखा फीकी पड़ती जाती है, परन्तु बालविधवा की मनोवेदना का चित्रण किस प्रकार किया जा सकता है? इन बाल-विधवाओं में कितना भोलापन भरा हुआ है। जो व्याह जैसी अजनबी चीज को जानती ही नहीं, शादी जिनके वास्ते एक अजूबा है। इनकी दर्दनाक आहें किसके दिल को न दहला देंगी। बड़ी मार्मिक वेदना भरी पड़ी है इन विधवाओं के गीतों में। यहाँ नमूने के तौर पर एक ही गान नीचे दिया जाता है।

एक भोली भाली बालविधवा अपने पिता से अपनी शादी के बारे में पूछ रही है कि आपने किसलिये शादी की। कब मेरा गवना किया? पिता कहता है कि तेरी शादी आनन्द भोगने के लिये की तथा शुभ मुहूर्त देखकर तेरा गवना किया। इस पर बेटी कह रही है कि मेरा सिर सिन्दूर के बिना रो रहा है, आँखें काजल के बिना रो रही हैं। मेरी गोद पुत्र के बिना रो रही है और सेज कन्हैया बिना रो रही है।

बाबा सिर मोरा रोवेला सेनुर बिनु,
नयना कजरवा बिनु रे राम।
बाबा गोद मोरा रोवेला बालक बिनु,
सेजिया कन्हइया बिनु रे राम॥

बेटी की आहभरी बातें सुनकर पिता उसे फुसलाना चाहता है, परन्तु वह बालिका फुसलाने में नहीं आती। बाप कहता है कि ऐ बेटी हाजीपुर की हाट लगने दे उस बाज़ार में मैं चलूँगा और तुम्हारे करम को बदल दूँगा। परन्तु बालिका होने पर भी कन्या होशियार है। वह तुरन्त बढ़ियाँ उतर देती है कि कांसा पीतल ही बदला जा सकता है, परन्तु करम कैसे बदल जायगा? जैसा मैंने किया है उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। जैसा बोया जायगा वैसा ही काटा जायगा। कन्या का यह कथन कितने भोलापन से भरा है और साथ ही साथ कितना सच्चा है। भाग्य की प्रबलता और कर्म की दुर्निवारता की अभिव्यक्ति कितने अच्छे शब्दों में की गई है। गीत की दो चार कड़ियों को पढ़कर इस मार्मिक वेदना का अनुभव कीजियेः—

बेटी लागे देहु हाजीपुर के हटिया करम तोरे बदली देबों ए राम।
बाबा कांसावा पीतर सब बदलबो, करम कइसे बदली ए राम।
बेटी सिर तोरे भरबों रे सेनुर लेइ, नयेना काजरवा लेइ ए राम।
बेटी गोद तोरे भरबों रे बालक लेइ सेजिया कन्हइया लेइ ए राम।

---

(१३)

लोककाव्य में ऋतुवर्णन

मनुष्य और प्रकृति—दोनों में नितान्त घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रकृति निर्जीव वस्तु नहीं है। उसमें चेतना भरी पड़ी है। वह मनुष्य को सदा प्रभावित किया करती है। मनुष्य कभी अनजान दशा में भी प्रकृति के व्यापक प्रभाव के वश में आ कर अनेक काम किया करता है। वह कृत्रिम जीवन में रहने वाले लोगों के ऊपर प्रकृति का प्रभाव, भले ही कम पड़े, परन्तु गावों के स्वच्छ वायु में रहने वाले, स्वाभाविकता की गोदी में पलनेवाले जीवों के ऊपर प्रकृति का प्रभाव बहुत ही अधिक पड़ता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। ऋतुओं के परिवर्तन के संग-साथ में प्रकृति के रूप में भी परिवर्तन होता रहता है। जाड़े के दिनों में प्रकृति के ऊपर जो मुर्दनी छाई रहती है, जो सिकुड़न दीख पड़ता है, जो आलस्य दृष्टिगोचर होता है, वसन्त के आते ही वह समाप्त हो जाता है। संकोच के स्थान पर विकास विराजने लगता है। आलस्य के स्थान पर वह स्फूर्ति दिखलाई पड़ती है। भीषण जाड़े की ऋतु में भी हमारे अंग-प्रत्यंग शीत के कारण सिकुड़े रहते है। वे ही वसन्त का सुहावना समय पाकर फैल जाते हैं। हमारे मन की भी यही दशा होती है। चैती का सम्बन्ध इसी वसन्त के साथ है।

मधुमास की माधुरी

चैत के महीने में चित्त के बहलाने के लिए जो गीतें हमारे गावों में गायी जाती हैं उन्हें चैती कहते हैं। भोजपुर मण्डल में इन चैती गीतों को 'घाँटो' के नाम से भी पुकारते हैं। इन गीतों का गाने का

भी ढंग निराला होता है। आरम्भ से 'रामा' और अन्त में 'हे रामा' से ये गीत संपुटित होती हैं। गीतों का आरम्भ ऊँचे स्वर में किया जाता है, बीच में अवरोह (उतराव) आता है और फिर अन्त में आरोह (चढ़ाव) होता है। स्वरों के इस आरोहावरोह क्रम से इन गायनों की माधुरी श्रोताओं के कान में आनन्दोल्लास प्रकट करती है और विरहिणियों के दुःखित हृदय को प्रफुल्लित बनाने में विशेष रूप से सफल होती है। भोजपुरी गीतों में चैता अपनी मधुरिमा तथा कोमलता के विषय में अपनी समानता नहीं रखता। इसके गीतों में एक प्रकार की तन्मयता होती है जो हृदय को झट से आकृष्ट कर लेती है। चैतमास में होनेवाले भोजपुरी मेलों में जब कोई चैता गाने लगता है और

'आरे हमरी अटरिया हो रामा
सुगना बोले हो'

जब सुस्वर में अलापने लगता है तब श्रोताओं का जमघट लग जाता है। अन्य लोकगीतों के समान ही ये गीत जनता को, हमारे गावों के निवासियों को अपनी ओर खींचने में विशेष समर्थ होते हैं।

यदि चैती का विषय चैत मास से सम्बन्ध रखे तो यह अत्यन्त उत्तम होता है। शृंगारिक विषय विशेषतः विप्रलम्भ शृंगार का चित्रण चैती की अपनी विशेषता है। फागुन का अन्त होली के हुल्लड़ से होता है। इस सर्वप्रिय उत्सव में भाग लेने के लिए परदेशी अपने घर पर आ विराजते हैं, परन्तु फिर से परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़े हुए अनेक परदेशी विदेशों की ही खाक छानते रहते हैं--अपने भाग को कोसते हुए परदेश में ही अपना धिक् जीवन बिताते हैं। इन्हीं को प्रधानतया लक्ष्य कर प्रोषितपतिका नायिका अपनी विरह वेदना की अभिव्यक्ति चैती के द्वारा किया करती है। प्रधान विषय यही होता है—विरह चित्रण, परन्तु आगन्तुक रूप से अन्य विषय

भी इसमें आते जाते हैं। बारहमासा की वियोगिनी चैत मास को लक्ष्य का कह रही है--

> चेतमास उदास सखि हो, एहि मास हरि मोर जाई,
> हम अभागिनि कालिनि साँपिनि, आवेला समय बिताय।

चैती का यही विशुद्ध राग है। विरह के मारे तड़पने वाली कृशांगी का कोमल हृदय इसमें भलीभाँति अभिव्यक्त होता है।

पति अपनी स्त्री से क्रुद्ध होकर इतनी गहरी नींद सो रहा है कि स्वयं जागता ही नहीं। स्त्री भी हार जाती है। तब वह अपनी ननद से इस पवित्र कार्य के सम्पादन में सहायता माँगती है--

> राम साँझहि के सूतल फुटलि किरिनिया हो रामा; तबो नाँहि।
> तबो नाँहि जागेलें, हमरो बलमुआ हो रामा; तबो नाँहि ॥१॥
> राम चुर पीचीं मरली पइरी चींची मरली हो रामा, तबो नाँहि।
> तबो नाँही जागेल, सैंया अभागा हो रामा; तबो नाँही ॥२॥
> राम गोड़ तोरा लागीला लहुरि ननदिया हो रामा; रत्रि एक।
> रत्रि एक आपन भैया देहु ना जगाई हो रामा, रत्रि एक ॥३॥
> राम, कैसी के भौजी मइया के जगाइबी हो रामा; हमरो भैया।
> हमरो भैया निदिया के मातल हो रामा हमरो भैया ॥४॥
> रामा तोरा लेखे ननदी तोर भैया निनिया के मातल हो रामा
> मोरा लेखे। आरे मोरा लेखे
> चान सुरुज दूनो छपित भइलें हो रामा मोरा लेखे ॥५॥
> रामा चढ़ले चइत घाँटो गावे हो रामा गाइ गाई
> आरे गाइ गाइ बिरहिन सखी समुझावे हो रामा; गाइ गाई ॥६॥

यह चइती गाने में जितनी मधुर है भाव में भी उतनी ही सुन्दर है। भौजाई के आग्रह की उपेक्षा करती हुई ननद जब कहती है कि मेरा भाई नींद में मतवाला होकर पड़ा हुआ है, घबड़ाने की बात ही कौन सी है, तब भौजाई का उत्तर कितना भावपूर्ण, कितना स्वाभाविक तथा कितना सरस है। वह कहती है कि तुम्हारी दृष्टि में तो

तुम्हारा भाई केवल नींद में मतवाला हो गया है। परन्तु मेरे लिए तो चन्द्रमा और सूरज दोनों छिप गये हैं। चन्द्रमा के छिप जाने पर आकाश का अन्धकार सूरज हटाता है और सूरज के अस्त हो जाने पर चन्द्रमा; परन्तु उस स्थिति की कल्पना कीजिए कि तब अन्धकार कितना गहरा होगा तथा लोगों की घबराहट कितनी अधिक होगी जब चन्द्रमा और सूरज दोनों एक साथ अस्त हो जाँय। पति का क्षणिक वियोग नायिका के हृदय में कितना उद्वेगजनक है, इसका पूरा आभास इस उक्ति से हमें मिल जाता है। यह उक्ति नायिका के प्रेम को नितान्त तीव्र तथा गाढ़ प्रदर्शित कर रही है।

एक दूसरी चैती सुनिए और इसके भाव तथा भाषा दोनों का निरीक्षण कीजिए। यह चैती कृष्ण तथा गोपियों के प्रेम की अभिव्यक्ति कर रही है। गोपी दही बेंचने के लिए मथुरा जा रही है। रास्ते में उससे मिल जाता है कुँवर कन्हैया। दोनों में जो रसभरी बातें होती हैं उन्हीं का परिचय हमें इस मधुर गीत में मिलता है—

रामा छाटि मुटि ग्वालिनि, सिर तो मटुकिया
हो रामा, चली भइली,
आरे चलि भइलि हो मथुरा नगर दहि वेचन
हो रामा, चलि भइलि,
रामा जहाँ जहाँ ग्वालिनि, धरेले मटुकिया
हो रामा, तहाँ जहाँ
अरे तहाँ जहाँ कुँवर तमुआ तनावे
हो रामा ताहाँ जँहा ॥
रामा आगू होखऽ आगू होखऽ, राजा के कुँअरवा
हो रामा परि जइहें।
आरे परि जइहें दही के छिटिकवा
हो रामा, परि जइहें ॥

रामा तोरा लेखे ग्वालिनि दही के छिटिकवा
हो रामा, मोरा लेखे,
आरे मोरा लेखे अगर चनन देव बरिसे
हो रामा, मोरा लेखे
रामा चढ़ले चइतवा, चइत घाँटो गावे
हो रामा, गाइ गाई,
अरि गाइ गाइ विरहिन सखि समुझावे
हो रामा, गाइ गाई

इस गीत की एक पंक्ति में कोमल कला का विलास पूरे रूप से झलक रहा है। राजकुमार ग्वालिन के बहुत ही पास खड़ा हो कर अपना प्रेम जता रहा है। ग्वालिन कहती है कि कृपया आप दूर पर खड़े होइए। नहीं तो मेरे दही के बूँद आप के शरीर पर गिर कर खराब कर देंगे। इस पर राजकुमार की उक्ति है कि अये ग्वालिन, तुम्हारी दृष्टि में तो ये श्वेत बिन्दु दही के छींटे जान पड़ते हैं। परन्तु मेरी दृष्टि में तो प्रतीत हो रहा है कि भगवान अनुग्रह कर मेरे ऊपर अगर और चन्दन की वृष्टि कर रहे हैं। यह भाव कितना शोभन तथा सरस है !!!

भोजपुर मण्डल के अनेक चैती गायनों के रचयिता का नाम बुलाकीदास मिलता है। ये बुलाकीदास कौन थे ? इसका ठीक ठीक परिचय नहीं मिलता, परन्तु थे वे इसी काशीमण्डल के निवासी और इनका स्थिति काल भी सौ बरस से अधिक नहीं जान पड़ता। इनकी चैता गीतों में काफी सरसता तथा सत्कविता है। भाव हैं गाँवों के अनुरूप सीधे-सादे, बिल्कुल स्वाभाविक। बनावटीपन का उनमें कहीं नाम भी नहीं है। बुलाकीदास के द्वारा रचित चैता-गायनों का यदि संग्रह एकत्र किया जाय, तो लोकगीत के पुनरुद्धार के इतिहास में यह नितान्त महत्त्वपूर्ण घटना प्रमाणित होगी।

आज तक हम अपनी लोक गीतों की उपेक्षा करते आये हैं। इन गीत रत्नों का तिरस्कार करते आये हैं। परन्तु अब तो यह दशा बदल

जानी चाहिए। स्वतन्त्र भारत में जिस प्रकार अनेक भारतीय वस्तुओं का पुनः संस्कार हो रहा है, उसी प्रकार इन हमारे लोक गीतों का भी पुनरुद्धार होना चाहिए। इन लोक गीतों की माधुरी स्वतः सिद्ध है। उसे सिद्ध करने के लिये आज प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। इनका वैज्ञानिक ढंग से संग्रह होना चाहिये, तथा अनुशीलन होना चाहिये।

सावन की सुषमा

प्रकृति भगवान्‌के सौन्दर्य की बाहरी प्रतिकृति है। प्रकृति नित्य-नित्य नया-नया रंग बदलती रहती है; और प्रत्येक रंग में उसकी मनोरम झाँकी हमें आनन्द से मस्त बनाती है। प्रकृति तथा मानव का परस्पर सम्बन्ध भी बड़ा ही गहरा है। प्रकृति अपने सौन्दर्य की अनुभूति के लिए मनुष्य को सदा आकृष्ट करती है। मनुष्य जाने या अनजाने इस आकर्षण की उपेक्षा भी नहीं कर सकता। वह उसके वश में होकर अपने जीवन की सफलता का अनुभव करता है। प्रकृति की चारुता और रुचिरता को बिना अनुभव किये हमारे जीवन के आनन्द में विशेष कमी बनी रहती है। मनुष्य और प्रकृति के इस सामरस्य का बोध हमें होता है सावन के महीने में।

सावन का महीना सचमुच ही बड़ा सुहावना होता है। नीले आकाश पर बादल घिरे रहते हैं। जान पड़ता है कि हाथियों की छटा क्षितिज पर से उमड़ती हुई चली आ रही हो। वायु इस मेघमाला के साथ क्रीड़ा करता हुआ अटखेलियाँ किया करता है। बीच में बकपंक्ति की शोभा चित्त को मोह लेती है। कभी कभी घटा घहराती है, बिजली चमकती है, रिमझिम-रिमझिम बूँदें गिरने लगती है। वृक्ष, लता और पौधे धुलकर निखर जाते हैं। खेत हरियाली में सन जाते हैं। जिन लोगों ने किसी पहाड़ी प्रदेश में रहकर सावन का महीना बिताया है वे मैदान के प्रदेशों से भिन्न प्रकार का ही अनुभव करते हैं। पहाड़ी प्रदेशों में इस समय न तो कहीं कीचड़ दिखाई पड़ता है और न किसी प्रकार की

गंदगी। परन्तु मैदान के गांवों का हाल इससे कुछ विलक्षण ही होता है। इस महीने में हर एक गाँव में, बाग में या तालाब के किनारे झूले लगाये जाते हैं जिनमें गाँव के स्त्री-पुरुष, युवती और युवक अलग-अलग झूला झूलते हैं। इन झूलों के लिए कितनी तैयारी की जाती है। सुन्दर रंगीन रस्सी से काठ के तख्ते को बाँधकर पेड़ की मोटी डाली से लटका देते हैं। इसी सुसज्जित झूले पर बैठकर नरनारी सावन का आनन्द मनाते हैं तथा सरस गीत गाकर अपने चित्त को रसस्निग्ध बनाते हैं। इस समय जो गीत गाये जाते हैं वे ही 'कजली' के नाम से विख्यात हैं। इस महीने के मादक प्रभाव से कोई भी रसिक हृदय अछूता नहीं बचता। संस्कृत तथा हिन्दी के मान्य कवियों ने अपने काव्यों में सावन के मनभावन रूप का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। महाकवि कालिदास का कहना है कि मेघ के दर्शन पर सुखी होनेवाले व्यक्ति का भी चित्त अचानक उत्सुक बन जाता है, प्रिय के विरह से व्याकुल जीव की तो कथा ही न्यारी है।

बात बिलकुल ठीक है। इसीलिए सावन में विरह की वेदना से व्याकुल कामिनी अपने हृदय के भावों को अपने सरस गीतों में प्रकट किया करती है। देखिये मिथिला की किसी महिला के हृदय की भावधारा मैथिल-कोकिल विद्यापति के इस कमनीय गायन में किस प्रकार फूट रही है—

सखि हे हमर दुःखक नहिं ओर।

ई भर बादर माह भादर,
सून मन्दिर मोर।
झंपि घन गरजन्ति संतति
भुवन भरि बरसंतिया।
कन्त पाहुन काम दारुन
सघन खर सर हंतिया।
कुलिस कत सत पात, मुदित
मयूर नाचत मातिया।

मत्त दादुर डाक डाकुक
फाटि जायत छातिया।
तिमिर दिग भरि घोर जामिनि
अथिर बिजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कइसे गमाओब
हरि बिना दिन रातिया।

इस गीत में सावन के दृश्य का भी सुन्दर संकेत है—बिजली का चमकना, मोर का नाचना, डाहुक पक्षी की पुकार, दादुर का रटना, रात में घना अन्धकार। चित्त को प्रसन्न करने वाली समग्र सामग्री विद्यमान है, परन्तु चित्त को रमाने वाला प्रियतम ही नहीं है। इसीलिए यह समस्त साधन सूना तथा नीरस प्रतीत हो रहा है।

पति ने अपनी प्रियतमा से रात को आने का वादा किया है। अतः वह पूरी तैयारी के साथ उसकी बाट जोहती है। परन्तु पतिदेव का दर्शन ही नहीं होता। नितान्त खिन्न मन होकर वह उसे उलाहना दे रही है। देखिये, यह गीत कितना सीधा सादा और हृदयाकर्षक है—

हरि हरि कहाँ बदे तुम रात
कहाँ रहि जालऽ ए हरी।
सोने के थारी में जेवना परोसलो,
हरि हरि जेवना लिये हम ठाढ़ि
कहाँ रहि जालऽ ए हरी ॥ १ ॥
झांझर गेड़ुआ गंगाजल पानी
हरि हरि पनिया लिये हम ठाढ़ि
कहाँ रहि जालऽ ए हरी ॥ २ ॥
लौंगा में डोभि-डोभि बिरवा लगवलों
हरि हरि बिरवा लिये हम ठाढ़ी
कहाँ रहि जालऽ ए हरी ॥ ३ ॥

फूल नेवारी क सेजिया डसउलों
हरि हरि सेजिया लिये हम ठाढ़ि,
कहां रहि जालऽ ए हरी ॥ ४ ॥

किसी कामिनी का प्रियतम सावन में परदेश जा रहा है। वह अपने पति से पूछती है कि हे हरी, आप तो परदेश चले जा रहे हैं। आपके बिना मैं कैसे जीऊँगी? पति ने उत्तर दिया—हे धनी, सब्र करना और सन्तोष करना और वज्र की छाती करके जीती रहना। विश्वास रखना, मैं शीघ्र ही आऊँगा। अपने कोमल हृदय को जरा कड़ा करना। इन विरह के दिनों को आँख मारते-मारते बिता देना। मुझे आया ही हुआ समझो। सासु से पूछने पर सासु भी वही उत्तर देती है। देखिये यह गीत कितना सरस तथा मंजुल है—

हरि-हरि रउरा चलबि परदेस
जिअबि हम कइसे ए हरी।
धनी हो, सबुर कर, सन्तोख
वजरकर छाती ए हरी ॥१॥
चंम्पा फूलि रही चारु दारी
देइल सारी रात ए हरी।
दिनवा जे बीते हरि सखिया सहेलरि
रतियाँ सैयाँ रउरी सोच
जिअबि हम कइसे ए हरी ॥२॥
मचिया बइठल तुहुँ सासु हो बड़इतिन,
सासु हरि मोरे गइले बिदेस
जिअबि हम कइसे ए हरी ॥३॥
बहू हो सबुर कर सन्तोख
वजर कर छाती रे हरी ॥४॥

सावन का एक दूसरा दृश्य देखिये। पति परदेश से लौट आया है, पर अपनी प्रियतमा के साथ न तो झूला झूलता है, और न फूलों से

सजी हुई सेज को सुशोभित करता है। इसीलिए वह प्रियतमा के उपालम्भ का भाजन बनता है। देखिये, कितने सीधे-सादे शब्दों में वह अपना भाव प्रकट करती है—

सोने के थारी में जेवना परोसलों,
जेवना ना जेवैं
जेवना जेंवे राधिका प्यारी साथे गिरिधारी ना।
चनन के पीढ़ई रेसम के डोरी
झुलना ना झूले,
झुलवा झूले राधिका प्यारी,
साथे गिरिधारी ना ॥२॥
फूलना हजारी के सेजिया डसवलों
सेजिया ना सोवे,
सेजवा सूते राधिका प्यारी
साथे गिरिधारी ना ॥३॥

सावन के गीतों में विरहवर्णन की ही प्रचुरता है। ठीक ही है, संयोग से विप्रलम्भ शृंगार की सुन्दरता अधिक होती है। संयोग में जितना आनंद नहीं आता उतना आनन्द वियोग में आता है। इसीलिए प्रोषितपतिका की इस गीत में बड़ी पीर भरी हुई है, यह हृदय पर गहरी चोट कर रही है। इस लम्बे गायन की सुन्दरता परखने के लिए एक ही दो कड़ी सुनिये—

घिरि आइलि रे बदरिया सावन की,
सावन की मनभावन की।
घिरि आइलि रे बदरिया सावन की ॥ १ ॥
अति निरमोही पिय ना आइले,
अन्हा अब ना आवन की।
घिरि आइलि बदरिया सावन की ॥ २ ॥
सखियाँ झूला हिलिमिलि झूलत,

मोर जियरा तरसावन की।
घिरि आइलि रे बदरिया सावन की ॥ ३ ॥

इस प्रकार लोककाव्य में भी ऋतुओं का चमत्कारी तथा हृदयग्राही वर्णन उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार संस्कृत तथा हिन्दी के शिष्ट काव्यों में। प्रवृति का आकर्षण सार्वभौम होता है। मानव हृदय में सरसता एक रूप से प्रवाहित होती है चाहे वह मानव ग्राम में अपना सामान्य जीवन बिताता हो या नगर में अपना विशिष्ट वैभव युक्त जीवन व्यतीत करता हो।

खण्ड ४

संस्कृत-काव्य

देववाणी लोकवाणी थी

संस्कृत हमारी देववाणी है। हमारे धर्म से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले समग्र ग्रन्थ इस भाषा में निबद्ध किये गये हैं। वे ग्रन्थ भी संस्कृत में हैं जिनका साक्षात् सम्बन्ध धर्म से नहीं है। मानव-जीवन के लक्ष्यभूत चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों विषयों पर हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने जो रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, वे सब संस्कृत में निबद्ध हैं। भारत के विभिन्न प्रान्तों की भाषाए संस्कृत मूलक हैं, यह किसे विदित नहीं है? विचित्र बात तो यह है कि सुदूर दक्षिण की द्राविडी भाषाओं का भी बहुत बड़ा अंश संस्कृत भाषा पर आश्रित है। आर्य लोगों ने जिन उपनिवेशों को स्थापित किया, वहाँ संस्कृत राजभाषा के रूप में मान्य हुई। इस प्रकार संस्कृत का महत्त्व हमारी संस्कृति तथा सभ्यता के इतिहास में बहुत बड़ा है।

यहाँ हम वैदिक संस्कृत के विषय में कुछ नहीं कहते, जो अपने समय में बोलचाल की भाषा थी ही। लौकिक संस्कृत के विषय में लोगों की भ्रान्त धारणा बनी हुई है कि यह बोलचाल की भाषा कभी नहीं रही। इसे सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय महर्षि पाणिनि को प्राप्त है। संस्कृत भाषा में जो एकरूपता तथा व्यवस्था दीख पड़ती है, वह सब पाणिनि की ही अनुकम्पा का प्रसाद है। कुछ लोग यह दोष पाणिनि पर लगाते हैं कि उन्होंने सूत्रों के द्वारा भाषा को जकड़ कर उसे अस्वाभाविक बना दिया है। परन्तु यह तथ्य नहीं है। यदि पाणिनि का व्याकरण न होता तो संस्कृत भाषा में इतने रूपान्तर होते, उसमें इतनी विकृति आ जाती कि हम उसे पहचान भी नहीं

सकते थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी भाषाविज्ञान के नियमों के आधार पर बनी है। यह उनके भाषा-ज्ञान का चूडान्त निदर्शन है। पाणिनि के अनन्तर 'वार्तिककार कात्यायन' हुए, जिन्होंने अष्टाध्यायी पर वार्तिकों की रचना की। इन वार्तिकों में पाणिनिकाल के अनन्तर प्रयुक्त होनेवाले शब्दों की व्युत्पत्ति बतायी गयी है।

विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में पतंजलि ने 'अष्टाध्यायी' पर 'भाष्य' लिखा, जो इतना सुन्दर, उपादेय तथा प्रामाणिक है कि उसे 'महाभाष्य' के नाम से पुकारते हैं। लौकिक संस्कृत के कर्ता-धर्ता ये ही तीन मुनि हैं, जिनके कारण व्याकरण 'त्रिमुनि' के नाम से विख्यात है। बाद के युग में संस्कृत व्याकरण पर जो कुछ लिखा गया वह केवल इस 'मुनित्रय' के ग्रन्थों की व्याख्यामात्र है। कुछ लोगों का कथन है कि इस 'मुनित्रय' के द्वारा संस्कृत होने के कारण ही यह देववाणी 'संस्कृत' नाम से अभिहित की जाती है। दण्डी इस बात के समर्थक हैं—, संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः (काव्यादर्श)।

संस्कृत के स्वरूप का विचार करते समय यह जानना जरूरी है कि लोकव्यवहार में उसका क्या रूप था वह बोलचाल की भाषा थी या नहीं। इसके विषय में दो विरोधी मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृत ही बोलचाल की भाषा थी, संस्कृत तो केवल साहित्यिक भाषा है, जिसका प्रयोग ग्रन्थों में ही होता रहा, बोलचाल में नहीं। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि यह बोलचाल की भी भाषा रही है; किसी समय में भारतीय जनता अपने भावों को इसी भाषा के द्वारा प्रकट किया करती थी; धीरे-धीरे प्राकृत के उदय होने से इसका व्यवहार-क्षेत्र कम होने लगा, परन्तु इसका चलन तथा व्यवहार शिष्ट लोगों में बना ही रहा।

महर्षि यास्क ने 'निरुक्त' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलायी गयी है। इस ग्रन्थ का प्रमाण संस्कृत को बोलचाल की भाषा सिद्ध करता है।

जो वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की बोली थी, उसे यास्क ने स्थान-स्थान पर 'भाषा' कहा है। उन्होंने वैदिक कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से की है जो लोक-व्यवहार में आते थे। उस समय भिन्न-भिन्न प्रान्तों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट प्रयोग काम में लाये जाते थे, उन सबका उल्लेख यास्क ने किया है। उदाहरणार्थ 'शवति' क्रिया-पद का प्रयोग कम्बोज देश (वर्तमान पंजाब के पश्चिमोत्तर प्रान्त) में 'जाना' अर्थ में किया जाता था, परन्तु इसके संज्ञा-पद 'शव' (मुर्दा) का प्रयोग आर्य लोग करते थे। पूर्वी प्रान्तों (प्राच्य) में 'दाति' क्रिया-पद का प्रयोग 'काटना' अर्थ में होता था, परन्तु उत्तर के लोगों में इसी से बने हुए 'दात्र' शब्द का प्रयोग 'हँसिया के अर्थ में होता था। इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

पाणिनि का प्रामाण्य

पाणिनि के समय में (विक्रम-पूर्व पाँच सौ) संस्कृत का यह रूप बना ही रहा। पाणिनि भी इस बोली को 'भाषा' ही के नाम से पुकारते हैं। दूर से पुकारने के समय तथा प्रत्याभिवादन के अवसर पर पाणिनि ने प्लुत स्वर का विधान किया है। यदि दूर से कृष्ण को पुकारना हो तो संस्कृत में 'अगच्छ कृष्ण' कहना पड़ेगा। वहाँ पाणिनि के अनुसार कृष्ण का अकार प्लुत होगा। इसी प्रकार अभिवादन करने के अनन्तर जो आशीर्वाद दिया जायगा वहाँ पर भी प्लुत करना पड़ेगा जैसे, देवदत्त नामक कोई छात्र गुरु को इस प्रकार प्रणाम करे—आचार्य, देवदत्तोऽहं त्वामभिवादये (गुरु जी, मैं देवदत्त आपको प्रणाम कर रहा हूँ), तो यह कह कर आशीर्वाद देगा—आयुष्मान् एधि देवदत्त ३ (आयुष्मान् घनो हे देवदत्त)। इस आशीर्वाद-वाक्य में 'देवदत्त' शब्द के अन्त का अकार प्लुत हो जायगा, यह पाणिनि की व्यवस्था है।

इन नियमों का उपयोग तभी हो सकता है जब भाषा वस्तुतः बोली जाती हो। निरुक्तकार के समान पाणिनि ने संस्कृत के उन रूपान्तरों को लिखा है जो पूर्वी तथा उत्तरी लोगों द्वारा व्यवहृत किये जाते थे। बोलचाल के बहुत से मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में दिये हैं, जैसे दण्डा-दण्डि (डंडा-डंडी, लाठा-लाठी), केशाकेशि (नोचा नोची, बालों को खींच कर होनेवाला युद्ध), हस्ताहस्ति हाथा-हाथी या हाथापाई) उदरपुरं भुङ्क्ते (पेट भर खाता है।) इत्यादि। इतना ही नहीं, पाणिनि ने शब्दों में स्वर-विधान के नियम को बड़े विस्तार के साथ दिया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि की भाषा बोलचाल की भाषा थी। यदि ग्रन्थ के लिखने में ही उसका उपयोग होता, तो पूर्वोल्लिखित नियमों की उपयोगिता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।

कात्यायन

पाणिनि के अनन्तर कात्यायन के समय (विक्रम-पूर्व चतुर्थ शतक) में तथा पतंजलि के समय (विक्रम पूर्व द्वितीय शतक) में संस्कृत भाषा विकसित होती गयी; उसमें नये-नये शब्द आने लगे, नये नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा। इसी लिए कात्यायन ने वार्त्तिक लिख कर उनकी व्यवस्था कर दी। पाणिनि ने 'हिमानी' तथा 'अरण्यानी' का प्रयोग केवल स्त्रीलिंग की कल्पना में माना है, परन्तु कात्यायन के समय में 'महत्त्व' के अर्थ में इनका प्रयोग होने लगा। 'अरण्यानी' का अर्थ हुआ—बड़ा जंगल। इसी प्रकार कात्यायन के समय में 'यवनानी' का प्रयोग यवनों की लिपि के अर्थ में होने लगा। पाणिनि के समय में 'यवन की स्त्री' के लिए इसका प्रयोग होता था। पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य में नये प्रयोगों की प्रक्रिया दिखलायी है। संस्कृत शब्दों के प्रान्तीय रूपान्तरों का उल्लेख उन्होंने भी किया है; यथा, 'चलने' के अर्थ में सुराष्ट्र (काठियावाड़) देश में 'हम्मति' का प्रयोग करते हैं; पूरब देश में 'रहति' का; आर्य

लोगों में 'गच्छति' का। पतंजलि ने ऐसे लोगों को 'शिष्ट' बतलाया है जो बिना किसी अध्ययन के ही संस्कृत शब्दों का शुद्ध प्रयोग करते थे। इनके जो प्रयोग होते थे वे सर्वसाधारण के लिए प्रमाणभूत माने जाते थे।

महाभाष्य

महाभाष्य में एक बड़ा रोचक संवाद दिया है जिसमें 'प्राजितृ' (चलाने वाला) शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में एक वैयाकरण तथा एक सारथि में खूब वाद-विवाद हुआ है। वैयाकरण ने पूछा, 'इस रथ का प्रवेत्ता कौन है ? सूत—आयुष्मन्, मैं इस रथ का प्राजिता (चलाने वाला) हूँ। वैयाकरण—'प्राजिता' शब्द अपशब्द है। सूत—देवानां प्रिय, महाशय जी, आप केवल 'प्राप्तिज्ञ' हैं 'इष्टिज्ञ' नहीं हैं (अर्थात् लोक-व्यवहार के प्रयोग से अनभिज्ञ हैं) वैयाकरण—अहो, यह 'दुरुत' (दुष्ट सूत) हमें कष्ट पहुँचा रहा है ! सूत—आपका 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द 'सू' (उत्पन्न करना) धातु से बना है। 'वेञ' (बुनना) धातु से नहीं। अतः यदि आप निन्दा करना चाहते हैं तो 'दुःसूत' शब्द का प्रयोग करें।

सूत का कथन अधिक उपयुक्त है। वैयाकरण तो केवल सूत्रों को ही जानता है, वास्तव में प्रयुक्त शब्दों की उसे जानकारी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि जिस भाषा को रथ हाँकनेवाला समझे और बोले उसे बोलचाल की भाषा न कहना कहाँ तक ठीक है ? मुहावरों से तो महाभाष्य भरा पड़ा है—उन मुहावरों से, जिनका प्रयोग हमारी ग्रामीण बोलियों में आज भी विद्यमान है, चाहे खड़ी बोली में वे न दीख पड़ें, जैसे—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु (भाष्य १,३,१) की छाया हूबहू बनारसी बोली में इस प्रकार दीख पड़ती है 'गोड़ो कइली मूड़ो कइली, तऊ हमार गुन त का तू मनल' (हर प्रकार की सेवा मैंने तुम्हारी की, परन्तु तुमने उसका कुछ भी गुन नहीं माना)। 'कृ' धातु का सामान्य अर्थ है 'करना', परन्तु इसका एक और भी विशिष्ट

अर्थ है, जिसका उल्लेख महाभाष्यकार ने किया है। यह अर्थ है—'साफ करना', 'दबाना' या 'सेवा करना'। इसी विशिष्ट अर्थ में भाष्यकार के प्रयोग हैं—पृष्ठं कुरु (पीठ को दबाओ', पादौ कुरु (पैरों को दबाओ या उनकी सेवा करो)। इस अर्थ में 'कृ' का प्रयोग संस्कृत साहित्य में भी बहुत कम उपलब्ध होता है। जयदेव ने गीत-गोविन्द की एक अष्टपदी में इसका विशिष्ट प्रयोग किया है—

करकमलेन करोमि चरणमह—
मागमितासि विदूरम् (सर्ग १२)

इन मुहावरों के प्रयोग से संस्कृत भाषा की सजीवता, लोकप्रियता तथा व्यावहारिकता का पता चलता है। इन प्रमाणों के आधार पर, विक्रम से हजारों वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम के उदय तथा बाद की अनेक शताब्दियों तक संस्कृत अवश्य बोलचाल की भाषा थी, इसी परिणाम तक हम पहुँचते हैं। भारत के अनेक प्राचीन संस्कृत-प्रेमी राजाओं ने यह नियम बना रक्खा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का ही प्रयोग किया जाएगा। राजशेखर ने विक्रम का नाम इस प्रसंग में निर्दिष्ट किया है। धारा-नरेश राजा भोज (११ शतक) के समय में भी संस्कृत का बोलने तथा लिखने के लिए बहुत प्रयोग होता था। हम उस जुलाहे की बात कभी नहीं भूल सकते जिसने संस्कृत में अपना परिचय देते समय कहा था, 'काव्य तो मैं उतना अच्छा नहीं बनाता पर यदि यत्न से लिखूँ तो सुन्दर भी लिख सकता हूँ।' एक साधारण जन की इतनी संस्कृतज्ञता तथा काव्य-प्रेम अत्यन्त श्लाघनीय है।

काव्य में प्रकृति और प्रेम

संस्कृत के कवि सौन्दर्य तथा माधुर्य के उपासक होते हैं। उनका हृदय सौम्य भाव में विशेष रमता है। माधुर्य के उत्पादक दृश्यों के ऊपर दृष्टि विशेष रीझती है। वे मानव हृदय के भावों के समझने तथा विश्लेषण में जितने कृतकार्य हैं उतने ही वे बाह्य प्रकृति के रहस्यों के परखने तथा उद्घाटन में समर्थ हैं। बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण संस्कृत काव्यों में, विशेषतः प्राचीन काव्यों में, प्राप्त होता है। प्रकृति के दृश्यों को कवियों ने अपने तीव्र अवलोकन का विषय बनाया है तथा यथार्थता से मण्डित वर्णनों का चमत्कार सहृदयों के हृदय को बलात् अपनी ओर खींचता है। प्रकृति संस्कृत काव्यों में उभयरूपेण चित्रित की गई है—आलम्बन रूप से तथा उद्दीपन रूप से। आलम्बन रूप वाले वर्णनों में प्रकृति ही स्वयं वर्ण्य रहती है तथा उद्दीपन रूप में उसका मानव प्रकृति के ऊपर उत्पन्न प्रभाव ही वर्णन का विषय रहता है।

कालिदास और भवभूति ने वर्षा के आगमन का वर्णन किस सीधी सादी यथार्थता से नीचे लिखी पंक्तियों में रख दिया है:—

आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं।

(मेघदूत)

श्रयति शिखरमद्रेर्नूतनस्तोयवाहः।

(मालतीमाधव और उत्तर रामचरित)

भवभूति की पंक्ति कालिदास की पंक्ति की स्मृति से उत्पन्न हुई है, किन्तु इस पंक्ति के अनुकरण में कितनी नूतनता है यह 'तोयवाह'

(जल से भरा हुआ मेघ)* और इसमें जुड़े हुए 'नूतन' विशेषण से द्योतित होती है।

ऊपर के दृष्टान्त में चित्र की रेखा बादलों के अनुरूप सरल और स्वच्छ है, किन्तु चित्रण की यथार्थता से सुचारु और अधिक गहरी रेखा से सुसज्जित चित्र यदि तुम्हें देखना हो, और उसे भी एक पंक्ति में, तो कालिदास की इस पंक्ति को याद करोः—

'प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः'

और यदि इससे अधिक सविस्तर चित्र चाहिए तो रघुवंश के इस पम्पा सरोवर के चित्र को देखोः—

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥

देखो तो पम्पा सरोवर के तट पर नरकुल का कितना घना वन है। उसने मानो पम्पासर के प्रभूत जल को आलिङ्गित सा कर लिया है। इसके भीतर लता के झुण्ड में बैठे हुए चञ्चल सारस पक्षी इस पूर्व चित्र में कितना वैचित्र्य उत्पन्न कर रहे हैं। अपने नेत्रपुटों से आप भी इस चित्रगत सरोवर का जल अच्छी तरह से पीजिये।

किन्तु यदि इन पूर्वोक्त सारसों को आकाश में उड़ते देखना हो तो—

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥†

दूर आकाश में एक विमान की कल्पना करो। और उसमें सुवर्ण के घुँघुरू लगाओ। किन्तु यह बतलाओ कि उस चित्र से घुँघुरुओं का शब्द आप कैसे सुन सकते हैं? यह तो काव्य की ही विशेषता है कि

* जल से संभृत मेघ मानों भाराक्रान्त था। इसलिए वह आश्रय-विश्राम लेता है यह 'तोयवाह' और 'श्रयति' शब्दों के मेल से ध्वनि निकलती है।

† विमान के झरोखों से बाहर लटकती हुई तेरी सोने की करधनी के, घुँघुरुओं का शब्द सुनकर गोदावरी के सारस पक्षी, आकाश में उड़ते हुए, आगे बढ़कर, तुमसे भेंट सी करने आ रहे हैं।

इसमें चित्र और सङ्गीत दोनों का ही संमिश्रण हो सकता है। पास बहने वाली गोदावरी के तट अथवा उसके जल-पट पर आकाश में उड़ती हुई श्वेत सारसों की पंक्ति देखिये। इन सारसों को उड़ते देखने में ही खूबी है। अतएव उस खूबी के प्रत्यक्ष करने के लिये स्थिर चित्र नहीं बल्कि सिनेमा के चित्र की कल्पना कीजिये।

इससे भी यदि अधिक वैचित्र्य चाहिये तो वह भवभूति के निम्न-लिखित वर्णन में है :—

> इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्-
> प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
> फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
> स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥*

इस श्लोक में कोई अलंकार नहीं, भाव नहीं, किन्तु सारा चमत्कार वर्णन की यथार्थता में समा रहा है। वानीर की बेल पर बैठे हुइ पक्षी के चित्र से और उसे 'समद' कह कर सूचित की हुई उसके स्वर की ध्वनि से, यह वर्णन अतीव हृदयङ्गम बन गया है। चित्रकार की तूलिका की अपेक्षा कवि की वीणा में अधिक सामर्थ्य होती है। ऊपर के वर्णन में केवल 'समदशकुन्ता-क्रान्तवानीरवीरुध्', 'फलभर-परिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज' और उनमें बहती हुई नदी का केवल चित्र मात्र ही नहीं है किन्तु—स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः'— इस नदी की मुखरध्वनि भी कवि की वीणा से निकलती है। कवि की कला में चित्र और वीणा—रूप और शब्द—दोनों ही का समावेश है।

---

* यहिँ बेतस-वल्लरी पै खग बैठि, कलोल भरे मृदु बोल सुनावैं।
तिनसों झरे-पुष्प-सुगन्धित तोय, वहैं अति सीतल ही तल भावैं॥
फलपुञ्ज पकैनि के कारन, स्यामल मञ्जुल जम्बु निकुञ्ज लखावैं।
उनमें झुकि कै करि घोरधनी, झरनानि के स्रोत समूह बहावैं॥
(पं० सत्यनारायणकृत उत्तरराम चरित्र)

यथार्थता के साथ साथ वर्ण्यमान विषय के कुछ अंश को चुन लेने के कारण बड़ा ही मनोवेधक एक अति सुन्दर चित्र नीचे लिखी चित्र-कल्पना में कालिदास ने रख दिया है:—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥*

हिमालय के पवित्र पहाड़ों की तलहटी में बसा हुआ आश्रम, पर्वत के शिखर पर बैठे हुए हरिण, समीप बहती हुई 'स्रोतोवहा मालिनी' और उसकी रेत में आधे डूबे हुए हंसमिथुन तथा कृष्णमृग के सींग से अपनी बाईं आँख खुजलाती हुई हरिणी—यह सारा चित्र साङ्गोपाङ्ग होने से बहुत ही रमणीक लगता है। यही नहीं, किन्तु उस एकान्त स्थान की आत्मा मानो "सैकतलीनहंसमिथुना" तथा 'शृङ्गे कृष्ण-मृगस्य वामनयनां कण्डूयमानां मृगीम्', इस चित्र में प्रत्यक्ष आ खड़ी होती है।

प्रकृति के वर्णन का एक और प्रकार है जिसमें मनुष्यहृदय के भावों के पीछे प्रकृति तदनुरूप चित्रपट सी प्रतीत होती है। शेक्सपियर ने अपने नाटकों में प्रकृति का इस प्रकार ही उपयोग किया है। हमारे मध्यकालीन संस्कृत कवियों ने भी प्रकृति के दृश्यों को मनुष्यहृदय के

---

* लिखन काज अब ही रह्यो बहत मालिनी नीर।
हंसन की जोड़ी सुभग राजति जाके तीर॥
दुहुँ ओर पावन लिखूं हिमवत चरन पहार।
बैठे हरिन सुहावने जिन पै करत जुगार॥
चाहत हूं औरहु लिखूं तरु वर एक अनूप।
डारन पै बल्कल वसन परे लगन को धूप॥
नीचे ताही रूप के हिरनी लिखूं बनाय।
दृग कर सायर सींग तें बायों रही खुजाय॥
(राजा लक्ष्मण सिंह)

उद्दीपन विभाव रूप से अङ्कित किये हैं। हमारे रस-शास्त्रियों ने भी रस रस में प्रकृति को उद्दीपन विभाव रूप से माना है। संस्कृत काव्यों में वसन्त ऋतु, चन्द्रिका, कोकिलस्वर, मेघालोक इत्यादि शृंगार रस के सामान्य उद्दीपन प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त चैत्र मास की रात्रियाँ, विकसित मालती पुष्पों से सुरभित कदम्बवन की वायु, नर्मदा का तट और वहाँ के वेतस वृक्ष के कुञ्ज इत्यादि विशेष उद्दीपन भी उन्होंने वर्णित किये हैं। उपर्युक्त प्रकार से प्रकृति उद्दीपन विभाव बन जाती है। कुछ कवियों ने तो प्रकृति और मनुष्यहृदय के बीच में कुछ गूढ़ सम्बन्ध है यह माना है। विदेश गये पति वर्षा-ऋतु के आने पर घर की ओर आकर्षित और आकाश में मेघ को देखकर प्रिया के समागम के लिए समुत्सुक होते हैं—यह बात कविलोग स्वाभाविक समझते हैं। कविवर कालिदास का भी ऐसा विश्वास है कि प्रकृति के अमुक दृश्य में किसी गूढ़ रीति से अमुक भावों की प्रेरणा करने वाली शक्ति है :

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः।

प्रकृति के मनोहर दृश्य वा श्रव्य का मनुजहृदय के साथ कोई अगम्य सम्बन्ध है। इसमें कालिदास को यत्किंचित् भी शंका नहीं।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥
शाकुन्तल।*

प्रकृति की यह भाव-प्रेरक शक्ति कल्पित नहीं, किन्तु यथार्थ है यही कालिदास का मत है:—

---

* लखि के सुन्दर वस्तु अरु मधुर गीत सुनि कोइ।
सुखिया जनहूं के हिये उत्कण्ठा यदि होइ॥
कारन ताको जानिये सुधि प्रगटी है आय।
जन्मान्तर के सजन की जो मन रही समाय॥

शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।
शाकुन्तल।

और अन्यत्र

मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥
कुमारसंभव

पूर्वोक्त दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है कि प्रकृति की अमुक स्थिति—स्थान और समय—पशु-पक्षी में भी, मनुष्य का तो कहना ही क्या, अमुक भाव उत्पन्न करती है। मनुष्य का प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उसके हृदय में भी प्रकृति ऐसा ही भाव उत्पन्न करती है। यह कालिदास की दृढ़ भावना है। समस्त विश्व की अखण्डता का भान इस भावना में समाया रहता है, जिसके कारण काव्य लोकोत्तर आनन्द का हेतु हो जाता है।

प्रकृति को एक शक्तिरूप से मानकर अथवा उसके तरह तरह के दृश्यों को देखकर उनसे शिक्षा ग्रहण करना—यह प्रकृति के प्रति कविहृदय की वृत्ति का और एक प्रकार है। अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ इस रीति से अखिल प्रकृति को एवं उसके किसी किसी दृश्य को देख कर शान्त शुद्ध और उदात्त भाव का अनुभव करता था। हमारे यहाँ भी कितने ही कवियों ने प्रकृति के भिन्न-भिन्न दृश्यों को निरख कर उनसे उपदेश ग्रहण किये हैं (द्रष्टव्य भागवत १०।२०)।

कविवर वर्डस्वर्थ के प्रकृति-वर्णन में यह विलक्षणता है कि उसने प्रकृति को एक अखण्ड और सजीव वस्तु मानकर उसका साक्षात्कार किया है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने की बात है कि वर्डस्वर्थ के दृष्टिबिन्दु पर फ्रांस के तत्त्वचिन्तक रूसो का असर पड़ा था। फ्रांस में क्रान्ति पैदा करनेवाले तत्त्वचिन्तकों में रूसो एक मुख्य पुरुष था। उसकी यह अटल धारणा थी कि इस संसार को मनुष्य ने स्वयं ही बिगाड़ा है और यदि मनुष्य वर्तमान झूठी संस्कृति को छोड़कर प्रकृति के स्वरूप को प्राप्त कर ले तो वह अधिक निर्दोष और सुखी

होगा। यही कल्पना इस समय फ्रान्स से इंग्लैण्ड में संक्रान्त हुई थी। और इसी दृष्टि का काव्यात्मक स्वरूप हमें वर्डस्वर्थ में मिलता है। हमारे यहाँ कवियों ने 'वन-श्री' 'वन-लक्ष्मी या 'वन-देवता' की कल्पना की है और सांख्यमत का आश्रय लेकर सचराचर विश्व में व्याप्त एक प्रकृति का दर्शन किया है और उसकी दिव्यता सूचित करने के लिये उसका देवीरूप से वर्णन किया है। परन्तु जिस रीति से कवि वर्डस्वर्थ ने प्रकृति का काव्य में वर्णन किया है उस रीति से संस्कृत कवियों ने नहीं किया। किन्तु क्या उस रीति से होमर आदि ग्रीक महाकवियों ने भी इसका वर्णन किया है ? क्या कीट्स, बायरन' टेनीसन अथवा अन्य किसी कवि ने प्रकृति का उसी रीति से वर्णन किया है ? प्रकृति-विषयक कल्पनाओं में भिन्नता होते हुए भी प्रकृति के प्रति प्रेम अथवा आदर में और उससे उत्पन्न होनेवाले काव्यानन्द में न्यूनाधिकता नहीं होती। पूर्वोक्त कालिदास की प्रकृति-विषयक भावना और मनुष्यहृदय के साथ उसके सम्बन्ध का भाव, वर्डस्वर्थ की अपेक्षा, गम्भीरता अथवा तत्वदर्शिता में किसी भाँति कम नहीं है।

संस्कृत काव्य में प्रेम-भावना

संस्कृत काव्य अधिकांशतः प्रेममूलक होते हैं। मानव जीवन को सरस बनाने वाली तथा उसे उदात्त मार्ग के ऊपर अग्रसर करनेवाली चित्तवृत्ति प्रेम ही तो है। संस्कृत के महाकवियों ने अपने काव्यों तथा नाटकों के लिए रागात्मिका भावना को उद्बुद्ध करनेवाले आख्यानों को चुना है। इसमें उनकी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रतिभा का साक्षात्कार हमें मिलता है। प्रेम के साथ नारी-सौन्दर्य भी अन्योन्य सम्बन्ध से संबद्ध रहता है। कवियों ने अपने लघु कथा वृत्त को उपबृंहित करने के लिए काम की उद्दीपक सामग्री का प्रचुर उपयोग अपने काव्यों में किया है। इसके निमित्त सन्ध्या, सूर्योदय, प्रभात, अन्धकार चन्द्रोदय आदि उद्दीपक ऋतुदृश्यों के साथ ही साथ स्त्रियों की जल-क्रीडा, नाना प्रकार की उद्दीपक कामचेष्टाओं का भी विवरण हमें इन

काव्यों में प्राप्त है। 'कामशास्त्र' में प्रवीणता तथा विज्ञता का प्रदर्शन ही कविजनों का मुख्य उद्देश्य माना गया है। अनेक कवियों ने 'काम सूत्र' में वर्णित कामी जनों की ललित चेष्टाओं के प्रदर्शन के लिए ही अपने काव्यों के अनेक अंश का निर्माण किया है। इस तत्कालीन रुचि का अज्ञान ही इन वर्णनों के ऊपर अश्लीलता के दोषारोपण करने का मुख्य कारण है।

संस्कृत काव्यों के प्रेम वर्णन का अपना वैशिष्ट्य है। संस्कृत कवियों की दृष्टि में प्रेम दिव्य लोक की वस्तु होने के साथ ही साथ इस भूतल पर विचरणशील भौतिक पदार्थ है। संस्कृत कवि काम को मानव जीवन को क्षुब्ध करनेवाली भौतिक क्षुधा के रूप में ग्रहण करता है और इसीलिए काम के इस शारीरिक प्रभाव के चित्रण करने में वह पराङ्मुख नहीं होता। नारी सौन्दर्य का चित्रण भी हमारे कवियों का कलात्मक होता है। वे नारी को भोग्य वस्तु से ऊपर उठाकर कलाभिव्यक्ति का मुख्य साधन पदार्थ मानते हैं। लक्षण तथा लक्ष्य ग्रन्थों में उभयत्र ही यही कलात्मक भावना सर्वत्र समादृत तथा सत्कृत की गई है। इस साहित्यिक वैशिष्ट्य तथा तत्कालीन लोकरुचि का विश्लेषण बिना किये ऐसे वर्णनों की आधुनिक नियमों से समीक्षा करना तथा उन्हें अश्लील बत-लाना ऐतिहासिक भूल है।

सदाचार के विषय में प्रत्येक देश तथा काल का एक निजी मापदण्ड होता है और उसी के सहारे उस देश तथा उस युग की साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन किया जा सकता है। संस्कृत कवियों के इस प्रेमवर्णन को बीसवीं सदी के पाश्चात्य मापदण्ड से मापना उसी प्रकार अनुचित होगा जिस प्रकार भारतीय दृष्टि से शेक्सपीअर के नाटकों में वर्णित प्रेमदृश्यों में कामुकता तथा अश्लीलता की उद्भावना। संस्कृत के आलोचक-प्रवर रुद्रट[१] ने स्पष्ट ही लिखा है कि किसी कवि को परदारा की न तो स्वयं अभिलाषा करनी चाहिए और न उसका उपदेश ही दूसरों के लिए करना चाहिए,

१ नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः

परन्तु उसके चरित्र का चित्रण तथा रूप का वर्णन कर्तव्य दृष्टि से ही करना चाहिए। अतः संस्कृत का कवि नारी के रूप का वर्णन तथा प्रेम का चित्रण इसी उदात्त भावना से प्रेरित होकर ही करता है। ऐसी दशा में उसके ऊपर अश्लीलता का आरोप एकदम मिथ्या है।

निष्कर्ष यह है कि संस्कृत काव्यों में प्रेम के स्वरूप का बोध दो प्रकार से होता है—रूढिग्रस्त और सहज प्रतिभाजन्य। रूढिग्रस्त प्रेम का चित्रण भारवि तथा माघ के महाकाव्यों में उपलब्ध होता है। इनका प्रेम-वर्णन रूढ़िबद्ध होने पर भी न तो अनुचित है और न अप्रासंगिक। इसके स्वरूप के औचित्य का निर्णय तत्कालीन सामाजिक रुचि, वातावरण, शिक्षा-दीक्षा तथा आचार-विचार के ऊपर ही किया जा सकता है। संस्कृत काव्यों की सृष्टि राजदरबारों में हुई जहाँ शिष्टता, सभ्यता और उच्च शिक्षा का प्राधान्य था। नागरिक रुचि भी सुसंस्कृत थी। कामशास्त्रीय अनेक तथ्यों का काव्यों में समावेश पाने का यही रहस्य है। संस्कृत काव्य का श्रोता सुसंस्कृत, कलाप्रवीण नागरिक होता था जिसके चित्तविनोद के निमित्त कामशास्त्रीय तथ्यों का उद्घाटन कविजनों के लिए आवश्यक होता था। यह सब होने पर भी काव्य में प्रेमाभिव्यंजना सौन्दर्य तथा कला की सीमा के भीतर पूर्ण औचित्य के साथ नियोजित की गई है। भारतीय समाज की सदाचार-सम्पन्नता ने प्रेम वर्णन में अश्लीलता के लिए कभी अवसर तथा प्रश्रय नहीं दिया। अगस्टन युग के रोमन कवियों के रीति ग्रन्थ में अश्लील तथा कामुक प्रेम का वर्णन संस्कृत कवियों के काव्यों में खोजने पर भी न मिलेगा। इसके लिए तो उस समय का वैभव-सम्पन्न कुरुचिपूर्ण रोमन समाज ही एकमात्र उत्तरदायी है। सहज प्रतिभाजन्य प्रेम का दर्शन हमें वाल्मीकि तथा कालिदास के काव्यों में होता है जिसमें साधना के सहारे दोषपूर्ण काम भी पूर्ण विशुद्ध और परिष्कृत प्रेम के रूप में परिणत हो गया है।

शिव महिम्नःस्तोत्र

दार्शनिक भावों की दृष्टि से, अथवा भाषा के लालित्य के अभिप्राय से, शिव-महिम्नःस्तोत्र समग्र शिवस्तोत्रों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है। वास्तव में, इस स्तोत्र में ईश्वर की सत्ता आदि अनेक विषयों पर दार्शनिक विचार प्रकट किए गए हैं तथा उनकी सिद्धि के प्रकार का भी उपपादन किया है। छंद 'शिखरिणी' होने से इस स्तोत्र में अद्भुत मनोहरता तथा सुन्दरता का समावेश पाया जाता है। इन्हीं कारणों से स्तोत्र के अन्त में भक्तों का यह उद्गार[1] कि शिव से बढ़कर कोई देवता नहीं, और न महिम्नःस्तोत्र से बढ़कर कोई स्तुति है, इस स्तोत्र के विषय में साधारण जनता के अन्तस्तल के भावों को प्रदर्शित करने में पर्याप्त है। इसी स्तोत्र के रचनाकाल का निर्णय नीचे किया जाता है।

इस स्तोत्र में आजकल ४० श्लोक मिलते हैं। परन्तु मधुसूदन सरस्वती ने केवल ३२ पद्यों पर ही टीका लिखी[2] है; जिससे जान पड़ता है कि उस समय इस स्तुति के इतने ही पद्य बनाए गए थे। उससे भी प्राचीन शिलालेख के आधार पर शुरू के केवल ३१ ही पद्य प्राचीन ठहरते हैं। इन्दौर-राज्य के अन्तर्गत मालवा-देश में, श्री नर्मदा के तट पर, श्रीअमरेश्वरनाथ महादेव का मन्दिर है। उसी मन्दिर की दीवार पर महिम्नःस्तोत्र के ३१ पद्य खुदे मिले हैं। यह लेख विक्रम संवत् ११२० का है। इससे जान पड़ता है कि आज से आठ सौ वर्ष पहले महिम्नःस्तोत्र के केवल ३१ ही पद्य मूलभूत थे; शेष पद्य पाठकों

---

१ महेशान्नापरो देवो महिम्ना नापरास्तुतिः। (श्लो० ३७)

२ निर्णयसागर प्रेस का संस्करण।

ने अपनी इच्छानुसार बढ़ा दिए हैं। अन्तिम ९ श्लोकों में तो केवल ग्रंथकर्ता का नाम तथा स्तोत्र-पाठ के फल का उल्लेख है। निश्चय ही यह अंश मूल स्तोत्र की रचना के अनन्तर जोड़ दिया गया होगा।

रचयिता

महिम्नःस्तोत्र के टीकाकारों ने 'पुष्पदंत'-नामक किसी गंधर्व को इसका रचयिता बतलाया है। परन्तु मदरास की कितनी ही हस्त-लिखित प्रतियों में कुमारिल भट्टाचार्य ही इसके कर्ता लिखे गए हैं।[1] एक टीकाकार ने कुमारिल को शिव के पुत्र सुब्रह्मण्य का अवतार मान कर इस स्तोत्र का लेखक माना है। ये बातें इस स्तोत्र की प्राचीनता तथा अतिशय आदर को सूचित करती हैं। डी० सी० भट्टाचार्य ने प्रबंधचिंतामणि के आधार पर 'ग्रहिल' को इसका रचयिता माना[2] है। परन्तु अन्य किसी ग्रन्थ से इसकी पुष्टि न किए जाने के कारण यह मत भी उतना उपयुक्त नहीं जान पड़ता।

समय

प्रबंध चिंतामणि में इस स्तोत्र का एक पद्य मिलता है। इससे इसका समय १२ वीं शताब्दी के इधर कभी नहीं हो सकता। परंतु एक और प्रमाण की उपलब्धि से इसकी प्राचीनता स्थिर की जा सकती है। राजशेखर (दशम शताब्दी के आरंभ में) ने अपनी 'काव्य मीमांसा[3] के आठवें अध्याय में 'काव्यार्थयोनि' का विचार किया है। इसमें उसने 'न्याय वैशेषिक' के सिद्धांत को दिखलानेवाले महिम्नःस्तोत्र के निम्न-लिखित पद्य को, उदाहरण के रूप में, उद्धृत किया है[4]।

---

१ कैटलाग ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स (मदरास), जि० २१; नं० १२२०३।

२ इण्डियन एण्टिक्वेरी (वर्ष १९१७)।

३ काव्य-मीमांसा—गायकवाड़-ओरियण्टल-सीरीज के प्रथम ग्रंथ—की भूमिका, पृष्ठ २५।

४ काव्य-मीमांसा, पृ० ३७।

"न्यायवैशेषिकीयः—स किं सामग्रीक ईश्वरः कर्ता इति पूर्वपक्षः। निरतिशयैश्वर्यस्य तस्य कर्तृत्वमिति सिद्धांतः। अत्र—

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः।

यह श्लोक आजकल के पाठ के अनुसार पाँचवाँ है। इसके मूल-स्तोत्र का सत्य अंश होने में किसी प्रकार का संदेह उपस्थित नहीं किया जा सकता। दसवीं शताब्दी के आरंभ में यह स्तोत्र इतना प्रसिद्ध था कि राजशेखर ने पूर्वोक्त पद्य उद्धृत करते समय इसका नाम लेने की आवश्यकता नहीं समझी। अतएव यह स्तोत्र दसवीं शताब्दी से भी अधिक प्राचीन है।

स्तोत्र का एक पद्य सुबंधु (छठी शताब्दी में) की वासवदत्ता के गद्य के सर्वथा अनुकूल है। मुद्रित पुस्तकों का ३२वाँ श्लोक[1] सर्व साधारण में अत्यंत प्रसिद्ध है। श्लोक का भाव यथार्थ में रमणीय है। वासवदत्ता में भी ठीक ऐसे ही भाव की अवतारणा पाई जाती है।[2] अतएव यदि स्तोत्र के उस पद्य को वासवदत्ता के गद्य की छाया पर

---

१ असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिंधुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।

२ वासवदत्ता (वाणी-विलास का संस्करण), पृ० ३०६।

आवश्यक गद्यांश यह है—त्वत्कृते याऽनया यातनानुभूता, सा यदि नभः पत्रायते, सागरो मेलानंदायते, ब्रह्मा लिपिकरायते, भुजगपतिर्वा कथकायते, तदा कथमप्यनेकैर्युगसहस्रैरभिलिख्यते कथ्यते वा। (मेलानंद = दावात)। अर्थ—तुम्हारे लिए इस बालिका ने जितनी यातना भोगी, वह यदि आकाश कागज हो जाय, सागर दावात बने, तथा ब्रह्मा लिखनेवाला या शेषनाग कहनेवाला हो, तो किसी तरह अनेक युग-सहस्र में उसका वर्णन हो सकता है।

रचा गया मानें, तो स्तोत्र छठी शताब्दी के पहले का कभी सिद्ध नहीं हो सकता। वासवदत्ता महाकवि सुबंधु की मौलिक कल्पना का भांडार है। स्तोत्र में प्रायः अन्य अच्छे भावों को अपनाना कोई असंभव नहीं जान पड़ता। तथापि इससे स्तोत्र के समय पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। ऊपर कहा गया है कि ११वीं शताब्दी में केवल प्रारंभ के ३१ ही पद्य थे; अतएव ३२वाँ श्लोक—वासवदत्ता की छाया मानते हुए भी—पीछे का ही सिद्ध होता है। अतएव इस भाव-साम्य से रचना के प्रश्न को कुछ भी सहायता नहीं मिलती। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि स्तोत्र आठवीं या नवीं शताब्दी में बना होगा - दसवीं के अनन्तर का कभी नहीं हो सकता।

संस्कृत गद्य की रूपरेखा

गद्य का आविर्भाव मानवीय भाषा के साथ ही साथ सम्पन्न हुआ है। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य ने जब अपने हृदय की बातों को प्रकट करने के लिये भाषा का माध्यम पकड़ा, तब वह गद्य के रूप में ही प्रस्तुत हुआ। इस प्रकार भावाभिव्यक्ति का भाषा के द्वारा मौलिक माध्यम गद्य ही है। पद्य तो गद्य का एक नियमित तथा निश्चित प्रकार है। छन्दोबद्धता ही पद्य की मुख्य पहिचान है। छन्दों के नियमों द्वारा निबद्ध गद्य ही पद्य कहलाता है। गद्य के जब स्वतन्त्र रूप को लघु गुरु के द्वारा व्यवस्थित रूप प्रदान किया जाता है तथा उसमें संगीत की माधुरी तथा श्रवणीयता का पुट दिया जाता है, तब पद्य का जन्म होता है। इस प्रकार उत्पत्ति तथा व्यापकता की दृष्टि से गद्य पद्य की अपेक्षा प्राचीन तथा अधिक व्यापक है।

अभिव्यञ्जना की दृष्टि से इस पार्थक्य की परीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम होता है पद्य तथा तार्किक युक्तियों के प्रकटीकरण का माध्यम होता है गद्य। पद्य के सीमित क्षेत्र में तार्किक बातों का कथन उतनी सुन्दरता और उपादेयता के साथ नहीं हो सकता जितनी गद्य के विशाल क्षेत्र में। पद्य में छन्दोबद्धता पर आग्रह होने के कारण कवि रहता है परतन्त्र। वह अपनी कल्पना के पूर्ण वैभव को उचित रीति से प्रदर्शित करने का अवसर नहीं पाता। नियमों की यन्त्रणा से बाध्य होकर वह अपनी कला का विलास दिखला नहीं पाता। अतः पद्य कविप्रतिभा के विमल विकास के लिए पूर्ण माध्यम नहीं बन सकता। इसके विपरीत गद्य का लेखक स्वतन्त्र रहता है। स्वरूपतः गद्य उसे किसी

प्रकार के नियमों में नहीं जकड़ता। पद्य का रचयिता कवि पिंजरबद्ध शुक के समान है जो पिंजड़े की सीमा के बाहर उड़ने के लिए स्थान नहीं पाता और अपने सीमित स्थान के भीतर ही फड़फड़ाया करता है। उधर गद्य का निर्माता उन्मुक्त पक्षी के सदृश है जो स्वतन्त्रता के आनन्द का रसिक बनकर विशाल साहित्यगगन में स्वेच्छया उड़ान लिया करता है, किसी यन्त्रणा के भीतर वह अपने आप निबद्ध नहीं होता। इसीलिए गद्य कवि की प्रतिभा के परखने के लिए कसौटी माना जाता है। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' इस प्राचीन आभाणक का यही तात्पर्य है।

वैशिष्ट्य

संस्कृत गद्य का अपना निजी वैशिष्ट्य है जो इसे अन्य साहित्यिक गद्यों से पृथक करने के लिए पर्याप्त सिद्ध हो सकता है। पहिली विशेषता है प्राचीनता। प्राचीनता की दृष्टि से यह सब गद्यों में श्रेष्ठ माना जा सकता है। गद्य का आविर्भाव हमें सर्वप्रथम वेदों में होता है। गद्य से मिश्रित होने के कारण ही तो कृष्ण यजुर्वेद को कृष्ण नाम से पुकारा जाता है। दूसरी समग्र संहिताओं में, जैसे तैत्तिरीय संहिता काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता आदि में गद्य की विपुल सत्ता उपलब्ध होती है। अथर्ववेद का गद्य कालक्रम से इससे कुछ अर्वाचीन जाना जा सकता है। अथर्व का छठा भाग गद्यात्मक ही है। ब्राह्मण ग्रन्थों में गद्य का साम्राज्य है। ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य विषय ठहरा यज्ञयागों का विस्तृत विवरण और इस विवरणात्मक व्यापार के निमित्त सबसे उपयोगी माध्यम है गद्य। उपनिषदों को परखने की यह एक निशानी है कि गद्यात्मक रूप में अवतीर्ण हुआ है अथवा उसका कोई भाग्य गद्यरूप में निबद्ध हुआ है। इस प्रकार वैदिक गद्य मात्रा में अधिक व्यापक रूप में सरल तथा सुगम तथा प्रभाव में अतिशय महत्वपूर्ण है। कालक्रम से लौकिक संस्कृत में गद्य की वह व्यापकता कुण्ठित हो गई है और जिन स्थानों पर उसका नैसर्गिक अधि-

कार होना चाहिए था वहां भी हमें छन्दोबद्ध वाणी के ही दर्शन होते हैं।

संस्कृत गद्य की दूसरी विशेषता है लघुकायता। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों की अभिव्यक्ति की कला संस्कृत भाषा का अपना वैशिष्ट्य है। अन्य भाषाओं में एक लम्बे वाक्य के द्वारा प्रकटित अर्थ संस्कृत में अनायास एक शब्द के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है और इस व्यापार में समासों की सत्ता विशेष जागरूक रहती है। समास संस्कृत भाषा का जीवन है जो अधिक से अधिक भावों को कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त करने की योग्यता उसे प्रदान करता है। संस्कृत गद्य में इस समास का बाहुल्य नितान्त आवश्यक माना जाता है। आचार्य दण्डी की यह उक्ति नितान्त प्रसिद्ध है।

ओजः समासभूयस्त्वम् एतद् गद्यस्य जीवितम्।

समास की बहुलता होना ओजगुण कहलाता है और यह गद्य का जीवन होता है। ओजगुण के कारण संस्कृत गद्य में विचित्र प्रकार की भावग्राहिता तथा गाढबन्धता का संचार होता है जिससे गद्य का सौन्दर्य पूरे रूप में खिल उठता है। लौकिक संस्कृत में निबद्ध गद्य का यह निजी वैशिष्ट्य हमें गद्य के स्वर्ण युग में ही दृष्टिगोचर नहीं होता, प्रत्युत गद्य के आरम्भ काल में भी—ईस्वी प्रथम तथा द्वितीय शतक के आसपास—इसकी उपलब्धि होने से हमें बाध्य होकर इसे संस्कृत गद्य की विशेषता मानना ही पड़ता है। ओजगुण की सत्ता से संस्कृत गद्य वर्ण्य विषय का एक सामूहिक, सुसम्बद्ध, संगठित चित्र प्रस्तुत करने में सर्वथा समर्थ होता है। असमस्त वाक्यों से चित्र की गाढता का परिचय नहीं मिलता। वह तो बिखरी हुई चीज होती है जिसका कोई ही अंग हमारी दृष्टि के सामने आता है और कोई अंश ओझल ही रहता है; परन्तु समस्त पदों का अस्तित्व चित्र के समग्र रूप को उसके व्यापक प्रभाव को, हमारे मानस पटल पर झटिति अंकित कर

देता है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति का यह एक वाक्य ही विजय स्तम्भ के स्वरूप का पर्याप्त परिचायक है।

सर्व पृथिवी विजय जनितोदय व्याप्त निखिलावनितलां कीर्तिम् इतस्त्रिदशपति-भवनगमनावाप्त ललित सुख विचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयम् उच्छितः स्तम्भः।

गद्य के प्रकार

संस्कृत गद्य को दो उपलब्ध होते हैं—(१) शास्त्रीय गद्य तथा (२) साहित्यिक गद्य। शास्त्रों में गद्य का साम्राज्य ही है, गद्य के ही माध्यम द्वारा शास्त्रों के विषयों का सुन्दर तथा प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है। यह गद्य भाव प्रकाशन की दृष्टि से नितान्त प्रौढ़ तथा समर्थ है। समस्त पदों के रखने के कारण विशेष विचारों का प्रकाशन थोड़े ही शब्दों में बड़ी सुन्दरता तथा सुबोधता के साथ हमारे शास्त्रीय ग्रंथों में किया गया है। इनमें गाढबन्धता का ही विशेष ख्याल न कर प्रसाद गुण की ओर समधिक ध्यान दिया गया है। हमारे शास्त्रीय लेखकों में अनेक आचार्यों के गद्य में भी वही लालित्य, वही रोचकता, वही हृदयानुरञ्जकता दृष्टिगोचर होती है जिसे हम गद्य काव्यों में देखते हैं। तथा जिसकी माधुरी का हम आस्वाद लेते हैं। ऐसे ग्रन्थकारों में महाभाष्य के रचयिता पतंजलि, मीमांसक शवर स्वामी, नैयायिक जयन्तभट्ट तथा श्री शंकराचार्य का गद्य विशेष लालित्य सम्पन्न है। आचार्य शंकर का गद्य तो उनकी लेखनी का विशेष चमत्कार है। अद्वैत वेदान्त स्वभावतः चतर्कप्रवणता के कारण नितान्त दुर्बोध तथा कठिन ठहरा, परन्तु आचार्य शंकर ने इतनी सुन्दर भाषा में इतने चमत्कारी गद्य में सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है कि वे अनायास ही पाठकों के हृदय में प्रवेश कर जाते हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि वेदान्त की लोकप्रियता का मुख्य रहस्य उसके सिद्धान्तों की व्यापकता में जितना नहीं है उससे अधिक यह शंकर के

सरल सुबोध गद्य शैली की सत्ता में छिपा हुआ है। आचार्य का यह सरल वाक्य इसका निदर्शन है :—

पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो नहि जानुभ्यां रहितुम् अर्हति

अर्थात् पैरों से भागने में समर्थ व्यक्ति को घुटनों के बल रेंगना उचित नहीं प्रतीत होता। वाक्य छोटा होते हुए भी स्वयं विशेष चमत्कारी है।

साहित्यिक गद्य

साहित्यिक गद्य का सुवर्णयुग है सप्तम शतक। इसकी तीन विभूतियां है। (१) सुबन्धु, (२) बाणभट्ट तथा (३) दंडी। संस्कृत गद्य के लालित्य तथा भावाभिव्यक्ति का माधुर्य तथा उन्नत रूप का दर्शन हमें इन लेखकों के काव्यों में भलीभांति होता है। रूप के कारण भारतीय आलोचक गद्य तथा पद्य में कोई भेद नहीं मानता। काव्य की निशानी रसात्मकता ही है और उसकी सत्ता होने से ही काव्य का वैभव परिस्फुटित होता है चाहे वह छन्दोमयी वाणी के पद्यात्मक रूप में हो अथवा छन्दोवर्जित वाणी के गद्य रूप में। सुबन्धु उस युग के प्रतीक हैं; जिसमे श्लेष का चमत्कार ही काव्याभूषणों में सब से अधिक माना जाता था। श्लेषात्मक गद्य का जितना संघटित रूप सुबन्धु की एकमात्र रचना 'वासवदत्ता' में स्फुटित होता है वह साहित्य संसार की एक अनोखी चीज है। सुजनैकबन्धु सुबन्धु ने प्रत्यक्ष श्लेषमय प्रपंच···विन्यास वैदग्ध्यनिधि प्रबन्धं बनाने की जो भीष्म प्रतिज्ञा की, उसे उन्होंने खूब ही निभाया। वासवदत्ता नाम में ही एक विचित्र जादू है जो रसिकों के कोमल हृदय को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। कालिदास के जमाने में ही वासवदत्ता की प्रेममयी कहानी सुनाकर गांव के बूढे लोग लोगों का मनोरंजन किया करते थे। इस ग्रन्थ की नायिका का केवल अभिधान ही वासवदत्ता है। कथावस्तु प्राचीन ऐतिहासिक आख्यान से नितान्त भिन्न है। इस गद्य-काव्य में

विरोध, उपमा तथा उत्प्रेक्षा का विलास कम नहीं है, परन्तु श्लेष का चमत्कार ही इसका प्राण है। महाराज चिन्तामणि का यह श्लिष्ट वर्णन कितना चमत्कारी तथा कलात्मक है। नन्दगोप इव यशोदयान्वितः जरासन्ध इव घटितसन्धिविग्रहः, भार्गव इव सदानभोगः, दशरथ सुमित्रोपेतः सुमन्त्राधिष्ठितश्च।

अभंग श्लेष की बहुलता होने से यह कुछ श्लिष्ट हो गया है। और इसीलिये अपने गौरव के अनुकूल इसकी उतनी लोकप्रियता नहीं जितनी इसे होनी चाहिये थी।

बाणभट्ट

सप्तम शतक के एकमात्र सम्राट् हर्षवर्धन के कृपापात्र तथा सभापंडित बाणभट्ट का गद्य, गद्य का वह चूडान्त निदर्शन है जिसे अनन्त प्रयास करने पर भी पिछले कैंडे के कवि पहुँच नहीं सके। तथ्य तो यह है कि बाणभट्टीय गद्य संस्कृत गद्य के लालित्य, माधुर्य तथा औदात्य की पराकाष्ठा है। शैली का प्रवाह दर्शनीय वस्तु है। उनकी रमणीय रचना कादम्बरी अपने विषय में बेजोड़ है। अभी तक तत्सदृश गद्य के अभाव के कारण यह सद्वितीय न होकर अद्वितीय है। अलंकार तथा रस के मधुर सामंजस्य में, भाषा तथा भाव के परस्पर मधुर संयोग में, कल्पना तथा वर्णन के अनुरूप संघटन में कादम्बरी संस्कृत साहित्य में अनुपम है, अपनी जोड़ी रखती ही नहीं। बाणभट्ट को प्रकृति के विकराल भयंकर रूप का इतना पूर्ण ज्ञान है कि विन्ध्याटवी का वर्णन पढ़कर किस पाठक के रोंगटे नहीं खड़े हो जाते। उधर प्रकृति का सौम्यरूप अपने पूर्ण विलास में झलक रहा है तपोवन के वर्णन में। जाबालि की सदय मूर्ति के चित्रण में बाण के चरित्रचित्रण में विलक्षण सजीवता है। सौम्य तापस हारीत, आध्यात्मिकता की मूर्ति जाबालि, वदान्य नरपति तारापीड, शुभ्रवसना तपस्विनी महाश्वेता, कोमलहृदया कमनीयकलेवरा कादम्बरी कुछ ऐसे ही पात्र हैं जिनका प्रभाव पाठकों के हृदय पर अमिट रूप से पड़ता है। यह

रहने में मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है कि कादम्बरी विश्वसाहित्य में अपनी विलक्षण माधुरी के कारण कलापक्ष तथा हृदयपक्ष के यथावत् मिश्रण के कारण एक अद्वितीय वस्तु है तथा भविष्य में भी बनी रहेगी। बाण के द्वारा चित्रित प्रेम एक जन्म से सम्बद्ध शारीरिक विकार की साधकमात्र मनोवृत्ति नहीं है, प्रत्युत वह जन्मान्तर से सम्बन्ध रखने वाली स्वर्ग लोक में भी अनुपलब्ध दैवी वस्तु है। इसीलिए संस्कृत का एक प्राचीन आलोचक डंके की चोट पुकार रहा है:—

> रुचिर-स्वर-वर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति
> सा किं तरुणी नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य।

दण्डी

दण्डी का सुप्रसिद्ध गद्य 'दशकुमार चरित' कथानक की दृष्टि से विशेष महनीय है जिसमें कौतुक की तथा विस्मय-जनक घटनाओं की बहुलता के कारण अद्भुत रस का प्रभूत संचार होता है। इसकी कथा नितान्त सजीव है जिसके भीतर से तत्कालीन समाज अपनी मनोरम झांकी पाठकों को दे रहा है। दंडी जनता के कवि हैं और इसीलिए काव्य में जनता के सुख दुःख का, वेदना आनन्द का पर्याप्त परिस्फुरण हुआ है। इनका गद्य नितान्त व्यवहार-योग्य, सजीव तथा चुस्त है। वह न तो श्लेष के बोझ से ही दबा हुआ है और न समास के प्रहार से प्रताडित ही है।

सप्तम शतक से लेकर आज की तरह गद्य की रचना होती आ रही है। धनपाल की तिलक मंजरी, वादीभ सिंह का गद्यचिन्तामणि, सोड्ढल की उदय सुन्दरी कथा आदि अनेक आख्यान ग्रन्थों के कारण यह परम्परा आज भी इसी प्रकार अक्षुण्ण है।

प्राचीन नाट्य-शास्त्र

नाट्य का विकास तथा शास्त्रीय अध्ययन इस भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल में ही सम्पन्न हो चुका था। अनेक मान्य आलोचकों ने नाट्य को ही अपनी आलोचना का केन्द्रबिन्दु स्वीकार किया। कश्मीर के आलोचक शिरोमणि अभिनवगुप्त औचित्य तथा रस-परिपाक की दृष्टि से नाटक को समस्त वाङ्मय विभूतियों में अग्रगण्य मानते थे। वे दशरूपकात्मक काव्य को ही समस्त काव्यों में प्रधान अंगीकार करते थे। काव्यं तु मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव। जो कुछ भी कारण हो, इतना तो निर्विवाद है कि आलोचना-जगत् में नाट्य की ही आलोचना श्रव्य काव्य की आलोचना की अपेक्षा प्राचीनतर है। अलंकार शास्त्र का अध्ययन प्रथमतः नाट्यशास्त्र का उपाङ्ग बनकर ही प्राचीन काल में होता था। नाट्य नाना कलाओं के उचित संविधान होने पर ही यथार्थ रूप से सिद्ध हो सकता है। इसीलिए प्राचीन नाट्यशास्त्र इन उपादेय विद्याओं का भी विशिष्ट विवरण प्रस्तुत करता है।

प्राचीन नाट्याचार्य

आजकल प्राचीन नाटयाचार्यों में भरत मुनि का ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है, परन्तु उसकी आलोचना हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि भरत का नाट्यशास्त्र अनेक शताब्दियों के अध्ययन तथा अनुशीलन का परिणत फल है। विक्रम पूर्व अष्टम शती में पाणिनि के द्वारा निर्दिष्ट शिलालि तथा कृशाश्व ही हमारे प्राचीनतम नाट्याचार्य हैं, परन्तु इनके नटसूत्र का आज तक कहीं पता नहीं चलता। कोहल एक कर्ता

नाट्यचार्य हैं जिन्होंने भारतवर्ष में नाट्य का लोकप्रिय प्रसार कर कमनीय कीर्ति कमाई है। इनके विशिष्ट सिद्धान्तों का निर्देश नाट्य तथा संगीत ग्रन्थों ने बहुशः किया है। वर्तमान भरत-नाट्य शास्त्र के संवर्धन तथा उपबृंहण में कोहल का भी विशेष हाथ था। इसका पूरा परिचय अभिनव-भारती से भली भाँति लग सकता है। इनके अतिरिक्त वात्स्य शाण्डिल्य तथा धूर्तिल आज नाममात्र से ही अवशिष्ट हैं। प्राचीन नाट्यशास्त्र के स्वरूप का दिग्दर्शन करानेवाला एकही ग्रन्थ अवशिष्ट है जिसे ग्रन्थ न कहकर ग्रन्थराज कहना चाहिए। भरत का नाट्यशास्त्र सामान्य ग्रन्थ न होकर भारतीय ललितकलाओं का विश्वकोष है। वर्तमान नाट्यशास्त्र शताब्दियों के साहित्यिक उद्योग तथा सत्प्रेरणा का दिव्य परिणाम है। इस ग्रन्थ में तीन स्तर मिलते हैं—(१) सूत्र, (२) भाष्य, (३) कारिका। मूलग्रन्थ सूत्रात्मक था जिसके ऊपर विशद भाष्य की रचना कालान्तर में की गई। इस सूत्र-भाष्य अंश का परिचय रस तथा भावप्रतिपादक षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में हमें मिलता है। अधिकांश ग्रन्थ कारिकाओं में निबद्ध है। शारदातनय के कथनानुसार भरत नामक दो आचार्य हुए थे। वृद्ध भरत ने १२ हजार श्लोकों में नाट्य का निरूपण किया था, जिसका संक्षेप भरत मुनि ने ६ हजार श्लोकों में किया है। वर्तमान नाट्यशास्त्र के ६ हजार श्लोकों में होने के कारण यह 'षट्सहस्री संहिता' के नाम से विख्यात है।

नाट्य की उत्पत्ति

भारतवर्ष में ललित कलाओं का आविर्भाव अत्यन्त प्राचीन काल में ही हुआ था। नाट्य की उत्पत्ति भारतीय प्रतिभा का ही विशिष्ट विलास है। आज भी ऐसे विद्वानों की कमी देश में नहीं है जो मानसिक दासता के शिकार बने हुए भारतीय नाट्य के ऊपर यूनानी नाट्य का प्रभाव स्वीकार करते हैं। नाट्य की उत्पत्ति भारतवर्ष की ही पुण्यभूमि में हुई और वह हुई भारतीय मनीषियों की प्रभविष्णु

प्रतिभा के बल पर ही। नाट्य वेद के समान ही उपादेय तथा मानव जीवन के लिए कल्याणकारी संबल जुटाने वाला शास्त्र है। चारों वेदों से एक एक प्रधान उपकरण को ग्रहण कर रचा गया है यह नाट्यवेद, जो देश तथा वर्ण की सीमित परिधि को पार कर समग्र वर्णों के हृदय को आवर्जित करने में कृतकार्य होता है। भरत के कथनानुसार ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीति, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस का ग्रहण कर नाट्यवेद नामक नवीन वेद की निर्मिति की। भरत के शब्दों में—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

इस प्रकार भारतीय आलोचना के अनुसार नाट्य वह कला है जिसमें अभिनय के साथ पाठ्य का योग रहता है तथा गीति के साथ रस का सन्निवेश सिद्ध रहता है। नाट्य का प्रधान लक्ष्य है मानव हृदय का आवर्जन के साथ साथ उदात्तीकरण। नाट्य का उद्देश्य एक परिधि के भीतर सीमित न होकर सब प्रकार के मनुष्यों का कल्याण साधन करना है।

नाट्य धर्म में प्रवृत्त मानवों के लिए धर्म का उपदेश करता है। क्लीबों के हृदय में उत्साह फूँक देता है; दुर्विनीतों के लिए निग्रह का काम सिखलाता है। वेदना से विकल चित्तवाले व्यक्तियों के हृदय पर सुख तथा शान्ति का मलहम पोतता है। तात्पर्य यह है कि भिन्न वृत्ति वाले व्यक्तियों के चित्त की आराधना करने वाला यदि कोई एक पदार्थ है तो वह नाट्य ही है। इस कला के प्रवीण पारखी कालिदास की यह उक्ति जितनी मार्मिक है उतनी विशद भी है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृत-व्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥

प्रेक्षागृह

अत्यन्त प्राचीन काल में नाटक का अभिनय बाहर मैदान में आकाश के नीचे ही हुआ करता था, परन्तु नाना प्रकार के विघ्नों के उठ खड़े होने पर रंगमंच का आविर्भाव हुआ। नाट्यशास्त्र 'प्रेक्षागृह' का विवरण बड़े विस्तार से प्रस्तुत करता है। प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र। इनमें विकृष्ट भेद विस्तृत होता था जिसमें देवताओं से सम्बद्ध दृश्य दिखलाये जाते थे। 'चतुरस्र' स्पष्ट ही चौकोना होता था; परिमाण में मध्यम आकार का होता था और विशेष कर राजाओं के लिए निश्चित किया गया था। 'त्र्यस्र' तिकोने ढंग का प्रेक्षागृह था जो मात्रा में सबसे छोटा था तथा सामान्य प्रकृति के लिए विहित था। प्रेक्षागृहों के विधान के विषय में भरतमुनि बड़े ही वैज्ञानिक हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि प्रेक्षागृह को विस्तार में अधिक होना नितान्त अनुचित है, क्योंकि ऐसी दशा में उच्चारित शब्द स्पष्ट रूप से दर्शकों के कानों तक पहुँच नहीं सकता। 'सुश्रव्यता' नाट्य का प्रधान गुण है और इसकी सिद्धि मध्यम परिमाणवाले प्रेक्षा-गृहों के अस्तित्व पर ही आश्रित हो सकती है—

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चारितस्वरम्।
अनभिव्यक्त वर्णत्वात् विस्वरत्वं भृशं व्रजेत्॥

(ना० शा० २।१६)

प्रेक्षागृह का आधा भाग तो दर्शकों के निमित्त सुरक्षित रखा जाता था और आधा भाग नटों के व्यवसाय के लिए निश्चित रहता था। इसमें भी आधा भाग रंगपीठ कहलाता था जिसके ऊपर अभिनय कार्य निष्पन्न होता था। सबसे पिछला भाग 'रङ्गशीर्ष' के नाम से अभिहित होता था और यहीं नटों के लिए नेपथ्य विधान होता था। प्रेक्षागृहों के विभिन्न स्थानों पर नाना देवताओं की पूजा होती थी। सूत्रधार का वस्तुतः इन आवश्यक विधानों का सम्पादन ही मुख्य कार्य होता था। यह आरम्भिक पूजन 'पूर्वरङ्ग' कहलाता था और एक विस्तृत व्यापार

होता था जिसका केवल अन्तिम अंश नान्दी के नाम से आज भी संस्कृत नाटकों में अवशिष्ट है। इस नान्दी के अनन्तर ही पात्र का प्रवेश होता था। पूर्वरङ्ग के अवसान में श्रोताओं के हृदयवर्जन के लिए संगीत का यथावत् संविधान होता था और उस अवसर पर गाई जानेवाली गीति ध्रुवा के नाम से विख्यात है। ध्रुवा-गीति के पाँच प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—उत्थापनी, परिवर्ता, अपकृष्टा, अड्डिता तथा विक्षिप्ता। इनका गायन विशिष्ट स्वर में विशिष्ट ताल तथा मात्रा के योग से होता था। उत्थापनी ध्रुवा का उदाहरण यहाँ देना अनुचित न होगा—

> देवं विभुं त्रिभुवनाधिपतिं
> कैलासपर्वत-गुहाभिरतम्।
> शैलेन्द्र-राज-तनया-दयितं
> मूर्ध्ना नतोऽस्मि त्रिपुरान्तकम्॥

अभिनय

अब प्राचीन काल के अभिनय की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। अभिनय चार प्रकार के होते हैं—(१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य, (४) सात्त्विक। इन चारों अभिनयों के द्वारा प्रस्तुत कथावस्तु ही दर्शकों के सामने अभिनेय पदार्थ का यथार्थ रूप दिखला सकती है तथा उनका मनोरञ्जन कर सकती है। आंगिक अभिनय का सम्बन्ध दृष्टि, मुख, हस्त तथा पाद आदि नाना अवयवों से है। भरतमुनि ने इस अभिनय का इतना सांगोपांग विस्तृत विवरण दिया है कि आजकल के वैज्ञानिक युग में भी वह विलक्षण तथा विचित्र प्रतीत होता है। हाथों के द्वारा प्रस्तुत अभिनय का प्रकार दो चार दस नहीं है, प्रत्युत पूरे १०८ हैं। इन अंगहारों का रूप भी समझना आज-कल के लिए असम्भव हो जाता, परन्तु धन्यवाद है तेरहवीं शती में दक्षिण भारत पर शासन करने वाले राजसिंह (१२४३ ई०–१२७३ ई०) को जिन्होंने चिदम्बरम् के सुप्रसिद्ध शैव मन्दिर के गोपुरं में इन

समग्र करणों को नाट्यशास्त्र के तद्विषयक श्लोकों के साथ खुदवाया है। ये आज भी नटराज मन्दिर की शोभा बढ़ा रहे हैं। रस का सद्यः उन्मीलन दर्शकों के हृदय में करना ही नाट्य का प्रधान लक्ष्य है और इस कार्य में नेत्रों का विधान बड़ा ही सहायक होता है। भरत ने ३६ प्रकार की रस तथा भावोद्बोधक, दृष्टियों का विवरण अपने ग्रन्थ में दिया है जिनसे हमारे मनोभावों की अभिव्यक्ति स्पष्टरूप से दर्शकों को होती है। इस प्रसंग के महनीय मनोवैज्ञानिक मूल्य की ओर हम अपने श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट करना उचित समझते हैं।

वाचिक अभिनय में नटों तथा पात्रों के पाठ्य का विधान रहता है। पाठ्य के द्वारा ही कोई पात्र अपनी भावना अभिव्यक्त करता है तथा अन्य पात्रों के साथ कथनोपकथन में प्रवृत्त होता है। इसीलिए भरत ने इसे नाट्य का शरीर माना है तथा इस कार्य में विशेष यत्न करने के लिए कहा है—

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यतत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥

(१५।२)

पाठ्य दो प्रकार का होता है—संस्कृत तथा प्राकृत। उच्चकोटि के पात्रों की भाषा संस्कृत होती है तथा नीच श्रेणी के पात्रों की भाषा प्राकृत होती है। नाट्य का पाठ्य कवित्वमय होता है। अतः उसके लिए दोषों का परिहार, गुण तथा अलंकारों का संग्रह करना नितांत आवश्यक होता है। अभिनय का सर्वस्व होता है—औचित्य विधान। जो वस्तु जिस प्रकार की होती है उसे उसी प्रकार से रंगमंच के ऊपर दिखलाना औचित्य की परिधि के भीतर आता है। भरत का विधान बड़ा ही साहित्यिक, सरस तथा उपादेय है।

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।

गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥
(१४।६८)

प्रथम तो उम्र के विचार से उचित वेष होना चाहिए। वेष के अनुरूप होनी चाहिए गति तथा क्रिया। पाठ्य गतिप्रचार के अनुरूप होता है तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए। इस नियम के यथावत् पालन करने से ही नाट्यकला में सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

आहार्य अभिनय के भीतर वेश भूषा तथा आभूषणों का विधान किया जाता है। अधिक आभूषणों के धारण करने से नट श्रान्त हो जाता है, इसीलिए ठोस सोने के गहनों के स्थान पर लाह से भरे गहने होने चाहिए। यह वर्णन प्रयोग पर दृष्टि रखनेवाले आचार्य की गहरी दृष्टि का सूचक है—

गुर्वाभरणसन्नो हि चेष्टां न कुरुते पुनः।
गुरुभारावसन्नस्य स्वेदो मूर्च्छा प्रजायते ॥
तस्मात् न सम्यक् च कृतं सौवर्णं भूषणं भवेत्।
जतुपूर्णाल्परत्नं तु न खेद-जननं भवेत् ॥
(२३।४७, ४८)

इसी प्रसंग में श्मश्रुकर्म का विधान भी किया जाता था। दाढ़ी रखने की प्रथा प्राचीन भारत में बहुलता से थी। अतः रंग मंच पर अवतीर्ण होने वाले पात्रों के वेष को सजाने के लिए उचित दाढ़ी रखने का भी विशेष नियम रखा जाता था।

सात्त्विक अभिनय अन्तिम प्रकार का अभिनय है जिसमें पुरुषों की तथा स्त्रियों की नाना चेष्टाओं—हाव, भाव, हेला आदि—का प्रदर्शन दिखलाया जाता था। नाट्य के साथ संगीत का बड़ा ही घनिष्ठ संबंध था। संगीत के प्रयोग से अभिनय नितान्त स्निग्ध तथा मंजुल हो जाता है। अतः आजकल की भाँति प्राचीन काल में संगीत का मधुर संविधान रंगमंच पर अवश्य होता था।

प्रवृत्ति

नाट्य प्राचीन काल में जीवित कला थी। नाट्य प्रदर्शन की तत्कालीन अनेक शैलियाँ थीं जिनमें चार-शैली का, जिसे प्रवृत्ति कहते थे, भरत मुनि ने निर्देश किया है। दाक्षिणात्या प्रवृत्ति का प्रचलन विदर्भ तथा उससे दक्षिण देशों में था। आवन्तिका में वीर तथा शृंगार रसों का प्रदर्शन मुख्य था। ओड्रमाधवी पूरब भारत की प्रवृत्ति थी तथा मध्यदेश की शैली पाञ्चाली के नाम से पुकारी जाती थी।

भारतीय नाट्यशास्त्र का यह एक सामान्य चित्रण है। इससे स्पष्ट है कि नाट्य भारतवर्ष की प्रतिभा का स्वतन्त्र विलास है। जिस 'जवनिका' शब्द का आश्रय लेकर नाट्य के ऊपर यूनानी प्रभाव बतलाया जाता है वह शब्द वस्तुतः जवनिका है, यवनिका नहीं। प्रयोग नाट्य का साधन है और दर्शकों के हृदय में रस का उन्मेष लक्ष्य। इस व्यवसाय में प्राचीन नाट्य सर्वथा समर्थ होता था, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है।

संस्कृत रंगमंच

भारतीय मनीषियों की प्रतिभा सिद्धांत के प्रतिपादन के साथ ही साथ तद्व्यवहार के विवरण देने में भी समर्थ रही है। नाट्य की उत्पत्ति जिस प्रकार भारतीय नाट्याचार्यों की सैद्धान्तिक प्रतिभा का विलास है, उसी प्रकार रंगमंच की रचना उनकी व्यावहारिक प्रतिभा का निदर्शन है। भारत में समग्र साधनों से परिपूर्ण रंगमंच का उदय उतना ही प्राचीन है, जितना अभिनय का उदय। श्री भरतमुनि ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ भरतनाट्य शास्त्र में इन दोनों विषयों का प्राचीनतम आद्य विवरण प्रस्तुत किया है। भारतीय नाटक के विकास पर यूनानी प्रभाव का भ्रान्त आरोप करनेवाले आलोचक आँख खोलकर देख लें कि भारतीय रंगमंच की सर्वाङ्गीण व्यवस्था, रमणीय सज्जा तथा वैज्ञानिक निर्मिति के साथ यूनानी रंगमंच को अनगढ़, अव्यवस्थित तथा ग्रामीण रचना की कदापि तुलना नहीं हो सकती। दोनों में जमीन आसमान का अन्तर बना हुआ है। भारतीय रंगमंच की अपनी एक सुश्लिष्टता है जिसके कारण उसका प्रभाव बृहत्तर भारत, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों के रंगमंचों पर कभी पड़ा था तथा वह प्रभाव उसी रूप में आज भी देखा जा सकता है।

रंगमंच का प्राचीन संस्कृत नाम है प्रेक्षागृह या रंगशाला। अपने जीवन के आरम्भ में भारतीय नाटक का अभिनय ठेठ आसमान के नीचे खुले मैदान में होता था जिसके देखने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था, परन्तु विघ्नों के उदय ने नाट्याचार्यों को बाध्य किया कि वे नाट्य प्रयोगों को खुले मैदानों से हटाकर बन्द स्थानों में ले जायँ। भरत के कथनानुसार प्रथम अभिनीत नाट्य 'महेन्द्र-

विजय' था जिसमें देवताओं का विजय तथा दानवों का पराजय दिखलाया गया था। पराजय के दृश्य दैत्यों के हृदय में प्रतिहिंसा की भावना जगाने में समर्थ हुए। फलतः अभिनय समाप्त होने से पहिले ही दैत्यों ने यह विघ्न उपस्थित कर दिया कि बलशाली देवों ने अपनी समग्र शक्ति का प्रयोग कर ही बड़े धैर्य से तथा बड़े बल से उनका प्रशमन किया। परन्तु इस कलह तथा विघ्न के नाटक प्रयोग को सदा के लिए बचाने के लिए ब्रह्मा की आज्ञा से विश्वकर्मा ने प्रेक्षागृह का निर्माण किया।

भरतमुनि के कथनानुसार प्राचीन भारत के प्रेक्षागृह या नाट्यमण्डप तीन प्रकार के होते हैं। इन तीनों का परिमाण तथा उपयोग भिन्न भिन्न हुआ करता था। इन तीनों प्रेक्षागृहों के नाम थे (१), विकृष्ट, (२) चतुरस्र, (३) त्र्यस्र। इनमें से विकृष्ट सबसे बड़ा होता था तथा देवताओं के ही लिए नियत किया गया था। इसका परिमाण था १०८ हाथ। इसके आकार का ठीक पता नहीं चलता है। सम्भवतः यह गोलाकार होता था। चतुरस्र तो स्पष्ट ही चौकोर रंगमंच था जिसकी लम्बाई होती थी ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ। यह मध्यम कहलाता था तथा राजाओं के लिए तथा साधारण जनता के लिए भी यह प्रेक्षागृह आदर्श माना जाता था। 'त्र्यस्र' तिकोने ढंग का रंगमंच था जिसकी प्रत्येक भुजा ३२ हाथ की होती थी। इसका उपयोग सम्भवतः छोटे छोटे नाटकों के अभिनय के अवसर पर किया जाता था।

आदर्श रंगमंच

इन तीनों रंगशालाओं में चतुरस्र' या मध्यम प्रेक्षागृह आदर्श समझा जाता था। इसके वैशिष्ट्य के वर्णन के अवसर पर भरत मुनि की वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक पटुता का उज्ज्वल दृष्टान्त हमें उपलब्ध होता है। आदर्श प्रेक्षागृह के चुनाव के अवसर पर तीन

बातों पर विशेष दृष्टि रखी जाती थी। दर्शकों को रंगपीठ पर होने वाले वार्तालाप (पाठ्य) तथा गायन (गेय) का श्रवण खूब अच्छी तरह होना चाहिए। नाट्य प्रयोग में गीतियों का उपभोग दर्शकों के मनोरंजन के निमित्त ही किया जाता है। यदि श्रोताओं के कानों के लिए गायन अस्फुट ही बने रहे तथा पात्रों की परस्पर बातचीत स्पष्ट रूप से श्रुतिगोचर नहीं होती थी तो वे उस अभिनय का आनन्द नहीं उठा सकते। रंगमंच के विशाल होने में एक और भी हानि है और महती हानि है। अभिनयों में सात्विक अभिनय का महत्वपूर्ण स्थान है। भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न रसों के अभिनय प्रसंग में, पात्रों के मुखमण्डल पर अभिनीत भाव अपना प्रभाव डालता है। इसका साक्षात्कार उचित रीति से मध्यम परिमाणवाले प्रेक्षागृहों में ही हो सकता है। भरतमुनि के शब्दों में

> यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः।
> स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम्॥
> यावत् पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत्
> प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते॥

नाट्यशास्त्र २।२३, २४

मध्यम रंगशाला ६४ हाथ की लम्बाई तथा ३२ हाथ की चौड़ाईवाली एक चौकोर शाला होती थी। इसका निर्माण शुभ मुहूर्त में किया जाता था। जमीन को ठीक समतल तथा चौरस बनाने के लिये उसे हल से जोतकर ठीक करते थे। चारों कोनों पर प्रधान खम्भे लगाये जाते थे। दक्षिणपूर्व से आरम्भ कर इन स्तम्भों का नामकरण चारों वर्णों के नाम पर ब्राह्मण स्तम्भ, क्षत्रिय स्तम्भ, वैश्य स्तम्भ तथा शूद्र स्तम्भ होता था। रंगशाला के दो मुख्य भाग होते थे जिसमें आधा भाग प्रेक्षकों के लिये निश्चित होता था तथा दूसरा आधा भाग रंगमंच के निमित्त सुरक्षित रहता था। रंगमंच के सबसे पिछले भाग का नाम था 'रंगशीर्ष' जो ८ हाथ लम्बा तथा ४ हाथ चौड़ा होता था। इससे

आगेवाला भाग ठीक इतने ही परिमाण का होता था और 'नेपथ्यगृह' कहलाता था। रंगशीर्ष में अभिनय के रक्षक देवी-देवताओं की विशिष्ट पूजा होती थी तथा नेपथ्यगृह तो स्पष्टतः पात्रों के वेशभूषा के सजाने तथा परिवर्तन के निमित्त पृथक् प्रयोग में आता था। रंगशीर्ष से नेपथ्यगृह में आने के लिये दो दरवाजे बनाये जाते थे। नेपथ्यगृह के आगे होता था रंगपीठ (१६ हाथ लम्बा और ८ हाथ चौड़ा) जिसपर पात्रों के द्वारा समग्र अभिनय दिखलाया जाता था। रंगपीठ से होकर नेपथ्यगृह में जाने के लिये एक दरवाजा होता था और इसी का उपयोग पात्र अपने प्रवेश तथा निर्गम के लिये किया करते थे। एक बात ध्यान देने की है कि रंगपीठ के दोनों बगल में डेढ़ हाथ ऊँची मत्तवारणी (बरामदा) बनायी जाती थी। रंगशीर्ष के बनावट का विधान पाया जाता है। इसे न तो कूर्मपृष्ठ कछुये की पीठ की तरह होना चाहिये और न मत्स्यपृष्ठ, बल्कि दर्पण के समान समतल तथा चिक्कण होना चाहिये।* कभी कभी पात्र प्रवेश रंगपीठ पर नहीं आता, प्रत्युत नेपथ्यगृह से ही उसके विषय में सूचना दी जाती है। ऐसे पात्र-प्रवेश को 'चूलिका' कहते हैं।

नाट्य-मण्डप

नाट्य मण्डप पर्वत की गुफा के आकार का होना चाहिये। उसमें दो खण्ड (द्विभूमि) होते हैं। सम्भवतः ऊपरी खण्ड में देवताओं से सम्बद्ध घटनाएँ प्रदर्शित की जाती थीं तथा निचले खण्ड में मानवी घटनाओं का अभिनय किया जाता था।† नाट्यमंडप की दिवालों को नाना प्रकार के चित्रों से सजाया जाता था जो सामयिक तथा विषय से सम्बद्ध होने से नितान्त उपयुक्त होते थे। रंगमंच की रचना निवात

---

* कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च।
शुद्धादर्शतलाकारं रंगशीर्षं प्रशस्यते॥ नाट्यशास्त्र २।७६

† कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः।
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान्॥ ,, २।८७

में (विशेष हवादार) स्थान में नहीं होनी चाहिये। नहीं तो आवाज गम्भीर न होगी और न शब्दों की श्रुति ही ठीक-ठीक श्रोताओं को हो सकेगी।

दर्शकों के बैठने के स्थानों की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की जाती थी। आजकल के सीढ़ीनुमा या गैलरीवाले आसन को अधिकांश आलोचक पश्चिमी नाट्यकला की देन मानते हैं, परन्तु वस्तुतः यह भारतीय प्रतिभा का व्यावहारिक निदर्शन है। भरत-मुनि ने गैलरी की ही व्यवस्था दर्शकों के निमित्त मान्य बतलायी है। दर्शकों के निवेशन अर्थात् बैठने के स्थान सोपानाकृति सीढ़ी के ढंग के होते थे।* जमीन से सीढ़ियां एक हाथ ऊँची रखी जाती थीं तथा इनका निर्माण लकड़ी तथा ईंट की सहायता से किया जाता था। एक विशेष बात का ध्यान रखा जाता था कि ये समग्र बैठने के स्थान रंगपीठ से देखने योग्य होते थे (रंगपीठावलोक्य) अर्थात् निवेशनों की सजावट ऐसी होती थी कि कहीं पर बैठकर रंगपीठ के ऊपर अभिनय का साक्षात्कार भलीभाँति किया जा सके।

पश्चिमी रंगमंच

प्राचीन प्रेक्षागृह का यह निखरा रूप भारतीयों की निजी प्रतिभा का विलास है। यूनानी रंगशाला से इसकी तुलना करने पर इसकी सर्वाङ्गीणता तथा वैज्ञानिकता का पता लग सकता है। प्राचीन यूनान की रंगशाला एक साधारण सी वस्तु होती थी। अत्यन्त प्राचीन काल में रंगपीठ के लिए एक ऊँचा स्थान होता था जिसपर वाद्यमण्डली (आरचेस्ट्रा) तथा

---

* स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम्।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः।
रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम्॥

एक दो पात्र बैठते थे। दर्शकों के लिए कोई व्यवस्था न होती थी। अभिनय प्रायः पहाड़ के बगल में नीची जमीन पर होता था जहाँ दर्शक अपने बैठने के लिए ऊँचा नीचा स्थान स्वयं खोज लिया करते थे। बहुत पीछे गैलरी बनी। रोमनकला में ही रंगपीठ के पीछे नेपथ्यगृह के लिए भी विशिष्ट मकान बनाया गया तथा पूरे रंगमंच के सुव्यवस्थित प्रकार की योजना सम्पन्न हुई। यह सुपरिणाम था, परंतु भारतवर्ष में प्रेक्षागृह का ही विकसित रूप है जिसमें पश्चिमी नाट्यकला से छोटी-मोटी चीजें नवीन परिस्थिति के अनुसार यत्र तत्र निविष्ट कर ली गयी है।

प्राचीन रंगपीठ यथार्थवादी था, परन्तु घृणा या उद्वेग के जनक दृश्यों का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। आजकल जिन दृश्यों का प्रदर्शन उचित माना जाता है उनमें से अनेक दृश्य प्राचीन काल में वर्ज्य थे रंगपीठ पर युद्ध का प्रदर्शन, भोजन शयन आदि। फिर भी आवश्यकतानुसार घोड़े हाथी रंगमंच पर दिखलाये जाते थे। उस समय घास फूस के बने पदार्थों को चाम से मढ़कर दिखलाने की प्रथा थी। भरत नाट्यशास्त्र में इस अभिनय विषय का बड़ा ही सांगोपांग वर्णन उपलब्ध होता है।

भारतीय रंगमंच का प्रभाव बृहत्तर भारत के नाट्य प्रयोग पर विशेष रूप से पड़ा है। बरमा, स्याम, कम्बोज, जावा, बाली, मलय आदि समस्त देशों के नाट्य तथा अभिनय के ऊपर भारतीय नाटक का व्यवस्थित प्रभाव पड़ा है। कम्बोडिया की राजकीय रंगशाला 'राम-राम' के नाम से पुकारी जाती थी। यह हमारी रंगभूमि के सदृश ही रचना के विषय में थी। इसमें एक तरफ बिल्कुल खुला रहता था। रंगपीठ के पास ही पात्रों के वेशभूषा के परिवर्तन तथा सजावट के लिये नेपथ्यगृह की व्यवस्था होती थी। रामायण के अभिनय के अवसर पर ही पात्र पुरुष होते थे, नहीं तो स्त्रियाँ ही नटों की भूमिका में अवतीर्ण होती थीं। रंगशाला का एक विशेष प्रबन्धक होता था जो

हमारे नाट्याचार्य के समान होता था। नटियों के सजाने, सिखलाने तथा तैयार करने का भार राजमहल की किसी विशिष्ट शिक्षित महिला के ऊपर होता था। जावा के नाटक छाया-नाटक ही होते थे जिन्हें 'वयंग' कहते हैं। इनके सात विभिन्न प्रकारों का वर्णन तथा विभाजन पाया जाता है। भारतवर्ष में 'पुत्तलिका नृत्य' के समान ही इनका भी प्रदर्शन किया जाता था। इन नाटकों के विषय तथा प्रकार के ही लिये जावा साहित्य भारतीय साहित्य का ऋणी नहीं है, प्रत्युत इनके अभिनय, प्रदर्शन तथा प्रयोग के लिये भी। इस प्रकार भारतीय रंगमंच अपनी वैज्ञानिकता, सुव्यवस्था तथा विपुल प्रभावशालिता के कारण विश्व की रंगशालाओं के इतिहास में अपना पर्याप्त महत्त्व रखता है।

जवनिका

हमारे माननीय महर्षियों की सम्मति में एक ही शब्द यदि सम्यक्-रूप से जाना जाय तथा उचित रीति से प्रयुक्त किया जाय, तो वह स्वर्ग में तथा लोक में, परलोक में तथा इहलोक में 'कामधुक्' होता है।

'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति'

शतपथ ब्राह्मण की यह उक्ति आध्यात्मिक विषयों के लिए जितनी चरितार्थ है व्यावहारिक विषयों के लिये भी उतनी ही उपयुक्त है। 'जवनिका' शब्द का समीक्षण इस कथन का पर्याप्त रूप से परिचायक है। भारतीय रंगमंच पर अभिनय के अवसर पर जिस परदे का प्रयोग किया जाता है उसके लिये अधिकांश विद्वज्जन 'यवनिका' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्द के आदिम अंश की समीक्षा कर यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धांत बना लिया है कि भारतीय नाटक के विकास पर यूनानी नाटकों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। वे ऐतिहासिक प्रमाणों के अतिरिक्त 'यवनिका' शब्द को इस प्रसंग में अपने अशक्त भवन की दृढ़ नींव समझते हैं।

पहली बात ध्यान देने की यह है कि 'जवनिका' हमारे नाट्यशास्त्र का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द नहीं, प्रत्युत लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाला साधारण शब्द है। 'अमरकोश' में इसका प्रयोग 'पटवेश्म' खेमा को ढकनेवाले परदे के अर्थ में किया गया है। प्राचीन काल में वस्त्रों से बने घरों का वर्णन मिलता है। 'अमर' ने ऐसे घर के 'दूष्य' शब्द का प्रयोग किया है—

दूष्याद्यं वस्त्रवेश्मनि ।

अमकोश २।१।१२०

'अमर' के टीकाकार क्षीरस्वामी ने वस्त्रश्म के लिये 'पटकुटी', 'पटकुड्य', 'गुणशालिनी' तथा 'स्थूला' शब्दों का व्यवहार होना लिखा है।[1] 'अमर' के दूसरे टीकाकार भानुजि दीक्षित प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजि दीक्षित के पुत्र[2] (समय १७ वीं शती) ने इसी प्रसंग में 'कुटर', 'पटकुटी' तथा 'पटवास' शब्दों का उल्लेख किया है।[3] 'वस्त्रवेश्म' का प्रचलन प्राचीनकाल में मुसलमानों के संपर्क से बहुत पहले भी था। कालिदास इसके प्रचलन से परिचित हैं। उन्होंने रघुवंश के पंचमसर्ग में इसका उल्लेख किया है। विदर्भ देश के राजा भोज ने अपनी भगिनी इंदुमती के स्वयंवर में कोशल देश के राजकुमार अज को बुलाने के लिये उनके पिता रघु के पास दूत भेजा था। रघु ने निमन्त्रण स्वीकार कर अज को विदर्भ प्रस्थान करने की आज्ञा दी। विदर्भ देश अयोध्या से दूर था। अतः उन्हें रास्ते में बने हुए घरों में निवास करना पड़ा जो राज-

---

१ अमरकोशोद्‌घाटन" ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना से सन् १९४१ ई० मे प्रकाशित, पूना ओरिएंटल सिरीज संख्या ४३ पृ० १५८।

२ भानुदीक्षित भट्टोजिदीक्षित के पुत्र थे, इसका पता उनकी टीका के मङ्गलश्लोक तथा पुष्पिका से चलता है—

मंगलश्लोक..."वल्लवीवल्लवं नत्वा गुरुं भट्टोजिदीक्षितम्।
अमरे विदधे व्याख्यां मुनित्रय-मतानुगाम्॥"

पुष्पिका ... "इति श्री वघेलवंशोद्भव महीधर विषयाधिप श्री कीर्तिसिंह देवाज्ञया श्री भट्टोजिदीक्षितात्मज श्री भानुदीक्षित विरचितायाममरटीकायां व्याख्यासुधाख्यायां तृतीयः कांडः समाप्तिमगात।

इस टीका का नाम 'व्याख्यासुधा' ग्रंथकारनिर्दिष्ट अभिधान है। पंडितो में यह 'रामाश्रमी' के नाम से अधिकतर प्रसिद्ध है। ऐसा प्रतीत होता हैं कि दीक्षित जी के संन्यासाश्रम का नाम 'रामाश्रम' था और इसीलिए यह टीका भी तन्नाम से प्रसिद्ध हुई।

३ रामाश्रमी, निर्णय-सागर पृ० ४०७।

कीय सामग्री से सज्जित होने के कारण अज के लिये उद्यान-विहार के समान ही आनंददायक प्रतीत हुआ। कालिदास कहते हैं—

> तस्योपकार्या रचितोपचारा
> वन्येतरा जानपदोपदाभिः।
> मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनो
> र्बभूवुरुद्यान-विहारकल्पाः ॥
>
> —रघुवंश सर्ग ५ श्लोक ४१

यहाँ 'उपकार्या' की मल्लिनाथी टीका उपकार्यासु राजयोग्येषु पटभवनादिषु से स्पष्ट है कि कालिदास को कपड़ों के बने घरों से ही अभिप्राय है। इस उल्लेख से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'खेमा' (अंग्रेजी टेंट) के बनाने तथा उसमें रहने का प्रचलन प्राचीन भारत में था और राजा लोग यात्रा में उसका उपयोग करते थे।

'जवनिका' का प्रयोग इस खेमे को ढकनेवाले परदे के लिये किया जाता था जिसे आजकल हिंदी में 'क़नात' कहते हैं। मल्लाह नाव की गति तीव्र करने के लिये गोनघर (मस्तूल) के ऊपर जिस कपड़े का परदा बाँधते हैं उसे आजकल 'पाल' कहते हैं। इस पाल के लिए भी 'जवनिका' शब्द का प्रयोग कोशों में किया जाता है। इन दोनों विशिष्ट अर्थों का सामान्य रूप है 'ढकना', आवरण करना और इसीलिये जवनिका का सामान्य अर्थ हो गया परदा, जो वस्तु किसी को ढक कर उसे तिरोहित कर देती है। परदे के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले अनेक शब्द कोशों में मिलते हैं—

> १ प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा।
>
> अमर कोश २·६।१२०
>
> २ प्रतिसीरा जवनिका तिरसः करिकारिणी।
> अपटी स्यात् पुमान् कांडपटोऽथोल्लोच इत्यपि ॥
>
> केशवकृत कल्पद्रुमकोश, पृष्ठ ५३, श्लोक ३०० श्री रामावतार शर्मा द्वारा संपादित, गायकवाड सीरीज़। प्रथम संस्करण।

३ पद्माकरस्तडागे प्रतिसीरा जवनिकायां स्यात् ।

शाहजी कृत शब्दरत्नसमुच्चय कोश,
पृष्ठ २९०, पंक्ति १९ ।

४ अन्तःपटः पटी चित्रा, कांडपटः

शब्दरत्नावली ।

कोशों के इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि परदे के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले प्रधान शब्द हैं प्रतिसीरा, तिरस्करिणी, अपटी, कांडपट, अन्तःपट, पटी तथा चित्रा । इन शब्दों में प्रसिद्धतर शब्द है जवनिका और वह है जकारादि यकारादि नहीं । शुद्ध भी 'जवनिका' ही है, 'यवनिका' नहीं ।

व्युत्पत्ति

'जवनिका' की व्युत्पत्ति टीकाकारों की सम्मति में इस प्रकार है—

१. जवन्ति-अस्यां जवनिका—क्षीरस्वामी ।

२. जनति अस्याम् । 'जुः' सौत्रो गतौ वेगे च ल्युट् करणाधिकरणयोश्च ३।३।११७ स्वार्थे कन् ३।४।१ सूत्रेण ज्ञापनात्—रामाश्रमी ।

३. जवनिका स्त्री । सौत्र धातु जु । करणे ल्युट् संज्ञायां कन्—वाचस्पत्य पृष्ठ ३०८०

४. जु इति सौत्रोधातुर्गतौ वेगे च,। जवनः । जु चङ्क्रम्यदंद्रम्य सृ गृधि ज्वल शुच लष पत पदः ३।२।१५० इति युच् कौमुदी । स्त्रियां ङीप् जवनी जवनिका ।

५. जवनं वेगेन प्रतिरोकमस्ति अस्याः । जवनः ठन् टाप् च ।

शब्दकल्पद्रुम

इन भिन्न भिन्न व्युत्पत्तियों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि 'जवनिका' शब्द की व्युत्पत्ति 'जु' धातु से है । जु धातु धातुपाठ में परिगणित न होकर ३।२।१५० सूत्र जु चङ्कम्य··· में महर्षि पाणिनि के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है । इसका अर्थ है गति तथा वेग । अतः

'जवनिका' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होगा वह आवरण जिसमें दौड़कर लोग चले जांय अथवा वह वस्तु जो वेग से सम्पन्न हो या जिसे गति प्राप्त हो अर्थात् जो इधर उधर हटाई जा सके। 'जवनी' तथा 'जवनिका' दोनों का एक ही अर्थ होता है। इन दोनों में 'जवनिका' का प्रयोग अत्यंत लोकप्रिय है, 'जवनी' का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत ही न्यून है परंतु आवरण के अर्थ में प्रयोग दोनों का ही होता है।

'जवनिका' का प्रयोग 'नाट्य शास्त्र', 'दशरूपक' जैसे शास्त्रीय ग्रंथों भर्तृहरिशतक तथा शिशुपालवध जैसे प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ में उपलब्ध होता है। इसकी लोकप्रियता का पूरा पता हमें मिलता है।

माया जवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा॥

श्रीमद्भागवत् १।८।१९

एतानि च बहिर्गीतान्यन्तर्जवनिका गतैः।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि तु॥

नाट्यशास्त्र अध्याय ५, श्लोक ११।

अन्तर्जवनिका संस्थे श्चूलिका र्थस्य सूचनात्।

दशरूपक।

नरः संसारान्ते विशति यमधानीं जवनिकाम्।

हरिवंशपुराण, अध्याय २, श्लोक ८८

समीरशिशिरः शिरः सु वसतां
सता जवनिका निकाम-सुखिनाम्।
बिभर्ति जनयन्नयं मुदमपा-
मपायधवला वलाहकततीः॥

माघ काव्य ४.५४

रेजु र्जवनिका क्षेपैः सपक्षा इव खे नगाः।

भर्तृहरि

इन उद्धरणों में से प्रथम दो में तो 'जवनिका' शब्द का प्रयोग नाटकीय आवरण के लिये हुआ है और अंतिम चार में सामान्य

परदे के अर्थ में। सर्वत्र जकारादि जवनिका का ही प्रयोग मिलता है, यकारादिका नहीं। ऐसी दशा में परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द का प्रयोग कथमपि न्यायसंगत नहीं। एक प्रबल प्रमाण और भी है। 'यवनिका' के पक्षपाती भी परदे के अर्थ में 'यवनी' शब्द का प्रयोग क्थमपि न्याय्य नहीं मानते। 'यवनी' का अर्थ है यवन जाति की स्त्री और इसी अर्थ में इसका प्रयोग कालिदास ने भी किया है :

यवनी मुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥

रघुवंश सर्ग ४। श्लोक ६१।

परन्तु परदे के अर्थ में जवनिका के समान जवनी का प्रयोग भी मिलता है और यह होना भी चाहिए; क्योंकि वस्तुतः ये दोनों शब्द एक ही धातु से निष्पन्न होते हैं। 'जवनिका' में स्वार्थे कन् की अधिकता है परंतु स्वार्थ में कन् प्रत्यय की सत्ता होने के कारण अर्थ में तनिक भी अंतर नहीं है।

श्री गोवर्धनाचार्य ने अपनी विख्यात 'आर्या सप्तशती' में जवनी का प्रयोग परदे के अर्थ में शोभन प्रकार से किया है।

व्रीडाप्रसरः प्रथमं तदनु च रसभावपुष्ट चेष्टेयम्।
जवनी - विनिर्गमादनु नटीव दयिता मनो हरति ॥

आर्यासप्तशती, श्लोक सं० ५३८।

इस कमनीय आर्या का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नटी परदे से निकलने के बाद प्रथमतः लज्जा दिखलाती है, तदनंतर भाव पुष्ट चेष्टाओं से सामाजिकों का चित हरण कर लेती है, उसी प्रकार दयिता का स्वभाव भी है। वह भी पहले लज्जा दिखलाती है, परन्तु पीछे अपनी शृंगार रस से पुष्ट चेष्टाओं के द्वारा अपने प्रियतम का मन हर लेती है।

भारतीय नाट्यकला पर यवनानी प्रभाव का पक्षपाती कोई भी विद्वान इस आर्या में 'जवनी' के स्थान पर 'यवनी' का परिवर्तन कभी

नहीं कर सकता। यदि 'यवनिका' का प्रयोग न्याय्य होता, तो यह परिवर्तन सिद्ध करने में व्याकरण कभी व्याघातक न होता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि परदे के लिये उचित तथा प्रयुक्त शब्द 'जवनिका' ही है, 'यवनिका' नहीं।

सम्भाव्य कारण

इस झमेले का गूढ़ कारण भी खोजा जा सकता है। राजशेखर का सुप्रसिद्ध सट्टक है, 'कर्पूरमंजरी'। समग्र रूप से प्राकृतभाषा में निबद्ध नाटिका को ही 'सट्टक' कहते हैं। इस सट्टक के अवांतर अंकों के नाम हैं 'जवनिकांतरम्'। मेरी समझ में इस नाम के संस्कृतीकरण ने विद्वानों को भ्रम में डाल दिया है। सट्टक में सब कुछ प्राकृत भाषा में है। तब अंक का यह नामकरण भी प्राकृत में ही निबद्ध होगा। यह कल्पना कुछ अनुचित नहीं है, वररुचि के 'आदेर्यो जः' प्राकृतप्रकाश सूत्र के अनुसार संस्कृत शब्दों का आदिम यकार प्राकृत में जकार हो जाता है। इसी नियम को ठीक ठीक न समझने के कारण भ्रांति का उद्गम हुआ है। जब संस्कृत आद्य यकार का प्राकृत में जकार होता है, तब प्राकृत का आदि जकार संस्कृत में यकार हो ही जावेगा। अतः 'जवनिकांतरं' का संस्कृतरूप होगा 'यवनिकान्तरम्' और इस प्रकार नाटकीय परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द विराजने लगा। भ्रांति यही है। 'आदेर्यो जः' नियम का विपर्यय संस्कृत में सर्वत्र उचित नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों को 'जवनि-कांतरं' के संस्कृतीकरण ने धोखे में डाल दिया। कोशों में कहीं कहीं गलती से 'यवनिका' शब्द का ही निर्देश मिलता है। रामाश्रमी टीका में 'जवनिका' के स्थान पर 'यमनिका'[1] पाठांतर दिया गया है, परंतु अप्रयुक्त होने के कारण यह शब्द कथमपि मान्य नहीं हो सकता।

---

१. यमनिका इति वा पाठः। यमयन्ति यम उपर में ज्ञा० प० अ०, ल्युट् ३।३।११७ कन् ज्ञापित ५।४।५

रामाश्रमी २'६।१२०

इसकी व्युत्पत्ति किसी प्रकार अर्थ में सहायक हो सकती है, परंतु इस शब्द का प्रयोग कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी दशा में 'यमनिका' को मान्यता प्रदान करना उचित नहीं।

यूनानी नाटक

इस प्रसंग में विचारणीय वस्तु यूनानी नाटकों में जवनिका का मूलतः अभाव भी है। यवनान देश में नाट्य के लिये परदे की चाल नहीं थी। वहाँ दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि उनकी सुगमता के लिये रंगमंच बड़ा ऊंचा बनाया जाता था। नाटक का अभिनय खुले मैदान में ही दर्शकों के सुभीते के लिये किया जाता था। उस पर किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। जब यूनानी नाटकों में परदा ही नहीं था, तब भारतीयों के लिये उनकी नकल का प्रश्न ही नहीं उठता। ऊपर कहा गया है कि 'जवनिका' शब्द भारतीय नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द नहीं है, एक सामान्य शब्द है। यदि भारतीय नाट्य रचयिताओं ने इसे यूनानी रंगमंच से लिया होता, तो वे अवश्यमेव इसे नाटकीय परदे के अर्थ में ही सीमित किए रहते, परंतु वस्तुस्थिति इसके नितांत विरुद्ध है। ऐसी दशा में यवनिका शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना भी पूर्णतः भ्रामक एव सर्वथा निराधार है। भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास में स्वतंत्र है, उसी प्रकार अभिनय कला में भी वह परमुखापेक्षी नहीं है। 'जवनिका' के लिये भारतीय नाटककार यवनों के पराधीन नहीं है। नाटकीय परदा भारत की अपनी निजी वस्तु है, मंगनी की चीज नहीं।

स्थिति

अब विचारणीय प्रश्न है कि जवनिका की स्थिति रंगमंच पर कहाँ थी तथा उसकी संख्या कितनी थी। जर्मनी के प्रख्यात संस्कृत विद्वान डाक्टर विंडिश ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय रंग-

मंच पर एक ही परदा उपयोग में आता था और वह रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के बीच में डाला जाता था।[1] प्रेक्षागृह की जिस रचना का वर्णन 'भरत नाट्यशास्त्र' के द्वितीय अध्याय में दिया गया है उससे सिद्ध है कि प्रेक्षागृह का आधा भाग तो प्रेक्षकों के लिये रहता था और आधे में नाटकीय उपकरणों का स्थान रहता था। बीच में रहता था रंगपीठ और इसके पीछे होता था रंगशीर्ष। रंगशीर्ष के पीछे और सब के अंत में रहता था नेपथ्यगृह जहाँ पात्र अपनी भूमिका के लिये वेषभूषा की सजावट किया करते थे। रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के बीच में दीवाल होती थी जिसमें आने जाने के लिये दो द्वार बनाए जाते थे। विंडिश के अनुसार नेपथ्यगृह की इसी दीवाल के ऊपर ही परदा डाला जाता था। परंतु भीत के ऊपर परदा डालने का उपयोग ही क्या हो सकता है। परदा तो उस स्थान पर डालना चाहिए जहाँ पात्रों के बैठने या खड़े होने के लिये पर्याप्त स्थान हो। अभिनवगुप्त ने इसी पक्ष का समर्थन किया है। उनके अनुसार मुख्य परदा रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के मध्य में पड़ता था।

'तत्र जवनिका रंगपीठ तच्छिरसोर्मध्ये[2]'

इस मुख्य परदे के अतिरिक्त कतिपय अन्य परदे भी रंगमंच पर विद्यमान रहते थे, ऐसा प्रतीत होता है। 'मालविकाग्निमित्र' के दूसरे अंक के आरंभ में नाट्यसूचना है।

ततः प्रविशति संगीतरचनायामासनस्थो राजा सवयस्यो धारणी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः।

राजा आसन पर बैठा हुआ दिखलाया गया है। इससे प्रतीत होता है कि रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के बीच में होने वाले परदे को हटा कर वह रंग मंच पर आसनस्थ दिखलाया गया है। यह मानना सर्वथा उचित ही है। इसके बाद कंचुकी का निष्क्रमण होता है तथा गणदास

---

1. डाक्टर कीथ कृत संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ६१।
2. अभिनव भारती, अध्याय ५, श्लोक १२, पृष्ठ २१२ गायकवाड़ सिरीज।

का आगमन। इस अवसर पर 'मालविका' अभिनय दिखलाने के लिये आ रही है, परंतु उसके आने में कुछ विलंब हो रहा है जिससे उद्विग्न होकर अग्निमित्र कह रहा है—

नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्[1] ॥

इस पद्य का तात्पर्य है कि मेरे नेत्र नेपथ्य में स्थित उस मालविका के दर्शन के लिये नितांत उत्सुक हैं। व्याकुलता के कारण परदे को उघाड़ देने का मानों उसने निश्चय कर लिया है। इस पद्य के तिरस्करिणी पद से प्रतीत होता है कि राजा की दृष्टि इसी एक परदे के ऊपर पड़ रही थी जिसके उघाड़ देने पर मालविका के दर्शन होने की उसे पूर्ण आशा थी। इससे स्पष्ट है कि मुख्य परदे के अतिरिक्त अन्य परदों का भी उपयोग प्राचीन भारतीय रंगमंच पर अवश्यमेव किया जाता था। मुख्य परदे को हटा कर तो राजा स्वतः उपस्थित था तथा अन्य परदे के भीतर अभिनय के लिये सुसज्जित मालविका अपने प्रवेश की प्रतीक्षा कर रही थी। यहां स्पष्ट ही अन्य परदे का उल्लेख है। भरत नाट्य-शास्त्र के तेरहवें अध्याय में कक्ष्या-विभाग तथा इक्कीसवें अध्याय में आहार्याभिनय का विस्तृत वर्णन है। इन अध्यायों के सूक्ष्म अनुशीलन से जवनिका के विषय में अनेक उपयोगी बातों का पता चल सकता है।

———

१. मालविकाग्निमित्र, अंक २, श्लोक २।

(२१)

विश्वकवि कालिदास

विश्वकवि देश और काल की परिधि से बाहर होता है। देश और काल का बंधन उसकी अलौकिक प्रतिभा तथा उसकी कलात्मक निर्मिति के ऊपर किसी प्रकार का नियंत्रण स्थापित नहीं करता। वह कविता लिखने में सर्वदा स्वच्छन्द रहता है। वह चिड़िए की तरह कमनीय छंद में चहक उठता है; वायु के समान वह भाव प्रवाह में बह निकलता है। विमल प्रतिभा ही उसकी कलात्मक रचना का एकमात्र आधार होती है। देश और काल की आवश्यकता पर दृष्टि रखनेवाले कवि की कविता उसी देश में समझी जाती है तथा उसी वातावरण में उसका महत्त्व उन्मीलित होता है। 'विश्वकवि' भगवती वीणापाणि का एक वरदान होता है, जिसकी कविता विश्वमानवता के लिए, समस्त मानव-समाज के लिए उपादेय तथा श्लाघनीय होती है। प्रत्येक युग में उसकी रसमयी कृतियाँ सहृदयों का हृदयोन्मेष करती हैं, उनके मूल्य का अंकन होता है तथा उनके भीतर विद्यमान शाश्वत तत्त्वों के अनुशीलन से मानव का परम मंगल संपन्न होता है। विश्वकवि ही 'रससिद्ध' कवीश्वर के नाम से भारतीय आलोचना में प्रख्यात है।

कालिदास सच्चे अर्थ में विश्वकवि हैं। उनकी कविता भारतवर्षीय मानवों के ही कल्याण के लिए जागरूक न होकर इस विशाल जगत् के मानवों के मंगल के लिए क्रियाशील है। वे सब देश के कवि हैं— सब युग के कवि हैं। उनकी अलौकिक प्रतिभा काव्य के नाना प्रकारों के विरचन में कृतकार्य है। शेक्सपीयर की रूपमयी प्रतिभा, मिल्टन की प्रबंधकाव्यमयी प्रतिभा तथा शेली की गीतिमयी प्रतिभा का कहीं एकत्र मंजुल सामरस्य प्रस्तुत होता है, तो वह है विश्वकवि की दिव्य

प्रतिभा से उद्भूत काव्य-निचय। सचमुच कालिदास शारदा देवी की रत्नमाला के मध्यमणि हैं। किसी आलोचक की यह सरस उक्ति वस्तुतः यथार्थ है—

> अस्पृष्टदोषा नलिनीव हृष्टा
> हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
> प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या
> न कालिदासादपरस्य वाणी॥

भावों की परख

यह महाकवि मानव-हृदय में उदय लेनेवाले तथा क्षण-क्षण में परिवर्तित होनेवाले भावों को सूक्ष्म दृष्टि से परखता है और अपनी लेखनी से उन्हें चिरस्थायी रूप प्रदान करता है। कालिदास के काव्यों में भावोद्बोधक प्रसंगों का खूब ही रुचिर चित्रण है। पोष्य-पुत्री शकुंतला की विदाई के अवसर पर काव्य के करुण भावों की अभिव्यंजना कहीं है, तो अन्यत्र विरह-वेदना से विधुर यक्षपत्नी की कोमल भावनाओं का और मनोविनोद की नाना क्रीडाओं का बड़ा ही अभिराम चित्रण है। अभीष्ट वस्तु की अकस्मात् अचिंतित उपलब्धि मानव-मन को आश्चर्य के कितने गंभीर गर्त में गिरा डालती है; इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का सुंदर प्रसंग आता है पार्वती के जीवन में, जब वह शंकर की नाना प्रकार से निंदाएँ करने पर ब्रह्मचारी को स्वयं छोड़ खड़ी होती है तथा वह ब्रह्मचारी भी सक्षात् शिव के रूप में आविर्भूत होकर पार्वती को आगे जाने से रोकता है। इस 'चकपकाने' का दृश्य कालिदास ने बड़ी सुंदरता से दिखलाया है—

> तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
> र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
> मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
> शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥

शृंगार

कालिदास मुख्यतया शृंगाररस के कवि माने जाते हैं। इस सार्वभौम धारणा के भीतर एक गहन सत्य छिपा हुआ है। प्रेम का वर्णन अन्य कवियों ने भी किया है, परंतु प्रेम की नाना अवस्थाओं का रुचिर चित्रण मनोवैज्ञानिक पद्धति से जैसा कालिदासीय काव्यों में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र कहाँ ? 'मालविगाग्निमित्र' में प्रतिकूल परिस्थिति में रह कर भी राजसी अंतःपुर में पनपने वाले यौवन-सुलभ प्रेम का चित्रण है, तो 'विक्रमोर्वशीय' में यौवन की उद्दाम भावना से उत्पन्न, कामुक व्यक्ति को प्रेयसी के विरह में एकदम पागल बना देने वाले प्रेम का निरूपण है। यदि पहले में संयम के आवरण से झाँकने वाले प्रेम का चित्रण है, तो दूसरे में संयम का बाँध तोड़ देने वाले प्रेमनद का उद्दाम विवरण है। 'शकुंतला' में प्रेम की स्थिति इन दोनों दशाओं से भिन्न है। यहाँ वासनात्मक काम की विशुद्ध प्रेम में परिणति का मंजुल चित्र है जिसमें तपस्या तथा साधना की आग में काम का कालुष्य जल जाता है और वह प्रेम के खरे सोने के रूप में चमक उठता है। यही परिणति तो शाकुंतलीय कथावस्तु की आध्यात्मिक पीठिका है। प्रेम के कोमल भाव के चित्रण में यक्ष का यह वचन दृष्टांत रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है—

> भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
> ये तत्-क्षीरश्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
> आलिङ्ग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुपाराद्रिवाताः
> पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥

हिमालय के देवदारु के चूनेवाले दूध की सुगंध से युक्त वायु को यक्ष इसी भावना से आलिंगन करता है कि उसने उसकी पत्नी के अंग का शायद स्पर्श किया हो !

प्रकृति वर्णन

हमारा कवि वाह्य प्रकृति के निरीक्षण तथा वर्णन में भी उतना ही दक्ष है जितना अंतः प्रकृति के चित्रण में। कालिदास की दृष्टि में प्रकृति निर्जीव पदार्थों का पुंजमात्र नहीं है, प्रत्युत वह जीवनी शक्ति से, कमनीय भावनाओं से प्राणिमात्र के लिए सहानुभूति से स्पंदित होती है। प्रकृति का यह स्पंदन चित्र कालिदास की प्रतिभा का भव्य निदर्शन है। प्रकृति अपने स्वतंत्र साम्राज्य में मानव की उपेक्षा कभी नहीं करती। वह तो मानव के साथ मैत्री के सुवर्ण-सूत्र में इस प्रकार बँधी रहती है कि वह उसके दुख में दुखी तथा उसके सुख में सुखी रहती है। मैं इसे कालिदास की प्रतिभा का भव्य निदर्शन मानता हूँ—प्रकृति का मानवीय वृत्तियों से संवलित रूप में चित्रण। कालिदास से बढ़कर उत्तुंगशिखर हिमालय का सूक्ष्म पारखी कोई भी अन्य संस्कृत कवि नहीं हुआ। प्राचीन आश्रम अपनी आध्यात्मिक पवित्रता तथा वैभव के साथ यहाँ उपस्थित होता है तथा जन-कोलाहल से दूर शांतिमय वातावरण में जीवन-यापन के लिए मानवमात्र को जोरों से पुकारता है। आश्रम का यह दृश्य कितना पावन है—

> नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
> प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
> विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
> स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखा-निस्यन्दरेखाङ्किताः॥

प्रकृति में मानवीय भावों की अभिव्यंजना के लिए शाकुंतल का चतुर्थ अंक अपनी तुलना नहीं रखता। आश्रम की कन्या शकुंतला की विदाई के अवसर पर उसे नाना पुष्पाभरणों से सजाना, जाने की अनुमति कोयल की कूक से देना, विरह में आँसुओं के रूप में पुराने पीले पत्तों का गिरना, मृगियों का अपने घास के कौर को छोड़कर उदास हो जाना—आदि दृश्य प्रकृति की सजीवता तथा सहानुभूति के भव्य निदर्शन हैं। यह तो हुआ प्रकृति का विभावपक्ष। आलंबन पक्ष

की रुचिरता भी उतनी ही मनोमोहक है जिसमें प्रकृति अपने सजे-सजाए रूप में यथार्थ रीति से चित्रित की गई है। सुषमा तथा सौम्यभाव ही इस प्राकृत वर्णन का प्राण है। भवभूति के समान कालिदास प्रकृति के उग्र, रोमांचकारी, बीहड़ दृश्यों की ओर आकृष्ट नहीं होते। वे सौम्य-भाव के उपासक हैं प्रकृति में, मानव में तथा देवता में।

शरद् की यह शोभा कितनी स्वाभाविक तथा यथार्थ है—

> संपन्नशालिनिचयावृत-भूतलानि
> स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि ।
> हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि
> सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम् ॥

धान से मंडित खेत, स्वस्थ खड़ी हुई गायों की शोभा, सारसों तथा हंसों के कूजने का शब्द—ये ही तो शरद् के अपने निजी वैभव हैं।

कला-पक्ष

हृदयपक्ष के समान कालिदास के काव्यों में कलापक्ष का विशेष आदर नहीं है। कानों को झंकृत करनेवाले अनुप्रास यहाँ खोजने पर भी नहीं मिलेंगे और न मिलेंगे वे श्लेष जो कवि के प्रयास के परिणाम होने से आलोचकों के वैरस्य के कारण बनते हैं। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक भावों की अभिव्यक्ति कालिदासीय काव्यों का निजी वैशिष्ट्य है। कालिदास शब्दों के चित्रकार हैं। छोटे-छोटे असमस्त पदों में सरस भावों का मंजुल निवेश, औचित्य-मंडित सरस उपमाओं का प्रयोग हमारे कवि के काव्यों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। कालिदास के शब्दचित्र चित्रकार की तूलिका से निर्मित चित्रों से कहीं अधिक चमत्कारी हैं। शाकुंतल के आरंभ में ही दुष्यंत के बाणों के गिरने से भयभीत भागनेवाला हरिण का चित्र कितना रुचिर है! कालिदास की कविता अभिव्यंजना-प्रधान है। चुने हुए थोड़े-से शब्दों

में अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कर देने में उनकी प्रतिभा सर्वातिशायिनी है।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

कमल का फूल सेवार से ढँके रहने पर भी सुंदर मालूम पड़ता है। चंद्रमा का काला धब्बा उसकी शोभा को बढ़ाता है। यह सुकुमारी शकुंतला वल्कल-वस्त्र पहनने पर भी अधिक मनोज्ञ प्रतीत होती है। सच है, मधुर तथा सुंदर आकृति के लिए कौन वस्तु सजावट का काम नहीं करती?

सन्देश

आज के युग में कालिदास का अपना एक सुंदर संदेश है। आज मानव-समाज परस्पर कलह तथा वैमनस्य से छिन्न भिन्न हो रहा है। प्रबल समरानल के भीतर संसार की समृद्ध जातियाँ अपना सर्वस्व स्वाहा कर रही हैं—संस्कृति पददलित होकर अपनी अंतिम घड़ियाँ गिन रही है। ऐसे समय आध्यात्मिकता की मूर्ति, त्याग तथा तपोवन का प्रतीक यह महाकवि आशावाद का संबल लेकर विश्वमानव के सामने उपस्थित है। वह पुकार कर कह रहा है कि भौतिकता का आश्रय, भोग-विलास की लिप्सा, क्षुद्र स्वार्थों की उपासना और धर्म-विरुद्ध काम की सेवा मानव को अवनति के गर्त में झोंकने के लिए सदा जागरूक रहती है।

त्याग, तपस्या तथा तपोवन भारतीय संस्कृति के त्रिरत्न हैं। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' कालिदास के काव्यों का प्रभावशाली संदेश है। मदन-दहन के अनंतर पार्वती का मंगलमय शिव के साथ विवाह, तपस्या के बाद ही दुष्यंत तथा शकुंतला का परिणय, गो-सेवा के

फलस्वरूप रघु का जन्म, कौत्स को रघु का सर्वस्वदान—ऐसे आदर्श हैं जिनकी उपासना आज भी मानवों को कल्याण की अंतिम कोटि तक पहुँचाने के लिए पर्याप्त है। सरस्वती का यह वरद पुत्र सरस्वती की महिमा को समझने के लिए आग्रह करता है तथा राजाओं को प्रकृति के रंजन के लिए प्रवृत्त होने की कामना करता है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम् ॥

———

खण्ड ५

भारतीय संस्कृति

आर्य संस्कृति का प्राण

संसार की संस्कृतियों में भारतवर्ष की संस्कृति अपनी विशिष्टता तथा महत्ता के लिये सबसे अधिक विख्यात है। जहाँ ग्रीस, रोम, मिश्र, काबुल आदि देशों की संस्कृति विकराल काल के विशाल गाल में सर्वदा के लिये विलीन हो गई, वहाँ हमारी वैदिक संस्कृति अपनी विजय-वैजयन्ती फहराती हुई, विश्व के मानवों पर अपनी प्रभुता जमाती हुई अपनी जीवन्त सत्ता के लिए सबको चुनौती देती हुई मैदान में डटी खड़ी है। आग में तपाये गये सोने की कान्ति के समान विपत्तियों की ज्वाला के बीच से हमारी संस्कृति खरी तथा चमकती हुई निकली है। इसका उज्ज्वल प्रमाण भारतवर्ष का दीर्घ-कालीन इतिहास डंके की चोट दे रहा है। इस संस्कृति के स्वरूप, महत्व तथा भविष्य को भलीभाँति समझना प्रत्येक भारतवासी का पवित्र कर्तव्य होना चाहिए।

'कल्चर'

आँग्लभाषा के 'कल्चर' शब्द के लिये हम लोग हिन्दी में 'संस्कृति' शब्द का व्यवहार करने लगे हैं। दोनों के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के भिन्न होने पर भी दोनों के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ समकक्ष ही है। कल्चर शब्द लैटिन भाषा के कुलतुरा (Cultura) शब्द से निकला है जिसका अर्थ पौधा लगाना या पशुओं का पालन करना है। इस मुख्य अर्थ के अनन्तर इसका लाक्षणिक अर्थ होता है—मस्तिष्क तथा उसकी शक्तियों को विकसित करना—शिक्षा तथा शिक्षण के द्वारा मानसिक वृत्तियों

को सुधारना। 'संस्कृति' शब्द का भी अर्थ है मन को, हृदय को तथा उनकी वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना। संस्कृति के जितने अंग हैं उन सब अंगों का एक ही प्रधान लक्ष्य होता है—शिक्षा तथा संस्कारों के द्वारा मन को शिक्षित, संस्कृत तथा उच्च बनाना। प्रत्येक संस्कृति का यही लक्ष्य होता है। परन्तु भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी विशेपता है कि उसका उद्देश्य तथा लक्ष्य अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा अधिक उच्च, अधिक महनीय, अधिक उपयोगी तथा अधिक उदात्त सिद्ध होता है। राष्ट्र के समान संस्कृति का भी एक आत्मा होता है जो उसकी जीवनी शक्ति का प्रतीक तथा आधार हुआ करता है। इसे ही भारतीय दर्शन में 'स्वालक्षण्य' के नाम से पुकारते हैं। भारतीय संस्कृति की विशेपता को हम तीन शब्दों में अभिव्यक्त कर सकते हैं—त्याग, तपस्या तथा तपोवन।

त्याग

(१) त्याग—मानव जीवन की सफलता त्याग के द्वारा हो सकती है, भोग के द्वारा नहीं। पश्चिम की भौतिक संस्कृति जहाँ हमें भोग की शिक्षा देती है, वहाँ भारत की आध्यात्मिक संस्कृति हमें योग का उपदेश देती है। पश्चिमी सभ्यता दूसरों के भाग को भी छीन लेने के लिये आग्रह करती है, वहाँ भारत की सभ्यता अपने स्वार्थ को परार्थ के लिये छोड़ने के लिये उद्यत रहती है। त्याग एक महामन्त्र है। इसी मन्त्र के भाव का वह दुष्परिणाम उत्पन्न हुआ है जिसे हम यूरोपीय महायुद्ध के रूप में देखते हैं। भौतिक जीवन को ही चरम लक्ष्य माननेवाली पश्चिमी सभ्यता का यही अवसान है। असंख्य नरों का संहार, अपरमित धन का स्वाहाकार, दीन-दुखी अबलाओं का हाहाकार, निर्धनों तथा निर्बल को रौंदकर पूँजीपतियों का असंख्य धन-संग्रह—ये ही भौतिकवादी सभ्यता के जीते-जागते फल हैं। भारतीय संस्कृति दूसरे का मंगल चाहती है। दूसरे के मंगल में ही अपने मंगल की भावना करती है। दूसरों की कार्यसिद्धि के

लिये वह अपने एकदेशीय क्षुद्र स्वार्थ का सर्वथा त्याग कर देती है। यही तो 'यज्ञ' की महनीय भावना है। गीता में जिस यज्ञ की उदात्त कल्पना की गई है वह यही है—निस्वार्थ कर्म का विधान। भगवद्-गीता से बहुत पूर्व हमारे वैदिक ऋषियों ने इस तत्त्व का उद्घोष किया था। ईशावास्य की श्रुति इसी त्याग की घोषणा कर रही है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

जगत् के जितने स्थावर तथा जंगम पदार्थ हैं वे सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय हैं। प्रत्येक प्राणी में भगवान् सूक्ष्म रूप से विद्यमान हैं। अतः उनमें भगवत्-स्वरूप का अनुभव करना चाहिए। त्याग-भाव से अपना पालन करना चाहिए। किसी के धन की तरफ लोभ की दृष्टि न-करनी चाहिए। भारतीय संस्कृति का यही माननीय मन्त्र है—त्याग, परमार्थ, निःस्वार्थ कर्म।

तपस्या

(२) तप--त्याग के लिए आवश्यक है तपस्या। तप की अग्नि में बिना तपाये मानव-जीवन निर्मल नहीं होता, उसके मल जलकर राख नहीं हो जाते। तपस्या ही हमारी समग्र कामनाओं की सिद्धि का मुख्य साधन है। यह स्वार्थ तथा परमार्थ की साधना की दृढ़ शृंखला है। इसके द्वारा मनुष्य अपनी सारी कामनाओं की ही पूर्ति नहीं करता, प्रत्युत परोपकार के यथावत् सम्पादन की योग्यता अर्जन करता है। तप की महिमा से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि कालिदास ने इसका महत्त्व बड़े ही भव्य शब्दों में व्यक्त किया है। मदनदहन के अनन्तर भग्न-मनोरथा पार्वती ने कठोर तपस्या के ही बलपर अपनी कामनावल्ली को सफल बनाया। पार्वती की तपस्या का रहस्य खोलकर कालिदास ने आर्यललनाओं के सामने एक महनीय आदर्श उपस्थित किया है—

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

—कुमारसम्भव ५।२.

पार्वती की तपस्या का फल था—'तथाविधं प्रेम', अलौकिक उत्कट कोटि का प्रेम और 'तादृशः पतिः', मृत्यु को जीतनेवाला पति। आर्य ललनाओं के लिये उत्कट प्रेम तथा मृत्युञ्जय पति पाने का एकमात्र साधन है—तपस्या।

तपोवन

(३) तपोवन—तपस्या के लिये उपयुक्त स्थान है तपोवन। कोलाहलपूर्ण नगर के अशान्त वातावरण में नागरिकजीवन के रात्रिंदिव सङ्घर्ष में तपस्या की साधना क्या कथमपि सिद्ध हो सकती है? उसके लिये तो चाहिये जनकोलाहल से दूर, शान्त, रमणीय स्थान में निवास, जहाँ स्वाभाव से ही चित्त प्रपञ्चों से दूर हटकर आत्म-चिन्तन में संलग्न हो जाता है। इसलिए तपोवन भारतीय संस्कृति का जन्मस्थान है। तपोवन के शान्त तथा सुन्दर, उपादेय तथा कमनीय; शान्तिमय तथा सौन्दर्यमय क्रोड़ में लालिता तथा पालिता हमारी संस्कृति स्वार्थ तथा परमार्थ के, स्वजीवन तथा परजीवन के सामञ्जस्य की सर्वतोभावेन पोषिका है। हमारी सभ्यता के विकास में नगर का महत्त्व बहुत स्वल्प रहा है। जो नगर अशान्ति के निकेतन हैं, कलह के कारागार हैं, विद्रोह के विराट् आगार हैं, उनमें पाश्चात्य सभ्यता पनपी और इसीलिए मानव-समाज की वह भूयसी हानिकारिणी सिद्ध हुई। पश्चिमी-समाज में उन कोमल वृत्तियों का विकास कहाँ? जो एक मनुष्य की पीड़ा देखकर दूसरे के हृदय में स्वतः सहानुभूति उत्पन्न करती है। जीवन की वह उदात्तता कहाँ? जो अपने जीवन को सङ्कट

में झोंककर दूसरे के प्राण को बचाने के लिये हमें बाध्य करती है। ये 'नागरिक' संस्कृति के विषम दुष्परिणाम हैं। परन्तु तपोवन की सेविका भारतीय वैदिक संस्कृति में इन दोषों का प्रादुर्भाव कभी नहीं हुआ। नन्दिनी के वरदान से सूर्यवंश में पराक्रमी नेता रघु का जन्म तपोवन में होता है, यह घटना अपना आध्यात्मिक मूल्य रखती है। इस प्रकार वेद पुराणादिकों के आधार पर आश्रित भारतीय संस्कृति के मूल में तकार से आरम्भ होनेवाले तीन तत्त्व क्रियाशील हैं—

त्याग, तपस्या, तपोवन।

आध्यात्मिकता

किसी भी जाति या राष्ट्र की सभ्यता का मापक उसका आध्यात्मिक चिन्तन होता है। जिस जाति के आध्यामिक विचार तथा समीक्षण जितने ही अधिक तथा गहरे होते हैं, वह जाति संस्कृति तथा सभ्यता के इतिहास में उतना ही अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। सभ्यता का प्रथम प्रभात किस देश के गगन में सबसे पहिले उदित हुआ? इस प्रश्न की मीमांसा करते समय पश्चिमी विद्वान् मिस्र देश का नाम बड़े आदर तथा गौरव के साथ लेते हैं परंतु मिस्र के दार्शनिक तथा साहित्यक चिन्तनों पर विचार करने से हमें मौनावलम्बन ही करना पड़ता है। भौतिकवाद का अनुरागी राष्ट्र अध्यात्म-चिन्तन का प्रेमी कभी नहीं हो सकता। मिश्र की सभ्यता भौतिकता में सनी थी, भौतिक सुख की प्राप्ति ही उस देश के राजाओं का परम लक्ष्य थी। फलतः रम्य तथा सुन्दर प्रासादों का रचयिता शिल्पी ही मिस्री सभ्यता में परम सम्मान का भाजन था; मनोरम कविता लिखकर हृदय की कली खिलानेवाले कवि की न वहाँ पूछ थी और न उन्नत तत्त्वज्ञान के अभ्यासी दार्शनिक की वहाँ प्रतिष्ठा थी। फलतः अध्यात्म-चिन्तन के अभाव में मिस्र देश की सभ्यता को हम सम्मान की दृष्टि से नहीं देख सकते। 'कवि' को आदर देनेवाली जाति ही सभ्यता की

कसौटी पर खरी उतरी है। पश्चिमी जगत् में प्राचीन यूनानी तथा पूर्वी संसार में चीनी तथा भारतीय जाति ही 'कवि' का गौरव समझती है और उसे सम्मान प्रदान करने में सदा अग्रसर रहती है। इसीलिए इन जातियों का प्रभाव सभ्यता के प्रसार में बहुत ही अधिक रहा है। हमारी दृढ़ धारणा है (और इसके लिये हमारे पास प्रचुर प्रमाण भी हैं) कि सभ्यता का उदय सप्तसिन्धु प्रदेश में ही सबसे पहिले हुआ। हमारा पूरा विश्वास है कि भारतीय कवि की यह सूक्ति—

प्रथम प्रभात उदय तव गगने।
प्रथम सामरव तव तपोवने॥

केवल प्रतिभा का विलास नहीं है, अपि तु इतिहास की कसौटी पर भी खरी उतरती है। 'कवि' का जितना सम्मान हमारी पुण्यमयी भारत-भूमि में होता रहा है, उतना अन्यत्र नहीं।

'कवि' का आदर

'कवि' का मूल व्यापक अर्थ है इन्द्रियों से अगोचर तत्त्वों का साक्षात्कार करनेवाला व्यक्ति। कवयः क्रान्तदर्शिनः। और 'ऋषि' शब्द का भी यही महत्त्वपूर्ण अर्थ है। अध्यात्मशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् का प्राचीन अभिधान 'कवि' ही है और इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हम गीता तथा उपनिषदों में ही नहीं पाते, प्रत्युत संहिताओं में भी यह महनीय शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त उपलब्ध हुआ है। कठोपनिषद् के अनुसार कवि लोग सूक्ष्म बुद्धि से ग्राह्य ब्रह्म की ओर जानेवाले मार्ग को छूरे की धार के समान तेज तथा दुर्गम बतलाते हैं:—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥ (३।१४)

प्रश्न (५।७), मुण्डक (१।२।१), महानारायण (१।३), मैत्री (२।७)—में सर्वत्र कवि का प्रयोग मूल अर्थ में मिलता है। श्वेताश्वतर ने जगत् के मूल कारण के विषय में कवियों के विभिन्न मतों का निर्देश

किया है (स्वभावमेके कवयो वदन्ति—६।१)। गीता 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः' (४।१६) तथा 'संन्यासं कवयो विदुः' (१८।२)—आदि स्थलों में इसी औपनिषद अर्थ का अनुसरण करती है। ऋक् संहिता में इस शब्द का प्रयोग बहुलता से मिलता है—समानमेकं कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते (७।८६।३)। ध्यान देने की बात है कि 'कवि' शब्द का प्रयोग स्वयं उस साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म के लिये भी अनेक स्थलों पर किया गया है। ईशावास्य की वाजसनेयी श्रुति उस पुरुष को 'कवि' कहकर पुकारती है—कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः (मन्त्र ८)। महानारायण उपनिषद् के अनुसार परमेश्वर अनन्त और अव्यय होने के अतिरिक्त कवि भी है—अनन्तमव्ययं कविम् (महानारायण ११।७) उपनिषदों के स्वर में अपना स्वर मिलाकर श्रीभगवद्गीता भी यही कहती है—

> कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः ।
>
> —गीता (८।९)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अध्यात्म-विद्या का वेत्ता पुरुष 'कवि' के नाम से अभिहित होता है। स्वयं परमेश्वर भी इसी 'कवि' की पवित्र पदवी से मण्डित है। इससे बढ़कर दर्शनशास्त्र की प्रतिष्ठा की सूचना हो ही क्या सकती है ?

भारत की सभ्यता में 'कवि' का आदर सदा से होता रहा है और आज भी समादर का वह भाव लेशमात्र भी कम नहीं हुआ है। प्राचीन यूनान में भी अध्यात्मविद्या के अनुरागी व्यक्तियों की कमी न थी, दार्शनिक भी कम न थे, परन्तु समग्र यूरोप के अध्यात्म-शिक्षण के विषय में गुरु-स्थानीय यूनान की काली करतूतें देखकर हम भारतीयों के हृदय में विस्मय तथा विषाद की भावना उठ खड़ी होती है। यूनानी लोगों ने ही मिलकर अपने देश के सबसे बड़े दार्शनिक सुकरात को विष देकर मार डाला था और दूसरे बड़े दार्शनिक

अफलातूँ (प्लेटो) को उनके ही एक भक्त शिष्य ने सरे बाजार में गुलाम बनाकर बेंच डाला था। पश्चिमी जगत् की मूर्धन्य जाति का यह दुराचरण, दार्शनिकों की इतनी अवहेलना, किसे अचम्भे में नहीं डालती ? परन्तु भारत तथा भारतीय सभ्यता से अनुप्राणित समग्र पूर्वी देशों में दार्शनिकों का बोलबाला था, समाज के वे अग्रणी थे, राष्ट्र के वे निर्माता थे, समाज को परम कल्याण की ओर ले जाने वाले महनीय नेता थे। चीन की यही दशा है। भारत की तो बात ही निराली है। भगवान् मनु का निःसन्दिग्ध प्रमाण है:—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ (१२।१००)

वेदशास्त्र का ज्ञाता सेना के संचालन तथा राज्य पर शासन करने के योग्य है। दण्डविधान तथा सब लोकों का आधिपत्य करने का अधिकारी वही है। प्लेटो भी मनु के इस कथन से प्रभावित हुए थे। उन्होंने आदर्श राष्ट्र के संचालन का भार दार्शनिक के ऊपर ही रखा था; यद्यपि 'रिपब्लिक' में इन्होंने बड़ी युक्तियों से इस मत का समर्थन किया, पर वे हवाई महल ही बनाते रहे। उनका स्वप्न कभी कार्यरूप में परिणित न हो सका; वह मृगमरीचिका से बढ़कर सिद्ध न हो सका। परन्तु भारत में राज्य का सूत्र अध्यात्मवेत्ता व्यक्तियों के हाथों में रहा करता था। राजर्षि जनक की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर देना ही पर्याप्त होगा। इस प्रकार इस पावन भारत में दार्शनिकों का कोरा आदर ही न होता था, बल्कि देश के शासन की बागडोर भी उन्हीं के हाथ में रहती थी।

प्राचीनता

हमारी संस्कृति से सामान्य परिचय रखनेवाले व्यक्ति को भी इसकी पहली विशेषता प्रतीत होगी—इसकी प्राचीनता। यह कितनी प्राचीन है ? इसका यथार्थ निरूपण इतिहास की विशेष छानबीन करने पर आज भी नहीं हो पाया। परन्तु प्राचीन स्थानों की खुदाई

करने से प्राचीन काल की सभ्यता हमारे सामने अभी आई है। सिन्धु नदी की घाटी में 'मोहन-जो-दड़ो' तथा पंजाब के 'हरप्पा' नामक स्थानों पर खुदाई करने से अनेक अद्भुत चमत्कारी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं। इस सभ्यता का नाम है 'सिन्धु-सभ्यता'। यह सभ्यता भी इराक तथा मिश्र की सभ्यता से प्राचीनतर हैं, इसके प्रमाण मिले हैं। इराक में सभ्यता के आरम्भ करने वाले अत्यन्त प्राचीन (विक्रम पूर्व ३५०० वर्ष) सभ्य जाति का नाम है—सुमेर जाति। इतिहास बतलाता है कि ये लोग उस देश के निवासी न थे, बल्कि परदेशी थे—बाहर से आनेवाले थे। सुमेर लोगों की सभ्यता भारतीय सभ्यता से इतनी मिलती है कि उन्हें पश्चिमी इतिहासज्ञ भारत निवासी बतलाते हैं—विशेषतः दक्षिण भारत का[1]। इराक की सभ्यता सिन्धु-सभ्यता से प्रभावित है। वेशभूषा, रहने के प्रकार, दोनों में समान हैं। इतना ही नहीं, रूसी वैज्ञानिक वाविलोव (Vavilow) का कहना है कि संसार में गेहूँ की उत्पत्ति सर्वप्रथम पञ्जाब के समीप हिन्दूकुश तथा हिमालय के बीचवाले भाग में हुई और यहीं से इराक यूरोप तथा अमेरिका सर्व जगह फैला। इन देशों में जिस गेहूँ की खेती होती है उसका मूल स्थान पञ्जाब है। पाश्चात्य जगत् में घोड़े से चलनेवाला रथ मिलता है, परन्तु इसकी प्रथम कल्पना भारत में ही हुई। इस प्रकार इराक तथा मिस्र की सभ्यता पर सिन्धु सभ्यता का विपुल प्रभाव पड़ा है। यह सभ्यता निःसन्देह वैदिक है और इसके उदय का काल विक्रम पूर्व चार हजार वर्ष है। संसार के इतिहास में

---

१ Sumerians were decidedly Indian in type.........it is to this Dravidian ethnic type of India that the ancient Sumerian bears most resemblance, so far as we can judge from his monuments. He was very like a Southern Hindu of the Deccan who still speak Dravidian languages. And it is by no means improbable that the Sumerians were an Indian race —Hall : The Ancient History of the Near East p. 173.

इतनी प्राचीन सभ्यता दूसरी उपलब्ध ही नहीं हुई। अतः प्राचीनता भारतीय सभ्यता की प्रथम विशिष्टता है।

मृत्युञ्जयता

आर्य संस्कृति अमर है। अमरता उसकी दूसरी विशिष्टता है। वह प्राचीन होकर भी नवीन है—नितान्त प्राचीनता से मण्डित होने पर भी उसकी धमनियों में रक्त का प्रसार है, नूतन स्फूर्ति की वह आगार है। वैदिक ऋषियों ने उषादेवी की मनोरम स्तुति के प्रसङ्ग में उसे 'पुराणी युवतिः' शब्दों से वर्णित किया है। ये शब्द भारतीय संस्कृति के विषय में बिना किसी सन्देह के व्यवहृत किये जा सकते हैं। आर्य संस्कृति पुराणी युवतिः है अर्थात् पुरातन होने पर भी वह युवति है—यौवन के उल्लास, उन्माद तथा उत्साह से उसका अङ्ग-अङ्ग परिपूरित है। अन्य प्राचीन संस्कृति की भाँति वह अपने जीवन की अन्तिम श्वास नहीं ले रही है, प्रत्युत उसमें भरपूर जीवनशक्ति है जो उसे आज भी जीवित, जाग्रत तथा प्रभावशाली बनाये हुए है। इसे हम आर्यसंस्कृति की 'मृत्युञ्जयता' कह सकते हैं। उसे मृत्युमुख में समेटने के अनेक अवसर आये, विकराल विपत्तियाँ आईं, विदेशियों के प्रबल आक्रमण हुए, परन्तु तिस पर भी वह अदम्य उत्साह से खड़ी रही और आज भी वह उसी प्रकार से हृष्ट-पुष्ट बनी हुई है।

आर्य-राजनीति की विशेषता रही है-क्षात्रबल का ब्राह्म तेज का मञ्जुल सहयोग। राष्ट्र के रक्षण का भार क्षत्रिय राजन्य पर निर्भर करता था पर उसे धर्म के शोभन राजपथ पर सञ्चालित करने का उत्तरदायित्व ब्राह्मण के ऊपर रहता था। इसलिए अमात्य का उन्नत पद ब्राह्मणों के ही लिये था। क्षत्रिय की थी भौतिक शक्ति और ब्राह्मण की होती थी आध्यात्मिक शक्ति। क्षत्रिय नरपति प्रभुशक्ति का प्रतिनिधि है, तो ब्राह्मण सचिव मन्त्रशक्ति का प्रतीक है। कालिदास ने इस ब्रह्म-क्षत्र योग को 'पवनाग्नि समागम' से उपमा दी है। 'पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा'।

इस मणिकाञ्चन योग ने ही आर्यसंस्कृति को मृत्युञ्जय बनाया है। यूनान के विश्वविजयी नरेश सिकन्दर ने विक्रम से पूर्व चतुर्थ शतक में भारत पर जो आक्रमण किया उसे ब्राह्मण कौटिल्य के बुद्धि-वैभव से सञ्चालित राजन्य चन्द्रगुप्त ने अपने क्षात्र-पराक्रम से सर्वथा विफल बना दिया। विक्रम के समय में भी ऐसी ही दशा थी। पराक्रमी शकों के भयङ्कर आक्रमण के कारण भारतीय भूमि कम्पायमान हो रही थी। उस समय विक्रमादित्य ने अपने ब्राह्मण कवि कालिदास के उपदेश से स्फूर्ति तथा उत्साह ग्रहण कर इन शकों की धज्जियाँ उड़ा दीं—उन्हें भारत-वसुन्धरा से उखाड़ कर राह राह का भिखारी बना दिया। मध्ययुग में औरङ्गजेब की कूटनीति को समर्थ रामदास स्वामी की आध्यात्मिकता मन्त्रणा से छत्रपति शिवाजी ने विफल कर डाला। उनके नेतृत्व में मराठों में विशाल शक्ति का सञ्चार हुआ और उन्होंने आर्यसंस्कृति का संरक्षण यावनी संस्कृति के आक्रमण से इतनी सुन्दरता से सम्पन्न किया कि आज भी यह संस्कृति अपने प्रभाव से मण्डित है, जगत् में अपना प्रभाव विस्तार कर रही है।

अमरत्व का रहस्य

आर्यसंस्कृति की मृत्युञ्जयता का रहस्य समझने के लिये उसके अन्तस्तल में प्रवेश करना चाहिए—बाहरी आवरण फाड़कर उसका भीतरी रूप परखना चाहिए। हमारी सभ्यता के अमरत्व का रहस्य तीन शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है—*समञ्जसता, सहिष्णुता, ग्रसिष्णुता*—भारतीय संस्कृति की स्थित्यनुकूल परिवर्तनशीलता, सब सहने की योग्यता तथा अन्य सभ्यता को प्राप्त कर लेने की शक्ति। ये तीनों इसके गौरव तथा महनीयता के पर्याप्त प्रतिपादक हैं। विज्ञान की सम्मति है कि इस जगत् में सबसे अधिक योग्य व्यक्ति ही जीवित रहता है। अयोग्य व्यक्ति जो अपनी परिस्थितियों के सामने परास्त हो जाता है कथमपि जीवित नहीं रह सकता। भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है—यह स्पष्ट प्रमाण है कि यह अन्य सभ्यताओं की तुलना में

समधिक शक्तिशालिनी है। वैदिककाल से आरम्भ कर आज तक कितनी सामाजिक उथल-पुथल इस भूमि में हुई, कितने राजनैतिक परिवर्तन हुए, परन्तु यह संस्कृति इतनी अन्तःप्रेरणा तथा जीवनीशक्ति से सम्पन्न है कि वह अपने को परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल बनाती गई। यह उसकी समञ्जसता हुई। इसी के समान इसकी सहिष्णुता-उदारता भी विशेषतः श्लाघनीय है। आर्यसंस्कृति का रहस्य है सब जातियों, सब मतों, सब आचारों की तितिक्षा, सहनशीलता। यह सब वस्तुओं को ग्रहण कर लेती है और किसी वस्तु को त्याज्य नहीं मानती। सब मतों के सिद्धान्तों का समभावेन आदर करती है। भारतभूमि की प्रतिभा रही है – सृष्टि में, विनाश में नहीं; संरक्षण में, त्याग में नहीं। एक शब्द में यदि भारतीय संस्कृति की विशालता तथा व्यापकता का रहस्य प्रतिपादन किया जाय, तो वह शब्द है—समन्वय। विरोध का प्रशमन, अनेकता में एकत्र की दृष्टि, 'नाना' के स्तरों में एकता की पहचान—यही है आर्यसंस्कृति की कुञ्जी। बिना इसे ठीक समझे, इसके रहस्य का उद्घाटन यथार्थतः नहीं हो सकता।

समन्वय बुद्धि

जिस प्रकार अद्वैततत्त्व भारतीय दर्शन की बहुमूल्य सम्पत्ति है, उसी प्रकार वह भारतीय संस्कृति का भी महान् बीज है। भारतीय धर्म में समन्वय की ओर दृष्टि डालिए। उपनिषदों के अनुसार मानवजीवन के लिये दो मार्ग हैं—श्रेयः तथा प्रेयः, कल्याण का मार्ग तथा सांसारिक सुख का मार्ग, कण्टक का मार्ग तथा पुष्प का मार्ग, निवृत्ति मार्ग तथा प्रवृत्ति मार्ग। पाश्चात्य देश में ये दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, इनमें किसी प्रकार का सामंजस्य प्रस्तुत नहीं किया गया, परन्तु भगवद्गीता ने इन दोनों मार्गों में मंजुल समन्वय प्रस्तुत कर रखा है। 'निष्काम कर्म' के सिद्धान्त में हम दोनों पन्थों का एकत्र मिलन पाते हैं। गीता कर्म के संन्यास के पक्ष में नहीं है, वह कर्मफल के संन्यास के पक्ष में है। निवृत्ति कर्म-फल से होनी चाहिए, पर कर्म में

हमारी प्रवृत्ति होनी चाहिए। मनुष्य-जीवन का मूलस्रोत है—भगवान्। वहीं से यह जीव अपने कर्मों के अनुसार यात्रा करने के लिये प्रस्तुत हुआ है और उसका विराम भी उसी भगवान् में है। ब्रह्मचक्र के दो अंश हैं—प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्तिमार्ग, भोग का भाग तथा त्याग का भाग। इस चक्र के प्रथमार्ध में जीव आदान (ग्रहण) से समृद्ध होता है और उत्तरार्ध में प्रदान (त्याग) से समृद्ध होता है। प्रवृत्ति मार्ग में भगवान् के वैमुख्य रहता है और निवृत्ति मार्ग में भगवान् के प्रति साम्मुख्य रहता है। इन दोनों का सामरस्य आर्य-संस्कृति में है। पुरुषार्थ चार हैं—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। वैदिक संस्कृति इन चारों के समन्वय में ही मानवजीवन की सफलता मानती है, आंशिक सेवन में नहीं। वह कहती है—

धर्मार्थ - कामाः सममेव सेव्याः।
यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः॥

आर्य संस्कृति नितान्त उदार है, उदात्त है। अपनी उदारता के बल पर ही वह अब तक जीवित रही है और आगे भी जीवित रहेगी। आज दानवता के भीषण प्रहार के कारण मानवता छिन्न भिन्न हो रही है। मनुष्य मनुष्य का शत्रु बना हुआ है। यदि संसार में मानवता की रक्षा हमें अभीष्ट हो, तो भारतीय संस्कृति ही हमारी पर्याप्त सहायता करेगी। इसी लक्ष्य की सूचना भारतीय संस्कृति के पुजारी अमर कवि रवीन्द्रनाथ ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में दी है:—

से परम परिपूर्ण प्रभातेर लागि,
हे भारत! सर्वदुःखे रह तुमि जागि।
सरल निर्मल चित्त, सकल बन्धने
आत्मारे स्वाधीन राखि, पुष्प ओ चंदने।
आपनार अन्तरेर माहात्म्य - मन्दिर
सज्जित सुगन्ध करि, दुःखनम्र शिर
तार पदतले नित्य राखिया नीरवे॥

वैदिक संस्कृति के पोषक भारतवर्ष में जन्मग्रहण करने के लिए, इसीलिए तो देवगण भी लालायित रहते हैं। व्यास जी की यह उक्ति कितनी महत्त्वपूर्ण है कि अन्य स्थानों पर कल्प की आयु पाने की अपेक्षा भारत में क्षणभर भी जीना श्रेयस्कर है:—

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥

धन्य है यह पावन भारतवर्ष, जिसमें पुण्य-सलिला भगवती भागीरथी अपने निर्मल जल से मनुष्यों का मल धोती हैं, भगवान् के प्रेमी भागवतजन भगवान् की विमल कीर्ति गाते हैं और यज्ञयाग का पावन धूम आकाश में ऊपर उठकर उसकी आध्यात्मिकता का परिचय देता है। ऐसे पवित्र साधनों से विरहित होने पर इन्द्रलोक भी हमारे लिये तुच्छ ही है:—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥

धन्य है यह पवित्र भरतभूमि और धन्य है महनीय आर्यसंस्कृति !!! भगवान् करे यह विश्व का सदा परम मंगलसाधन करे।

(२३)

हमारी मृत्युञ्जय संस्कृति

हमारी संस्कृति की यह एक बड़ी भारी विशेषता है कि हमारे जितने श्रद्धा के केन्द्र हैं मान-विंदु हैं, उनके पीछे कोई-न-कोई श्रेष्ठ तत्त्व है और अवश्य है। आज हमारे दुर्भाग्य से वे तत्त्व सुप्तावस्था में हैं, वे सिद्धान्त अमूर्त रूप हैं और इसी कारण हमारा यह ह्रास दृष्टि-गोचर हो रहा है। आज आवश्यकता है उन तत्त्वों को जाग्रदवस्था में लाने की। आज आवश्यकता है उन सिद्धान्तों को मूर्तस्वरूप में लाने की, उनको अपने आचरण में प्रत्यक्षरूप से कार्यान्वित करने की। इसका केवल एक ही उपाय है और वह है इन तत्त्वों को—उन सिद्धान्तों को बोधगम्य बनाना—ऐसे रूप में सामने रखना कि साधारण जनता उन्हें ठीक प्रकार से समझ ले और हृदयङ्गम कर ले।

सांस्कृतिक रथ के दो चक्र

गैरिक ध्वज पुरातन काल से चली आयी हुई हमारी इस पुण्य-संस्कृति की सनातन धारा का मूर्तिमान् प्रतीक है। इस ध्वज का भगवा रंग 'ब्राह्मतेज' और 'क्षात्रबल' का परिचायक है। इन्हीं दो विशेषताओं पर हमारी संस्कृति अडिग खड़ी है। यही वह नींव है, जिसके कारण शत-शत आघात सहते हुए भी हमारी संस्कृति की अचलरूप से स्थिर है। आप से अपना इतिहास अविदित नहीं है। हमारे यहाँ प्रजाका पालक राजा सर्वदा से क्षत्रिय ही होता आया है। परन्तु वह अकेला ही इस सारे भार को सँभालता नहीं आया है। वह सदा ब्राह्मतेज की सहायता से ही व्यवस्था करता आया है। राजा क्षत्रिय

होता था अवश्य; परन्तु उसके गुरु, उसके सलाहकार, उसको मन्त्रणा देनेवाले, उसके मन्त्री सर्वदा ब्राह्मण ही होते थे। श्रीरामचन्द्रजी, जिन्हें हम श्रद्धापूर्वक भगवान् मानते हैं, क्षत्रिय थे; परन्तु उन्हें मार्ग दिखानेवाले उनके गुरु वसिष्ठ कौन थे ? ब्राह्मण ही न ? यह तो हुई उस परमपवित्र गौरवशाली पुरातन स्वर्ण-युग की बात। आज के युग को भी देख लीजिये, यही बात मिलेगी। छत्रपति शिवाजी महाराज के गुरु 'समर्थ रामदास स्वामी' कौन थे ? परम शक्तिशाली पेशवाओं को तो आप जानते ही हैं, वे कौन थे ? ब्रह्मतेज के विना अकेला क्षात्रबल क्या कर सकता है ? जिस प्रकार दो चक्रों के विना रथ नहीं खींचा जा सकता उसी प्रकार इन दो शक्तियों के विना यह हमारे 'हिंदू-राष्ट्र' का रथ आगे नहीं बढ़ सकता। हमारी इस पवित्र संस्कृति का रथ सर्वदा इन्हीं दो चक्रों के आधार पर चलता आया है।

ब्रह्मतेज तथा क्षात्रबल के आधार पर सुचारुरूप से चलनेवाला यह हमारा सांस्कृतिक रथ दुनिया में, सारे विश्व में सर्वश्रेष्ठ है। इसका निर्माण संसार के ही नहीं, अपि तु अखिल विश्व के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों के संयोग से हुआ है। वे तत्त्वों के संयोग से हुआ है। वे तत्त्व तकार से ही प्रारम्भ होते हैं—तपस्या, त्याग तथा तपोबल। तपस्या—युग-युग की तपस्या, ऋषि-महर्षियों की तपस्या, विष्णु के अंश राजाओं की तपस्या, प्रजा की तपस्या, सारे हिंदू-समाज की अपने ध्येय की ओर अग्रसर होने की तीव्र लगन—हमारे इतिहास में प्रखररूप से प्रकाशित हो रही है। त्याग के लिये तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। यह तो हमारी समाज-व्यवस्था का एक मुख्य अङ्ग है। इसके विना हमारी संस्कृति का अमर होना अत्यन्त असम्भव था। तपस्या और त्याग से कमायी हुई प्रचण्ड शक्ति का ही नाम तपोबल है। इसी बल के आधार पर हमारी संस्कृति ने सम्पूर्ण विश्व के हृदय पर विजय प्राप्त की। यह ऐतिहासिक सत्य है। इसमें शङ्का के लिये स्थान नहीं। इसी बल के कारण समस्त विश्व ने भारत को अपना गुरु अपना पथ-प्रदर्शक माना।

हमारी मृत्युञ्जयता

तपस्या, त्याग, तथा तपोबल के कारण स्वयं प्रकाशित ऐसी जो यह हमारी संस्कृति है, इसमें दो विशेषताएँ हैं—एक है प्राचीनता, सनातनता: दूसरी है मृत्युञ्जयता, अमरता। हमारी यह आर्य-संस्कृति, यह ब्रह्मतेज और क्षात्रबल के कारण अजेय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है। पहले लोग इसे नहीं मानते थे; क्योंकि कोई भौतिक प्रमाण उनके सामने नहीं था। परंतु आज उन्हें यह बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ रहा है। भूगर्भ से निकला हुआ मोहन-जोदड़ो नगर का अवशेष हमारी इस प्राचीन संस्कृति की जय मना रहा है। इस खँडहर हुए नगर की विशेषता देखिये। बड़ी-बड़ी चौड़ी गलियाँ, बड़े-बड़े प्रासाद, प्रत्येक घर में स्नान गृह, कूप इत्यादि व्यवस्थाएँ क्या हमारी समृद्धि की, हमारे ऐश्वर्य की परिचायक नहीं हैं? यह नगर इन्हीं पाश्चात्यों के मत के अनुसार विक्रम से, उस महान् तथा प्रातःस्मरणीय शकारि विक्रमादित्य के समय से, तीन हजार वर्ष अर्थात् आज से लगभग पाँच हजार वर्ष के भी पूर्व का है। आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व हम इतने वैभवशाली थे! मैं पूछता हूं, क्या यह हमारी संस्कृति की प्राचीनता का पर्याप्त प्रमाण नहीं? मैं पूछता हूँ—क्या आज ऐसी कोई भी संस्कृति जीवित है, जो इतनी प्राचीन होने का दम भर सकती है? मैं दावे के साथ कहता हूँ कि आज हमारी संस्कृति की प्राचीनता से टक्कर लेनेवाली कोई भी संस्कृति जीवित नहीं है। केवल एक हमारी ही यह संस्कृति है, जो विद्यमान है। इसका क्या कारण है? क्या यही बात हमारी मृत्युञ्जयता को प्रामाणित नहीं करती?

इतिहास के पृष्ठ उलटिये तो आपको एक प्राचीन संस्कृति का परिचय मिलेगा—मिस्र की संस्कृति। मिस्र देश की वह सामर्थ्यशालिनी संस्कृति प्राचीन संस्कृतियों मे से मानी जाती है। कहाँ है वह संस्कृति? क्या इस बड़े भारी भूपृष्ठपर एक भी व्यक्ति उस संस्कृति की परम्परा को लेकर जीवित है? क्या एक भी व्यक्ति ऐसा है, जो प्राचीन मिस्र देश

में व्यवहार में लायी जानेवाली भाषा को अपनी भाषा कहने का, बोलने का, व्यवहार में लाने का प्रमाण दे सकता है ? वह मिट गयी, नष्ट हो गयी; आज उस संस्कृति का एक भी वंशज इतने विशाल पृथ्वीतल पर जीवित नहीं है। इसके विपरीत है हमारी स्थिति। सबसे प्राचीन होती हुई भी हमारी संस्कृति की परम्परा अखण्डरूप से चल रही है। अत्यन्त प्राचीन काल में जो भाषा हमारे आदिपुरुष की वाणी के रूप में प्रवाहित हुई, उस देववाणी 'संस्कृत' का व्यवहार हमारे प्रतिदिन के व्यवहार में होता है। हम उसी प्रकार सन्ध्या-वन्दन करते हैं। हमारे नित्य के व्यवहार में, विवाहोपनयनादि संस्कारों की वही कर्मकाण्ड-पद्धति जीवित है, जिसे हमारे वेदकालीन पूर्वज उपयोग में लाते थे। मैं पूछता हूँ, है कोई जो मिस्र की प्राचीन भाषा को अपने जीवन में प्रधान स्थान देकर उस संस्कृति के परम्परा-दीप को प्रज्वलित रखने का अभिमान करता हो ?

तीन महान् आघात

हमारी संस्कृति ने सचमुच ही मृत्यु पर विजय पायी है। न जाने इस पर कितने आघात हुए; परन्तु यह अडिग रही, अचल रही, अटल रही। इन आघातों में सबसे बड़े ऐसे तीन आघात हुए। पहला हुआ सिकन्दर (अलीकचन्द्र) के द्वारा। उसका षड्यन्त्र कितना विकट था, यह इतिहास के विद्यार्थियों से छिपा नहीं है उसने हमारी संस्कृति का आमूलनाश करने का तथा यवन संस्कृति को विश्व की संस्कृति बनाने का प्रण किया था। परन्तु एक ब्राह्मण ने उससे टक्कर ली। उस महापुरुष का नाम था कौटिल्य, चाणक्य। उस ऋषिस्वरूप ब्राह्मण ने चन्द्रगुप्त के समान तेजस्वी शासक का निर्माण किया और गरीब विचारा अलीचन्द्र (अलेक्जेण्डर) अपना बोरिया-बँधना लेकर सिंधु के उस तीर पर आँसू बहा कर अपने देश लौट गया। दूसरा आघात हुआ प्रातः स्मरणीय गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक महाराज विक्रमा-

दित्य के समय में। महाप्रतापी रणशूर खूब लम्बे-चौड़े डील-डौलवाले बलशाली शकों ने आर्यावर्त को आत्मसात् करने की ठानकर हमारी इस पवित्र मातृभूमि की स्वतन्त्रता पर आक्रमण कर दिया। परन्तु उस समय भी एक ब्राह्मण ने जनता की नस-नस में आग फूँककर वीर विक्रम के नाम में कलङ्क नहीं लगने दिया। उसका नाम था—कालिदास। कविकुलसूर्य कालिदास का रघुवंश उठाकर देखिये, वह क्या था? ब्राह्मतेज और क्षात्रबल ने फिर एक बार बर्बरता को करारी हार दी। उसी प्रतापी के नाम से आज यह संवत् चला आ रहा है। आज भी हम प्रत्येक धार्मिक कृत्य के आरम्भ में उस वीर विक्रम का नाम सादर लेते हैं, ताकि हम भी उसी प्रकार अपनी मातृभूमि की सेवा करने में समर्थ हों। तीसरा आघात हुआ मुसलमानों के द्वारा। उस समय भी एक संन्यासी ने इस भारत-भूमि की रक्षा की। उस प्रातर्वन्दनीय समर्थ रामदास को कौन नहीं जानता? उस महान् आत्मा ने एक महापुरुष का निर्माण किया—जिनका नाम है छत्रपति शिवाजी महाराज। क्षत्रियकुलावतंस छत्रपति ने फिर एक बार उस हत्यारी शक्ति को नाकों चने चबवाये।

सर्वाधिक कुटिल आघात

कौन-सी ऐसी संस्कृति है, जो ऐसे भीषण आघातों के सन्मुख अपनी प्राचीनता को अमर रखने की दावा कर सकती है? इतना ही नहीं, एक और और भी प्रयत्न हमारे देश में हुआ, जो यदि सफल जाता तो आज हमारी इस पवित्र भूमि का अभिमान रखनेवाला एक भी न दिखायी देता। वह प्रयत्न हुआ अंग्रेजोंके द्वारा। आपने विष-कन्याका वर्णन अवश्य पढ़ा होगा। जिस प्रकार अफीमची लोग थोड़ी-थोड़ी मात्रासे प्रारम्भकर बहुत अधिक मात्रा में अफीम खानेका अभ्यास करते हैं, उसी प्रकार—उसी प्रणालीसे विषकन्या तैयार की जाती थी। बालपन से उसे थोड़े-थोड़े परिमाण में विष खिलाया जाता था और

धीरे-धीरे उसका प्रमाण बढ़ाया जाता था। पर्याप्त समय के बाद उस कन्याके सारे शरीर में इस प्रकार विष व्याप्त हो जाता था कि यदि मनुष्य या पशु के शरीर पर उसके नख से खरोंच लग कर उस मनुष्य के रक्त का उसके नख से सम्पर्क हो जाता था तो वह मनुष्य या पशु तत्काल विषबाधा से मर जाता था। अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार कर सारे समाज की नस-नस में यह विष फैला दिया। धीरे-धीरे समाज की रग-रग में यह विष व्याप्त हो गया और आज हम ही अपने धर्म की—अपनी संस्कृति की जड़ काटनेवाली कुल्हाड़ी का बेंट बन गये। हमने उन्हींके वचनों को दोहराना प्रारम्भ कर दिया। देखिये न? उन्होंने कहा और हमने मान लिया कि हम 'यहाँ के नहीं हैं, हम बाहर से आये हुए हैं,।' चलिये, झगड़ा ही मिट गया। जब हम भी बाहर से आये हैं तो फिर क्यों हम इस भूमि के लिये दूसरे से झगड़ा मोल लें? परंतु हमने कभी यह विचार नहीं किया कि यदि हम बाहर से आये हुए होते तो हमारे ही नहीं, प्रत्युत संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हमारे वेदों में इसका कहीं तो उल्लेख मिलता। यहीं वह सप्तनद प्रदेश है, जिसमें सरस्वती का पुण्य-प्रवाह नृत्य करता है और जहाँ से आर्यों ने समस्त संसार में फैल कर उपनिवेश स्थापित किये और बर्बरों में सभ्यता का बीज बो दिया, ताकि वे मनुष्यता का सम्मान करें। आज वे ही, जिन्होंने हमसे ऋणरूप में बुद्धि का बीज लिया, हमसे कहते हैं—'तुम यहाँ के आदिनिवासी नहीं हो।' और हम तत्काल इसे सत्य मानकर अपनी इस मातृभूमि का अभिमान छोड़कर विचार करने लगते हैं कि यथार्थ में हमें अपने को यहाँ का राष्ट्रिय नहीं कहना चाहिये। इतना ही नहीं, इस विषय का हमारे ऊपर इतना अधिक प्रभाव हुआ है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारे इस युग के तथाकथित नेता लोगों को ही देखिये। उनमें बहुत से अपने को हिंदू कहलाने में भी लज्जा का अनुभव करते हैं। न जाने वह सुदिन कब आयेगा? जब हम अपने अंदर हिंदुत्व का अभिमान भरकर भारत के राजकारण में भाग लेंगे।

कहने का तात्पर्य यह कि हमारी संस्कृति इतने प्रबल आक्रमणों के विरुद्ध संघर्षमय जीवन बिताकर अब तक जीवित है, इसका एकमात्र कारण इसकी मृत्युञ्जयता है। इस मृत्युञ्जयता की प्राप्ति हमें केवल हमारे ही ब्राह्म-तेज तथा क्षात्रबल के द्वारा हुई है। इसी ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबल के कारण हमारी इस संस्कृति को, राष्ट्र को, भूमि को यह गौरव नसीब हुआ। हमारी समृद्धि देखकर देवता भी यहाँ जन्म लेने के लिये तरसते थे। देवलोक से देवताओं के मर्त्यलोक में आने की कल्पना लोगों को जरा विचित्र मालूम होती है; परंतु इसमें कुछ असत्य नहीं। क्योंकि देवलोक तो भोगभूमि है। वहाँ किये हुए पुण्य का कोई फल नहीं। इसीलिये मोक्ष की इच्छा करनेवाले देवताओं के इस मर्त्यलोक में, इस कर्मभूमि पर, अवतार लेने की बात विचार-संगत तथा तर्कसंगत है। यहाँ जो कुछ भी किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। परंतु इतना बड़ा यह विश्व है, फिर भी देवताओं की इच्छा यहाँ भारत में जन्म लेने की क्यों होती थी? वह केवल यहाँ की आध्यात्मिक सुख-समृद्धि देखकर ही तो?

तेजःपुञ्जका प्रतीक ध्वज

इतना समृद्धिशाली हमारा देश था; परन्तु आज? आज हमारी स्थिति अत्यन्त हीन है। इस हीन स्थिति से निकलने का केवल एक ही मार्ग है। वह है अपनी संस्कृति को पुनः गौरवशाली बनाने का दृढ़ निश्चय लेकर समस्त हिंदू समाज को सुसंघटित करना। यह तभी हो सकता है, जब हमारी संस्कृति, हमारी परम्परा का हमें हर समय ध्यान रहे। इसी के लिये हमने अपना यह पुरातन 'भगवा ध्वज' अपनाया है। इसे देखते ही हमें अपने पूर्व गौरव का ध्यान हो आता है। अपनी परम्परा का आँखों के सन्मुख चित्र उपस्थित हो जाता है। इसी झंडे के नीचे हुए असंख्य बलिदानों का स्मरण हो आता है, जिनके कारण आज हम अपने को हिंदू के रूप में जीवित देखते हैं।

यह ध्वज हमारे हिन्दू-राष्ट्र की आशाओं—आकांक्षाओं, इतना ही नहीं, वरं समस्त हिंदू-राष्ट्र का तेजःपुञ्ज प्रतीक है। यह हमारा है, हम इसके हैं। इसी के कारण हम हम हैं। अतः इसका सम्मान-रक्षण हमारे जीवन का आद्य कर्तव्य है—यह बात प्रत्येक हिंदू के मन में जागरित हो तथा इस ध्वज के पीछे जो हमारी संस्कृति का अमूर्त गौरव छिपा है, उसे मूर्त स्वरूप देने में वह कार्यशील हो। यही जगदीश से प्रार्थना है।

भारतीय साहित्य में नारी

आज इस पुण्यभूमि भारतवर्ष में हिंदू-नारी की जो बीभत्स धर्षणा हो रही है, उसके स्मरणमात्र से ही हमारे शरीर में रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं—हमारा रोम-रोम उसका प्रतिवाद करने के लिये मानो समूह रूप से जाग्रत् दीख पड़ता है। नारी का इसमें दोष क्या ? प्रधान तथा प्रबल दोष तो हमारा ही, पुरुषों का ही है। नारी सर्वदा ही पुरुष की छत्रछाया में अपने गुणगरिमा का विस्तार करती आयी है। उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व पुरुष के ही ऊपर है, परंतु आज इन नामधारी पुरुषों की वीर्यहीनता, दुर्बलता तथा अपमान-सहिष्णुता के कारण ही नारी की यह भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी है। भारतीय समाज में नारी त्याग तथा तपस्या की प्रतीक है। मनु का यह वचन हम कभी भूल नहीं सकते कि जहाँ स्त्रियाँ पूजी जाती हैं, वहीं देवतालोग आनन्दित रहते हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

स्त्रियों का पूजन देवताओं के समाराधन का मुख्य साधन है। नारी भारतीय संस्कृति में अतीव उन्नत गौरव की अधिकारिणी सदा से रही है। स्त्रीत्व के नाते उसमें स्वभाववशात् अनेक प्रकार की दुर्बलताएँ स्वतः विद्यमान रहती हैं। इसीलिये तो भारतीय समाज-शास्त्रियों ने 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' का शंखनिनाद किया है। यह कथन स्त्री-समाज की निन्दा या अपमान का सूचक नहीं है, प्रत्युत वस्तुस्थिति का द्योतक है। हमारे धर्मशास्त्रियों ने नारी के संरक्षण का भार बल के प्रतीक पुरुष के ऊपर ही छोड़ दिया। नारी के तीन रूप हैं—कन्या, पत्नी तथा माता; और इन तीनों ही दशाओं में उसकी

रक्षा का, उसकी मान-मर्यादा तथा प्रतिष्ठा के संरक्षण का पवित्र कार्य 'पुरुष' के ऊपर ही निर्भर करता है। पुरुष मात्र का सूचक वेद का महनीय शब्द है—'वीर'। 'वीर' का शब्दार्थ ही है—पुरुष और इसी अर्थ में इसका प्रयोग संस्कृत से सम्बद्ध आर्य भाषाओं में अभी भी होता है। लैटिन भाषा का 'वीरुस' (Virus) मनुष्य का वाचक है और यह शब्द संस्कृत 'वीरस्' (वीरः) का ही साक्षात् प्रतिनिधि है। इस शब्द से व्युत्पन्न अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त 'विरिलिटी' (Virility) भी पुंस्त्व, वीर्य का ही द्योतक है। सारांश यह है कि पुरुष वही है जो वीर हो, वीर्य सम्पन्न हो, अपने को तथा अपने आश्रित को रक्षण करने की क्षमता रखता हो। वैदिक ऋषियों ने इस वीर्य के प्रतीक, 'वीर' नामधारी पुरुष के संरक्षण में 'नारी' की व्यवस्था कर उचित ही कार्य किया; परन्तु दुःख का विषय है कि हम अपने सामर्थ्य से ही सर्वथा च्युत हो गये, अपने आपको बचाने की क्षमता से विहीन होकर हमने अपनी अनमोल थाती के रक्षण से ही अपना हाथ खींचकर जघन्य कार्य किया। अतः नारी की इस वर्तमान दुरवस्था का समस्त दोष पुरुष की नपुंसकता को है।

हिंदू-संस्कृति में नारी के महनीय स्थान को परखने के लिये अपनी संस्कृति के स्वरूप को हमें पहचानना पड़ेगा। हमारी सभ्यता के दो पादपीठ हैं—त्याग और तपस्या। हमारी सभ्यता किसी की सम्पत्ति पर बलात् अधिकार जमा कर उसे बरबस छीनने और झपटने का उपदेश नहीं देती है। वह गम्भीर स्वर से पुकारती है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

त्याग से सम्पत्ति का उपभोग करो। किसी के धन पर लालच न करो। अपनी सम्पत्ति भी बाँट कर खाओ। हमारा प्रतिदिन बलिवैश्वदेव कर्म इसी त्यागवृत्ति का दैनन्दिन आचरण है। हमारा अद्वैत वेदान्त सच्चा साम्यवादी धर्म है, जो जगत् के प्राणिमात्र को अपना बन्धु ही नहीं, प्रत्युत अपना ही रूप समझता है। अतः त्याग

हमारी संस्कृति का प्रधान आधार पीठ है और त्याग के लिये आवश्यक है तपस्या। तपस्या के द्वारा ही मानव अपने कालुष्य को जलाकर पवित्र तथा विशुद्ध बन जाता है। सोना आग में तपने पर खरा उतरता है। मनुष्य भी तपस्या के द्वारा खरा उतरता है—अपनी विशुद्धि प्राप्त करता है। बिना तपस्या के त्याग की भावना कथमपि जाग्रत नहीं हो सकती। अतः भारतीय संस्कृति त्याग तथा तपस्या के ताने-बाने से बनी हुई एक विचित्र शाटी है, जिसका रंग शताब्दियों के काले धब्बे पड़ने पर भी आज भी उसी प्रकार नेत्ररंजक तथा चटकीला है और इस संस्कृति और सभ्यता की प्रतीक है—

भारतीय नारी

नारी त्याग और तपस्या की जाज्वल्यमान विभूति है। इन्हीं दोनों तत्त्वों के समन्वय से हमारी आर्य नारी का स्वरूप संगठित हुआ है। नारी-जीवन का मूलमन्त्र है—त्याग और इस मन्त्र को सिद्ध करने की क्षमता उसे प्रदान की है तपस्या ने। हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते कि उसके जीवन के किस अंश में इन महनीय तत्त्वों के विलास का दर्शन हमें नहीं मिलता; परंतु यदि हम उसके पूर्वजीवन को 'तपस्या' का काल तथा उत्तर-जीवन को 'त्याग' का काल मानें, तो कथमपि अनुचित न होगा। नारी के तीन रूप हमें दीख पड़ते हैं—कन्या रूप, भार्या रूप तथा मातृरूप। कौमार-काल नारी-जीवन की साधनावस्था है और उत्तर-काल उस जीवन की सिद्धावस्था है। हमारी संस्कृति के उपासक संस्कृत-कवियों ने नारी की इन तीनों अवस्थाओं का चित्रण बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया है।

नारी कन्यारूप में

कन्या रूप में नारी का चित्रण हमें कालिदास की कविता में उपलब्ध होता है। कालिदास आर्य-संस्कृति के प्रतिनिधि ठहरे। उन्होंने

आर्य कन्या के आदर्श को 'पार्वती' के रूप में अभिव्यक्त किया है। आर्य कन्या को अदम्य, अजेय तथा जितेन्द्रिय बनाने का मुख्य साधन 'तपस्या' ही है। कालिदास ने अपने कुमारसम्भव में इसके महत्त्व को बड़े ही भव्य शब्दों में प्रकट किया है। शिवजी के द्वारा मदन-दहन के अनन्तर भग्नमनोरथा पार्वती जगत् की समग्र आशाएँ छोड़कर तपस्या की साधना में जुट गयी। उसकी तपस्या इतनी कठोर थी कि कठिन शरीर से उपार्जित मुनियों की तपस्या उसके सामने नितान्त प्रभाहीन तथा प्रभावहीन प्रतीत होती। प्रकृति के नाना प्रकार के कष्टों को झेलकर अन्ततः वह अपनी कामनासिद्धि में सफल होती है। उसका मनोरथतरु फलसम्पन्न होता है। उसे अभीष्ट फल प्राप्त होता है। कालिदास ने पार्वती के तप का रहस्य विशेषरूप से प्रकट किया है।

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

(कुमारसम्भव ५।२)

पार्वती की तपस्या का फल था—तथाविधं प्रेम, उत्कट कोटि का अलौकिक प्रेम और तादृशः पतिः, उस प्रकार का मृत्यु को जीतनेवाला पति। जगत् के समस्त पति मृत्यु के क्रीत दास हैं। एक ही व्यक्ति मृत्यु को जीतने वाला है और वह है मृत्युञ्जय महादेव। मृत्यु को जीतने की क्षमता एक में ही है, और वह व्यक्ति है देवों में महान् देव, अर्थात् महादेव। आजतक कोई भी अन्य कन्या मृत्युञ्जय को पति वरण करने में समर्थ नहीं हुई और इस युगल-जोड़ी का प्रेम भी कितना अनुपम, कितना उत्कट, कितना अलौकिक है। कालिदास ने 'तथाविधं' शब्द के भीतर गम्भीर अर्थ की अभिव्यंजना की है। शंकर ने पार्वती को अपने मस्तकपर स्थान दिया है। आदर की एक सीमा

होती है। पत्नी को इतना उच्च स्थान प्रदान करना सत्कार का महान् प्रकर्ष है, आदर की पराकाष्ठा है। अन्य देवताओं में किसी ने अपनी पत्नी को इतना गौरव प्रदान नहीं किया है। गौरी की यह साधना भारतीय कन्याओं के लिये अनुकरणीय वस्तु है। हमारी कन्याओं के सामने एक ही महान् आदर्श है और वह है पार्वती। भारतीय समाज में 'गौरीपूजन' का रहस्य इस महती तपःसाधना के भीतर अन्तर्निहित है।

नारी पत्नी-रूप में

संस्कृत कवियों ने पत्नीरूप में नारी का सुचारु चित्रण किया है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और भवभूति--इन महामान्य कवियों ने भारतीय पत्नी की रूप-छटाका वर्णन वड़ी ही सुन्दर भाषा में किया है। भगवती जनकनन्दिनी के शील सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को उपशम तथा शान्ति नहीं प्रदान करती? जानकी का चरित्र भारतीय पत्नियों के महान् आदर्श का प्रतीक है। वाल्मीकीय रामायण के अनेक प्रसंग इस कथन के प्रमाण-भूत हैं। रावण के द्वारा वारंवार प्रार्थना करने पर सीता ने जो अवहेलना-सूचक वचन कहे हैं, वे भारतीय नारी का गौरव सदा उद्घोषित करते रहेंगे। वह कहती है कि 'इस निशाचर रावण से प्रेम करने की वात तो दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से--नहीं नहीं, बायें पैर से—भी नहीं छू सकती।

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥

(सुन्दर काण्ड ५।२६।१०)

रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता के चरित्र की विशुद्धि को सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिए अनेक कटुवचन कहे। उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन इतने मर्मस्पर्शी हैं कि

आलोचक का हृदय आनन्दातिरेक से गद्‌गद हो उठता है। भगवती सीता के ये कथन कितने मार्मिक हैं। वे कह रही हैं कि 'मनुष्य उसी वस्तु के लिये उत्तरदायी होता है, जिसपर उसका अधिकार होता है। मैं अपने हृदय की स्वामिनी हूँ। उसे मैंने अपने वश में रक्खा है। वह सदा आपके चिन्तन में निरत रहा है। अंगों पर मेरा काबू नहीं। वे पराधीन ठहरे। यदि रावण ने बलात्कार से उनका स्पर्श कर लिया तो इसमें मेरा अपराध ही क्या ?'

मदधीनं तु यत् तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरा॥

'मेरे चरित्र पर लाञ्छन लगाना कथमपि उचित नहीं है; मेरे निर्बल अंश को पकड़ कर आप ने आगे किया है, परन्तु मेरे चरित्र के सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश है—उसका नारीत्व, स्त्रीत्व और सबल अंश है—पत्नीत्व और पातिव्रत। नरशार्दूल! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, परन्तु क्रोधावेश में आकर आप का यह कथन साधारण पामर जन के समान है। मैं आप की हृदय से भक्ति करती हूँ। मेरा स्वभाव निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है कि आप जैसे नरशार्दूल ने मेरे स्वभाव को, मेरी भक्ति को तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया है, मेरा उपहास करने के लिये मेरे स्त्रीत्व को आगे रक्खा है।' कितने महत्त्वपूर्ण शब्द हैं ये सीता जी के—

त्वया तु नरशार्दूल क्रोधमेवानुवर्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्॥

कितनी ओजस्विता भरी है इन सीधे-सादे निष्कपट शब्दों में। अनादृता भारतीय ललना का यह उद्‌गार कितना हृदय-वेधक है! सुनतेही सहृदय व्यक्ति की आँखों में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं।

कालिदास की सीता

महाकवि कालिदास ने सीता के जिस चरित्र का विलास अपनी वैदग्ध्यमयी वाणी के द्वारा अभिव्यक्त किया है उसमें पारिजात की सुगन्ध है, मानव-चित्त को विकसित तथा विस्मय-स्थित कर देने की अद्भुत क्षमता है। प्रजा-पालन की वेदी पर भगवान् रामचन्द्र ने अपने जीवन-सर्वस्व की बलि देकर जो आदर्श उपस्थित किया है, वह हमारे राजवर्ग के लिए श्लाघनीय तो है ही; परन्तु उससे भी श्लाघ्यतर वह आदर्श है, जिसे परित्यक्ता जानकी ने अपने पतिदेव रामचन्द्र के प्रति प्रकट किया है। बीहड़ जंगल में लक्ष्मण जी विदेहनन्दिनी को छोड़कर जब जाने लगे, तब सीता ने रामचन्द्र जी को जो आत्मनिवेदन किया है, वह भारतीय नारी के गौरव, मर्यादा तथा त्याग का ज्वलन्त उदाहरण है। सीतापरित्याग रामराज्य की प्रतिनिधि घटना है। लोक-मंगल की वेदी पर आत्मसुख को बलिदान दे देना ही भारतीय नरेशों का आदर्श प्रजापालन-व्रत है और इस आदर्श की प्रतिष्ठा की स्वयं मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र ने।

प्रजा के अनुरञ्जन के लिये राम ने अपनी प्राणवल्लभा सीता को छोड़ने में न विलम्ब किया और न संकोच दिखलाया। गर्भ-भार से आक्रान्त सीता राजा राम के इस कार्य के औचित्य को अच्छी तरह समझ रही हैं, परंतु फिर भी उन्हें उलाहना देने में वह नहीं चूकतीं। वे लक्ष्मण से पूछती हैं कि 'क्या ऐसी विकट परिस्थिति में उनका परित्याग शास्त्र के अनुकूल है या इक्ष्वाकुवंश की मर्यादा के अनुरूप ?' परंतु फिर वह चेत जाती हैं कि 'राम कल्याणबुद्धि ठहरे अपने प्रिय-पात्रों के कल्याण की कामना करनेवाले हैं। वे मेरे लिये किसी अकल्याण वस्तु की क्या कभी कल्पना कर सकते हैं ? अतः मेरे ही प्राचीन पातकों का यह जागरूक फल है।' धन्य है सीता की पति-भक्ति ! पति की अवहेलना तो दूर रहे, वह स्वयं कर्मवाद के सिद्धान्त पर आत्म-तुष्टि प्राप्त कर रही हैं।

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रमेयः॥

अतः अपने पातकों को दूर करने का एक ही साधन है, और वह साधन है तपस्या। अतः मैं इसी तपस्या में अपने को संलग्न करने जा रही हूँ, जिससे मेरे पातक शीघ्र दूर हो जायँ। परंतु सीता की एक विषादभरी प्रार्थना है। राम राजा ठहरे। मैं ठहरी एक तापसी, एकाकिनी तपस्विनी। कृपया एक सामान्य प्रजा की दृष्टि से ही वे मेरा ध्यान रक्खें। यही अन्तिम निवेदन है—'तपस्विसामान्यमवेक्षणीया।' जनकनन्दिनी की इस प्रार्थना में कितना ओज भरा है, कितनी करुणा भरी है, कितना आत्मत्याग झलक रहा है। भारतीय नारी का यही त्यागमय जीवन है। पति के कल्याण तथा मङ्गल के निमित्त आत्मनिषेध या आत्मसमर्पण ही 'नारीत्व' है। पुरुष की पूर्ति नारी के संगम में है। नारी के बिना पुरुष का जीवन अधूरा है। बिना नारी के सहयोग के वह अपने पुरुषार्थ में कृतकार्य नहीं हो सकता। नारी पशु-प्रवृत्ति की प्रतीक नहीं है। वह तो दिव्य गुणों की प्रतिमा है, अलौकिक गुणों की मूर्ति है। इसीलिये हमारी तान्त्रिक पूजा में शक्ति या मुद्रा की महती उपयोगिता है।

गार्हस्थ्य जीवन

हमारा गार्हस्थ्य-जीवन भगवत्प्राप्ति का एक सोपानमात्र है। भगवान् की प्राप्ति अनुराग से सुलभ है। भक्ति ही उस प्रियतम के पाने के लिये एक सुगम राजमार्ग है। कहने में यह जितना सरल है, करने में यह उतना ही कठिन है। प्रेमतत्त्व एक दुरूह तत्त्व है, जिसे यथार्थतः जानना उतना कठिन नहीं है जितना उसका आचरण में लाना। गार्हस्थ्य-जीवन में हमें इसी प्रेम-तत्त्व की साधना सिखलायी जाती है। महाकवि भवभूति ने इस तत्त्व की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥

'यह प्रेम सुख में और दुःख में अद्वैत अर्थात् एकाकार रहता है। समग्र अवस्थाओं में अनुकूल रहता है। इससे हृदय को विश्राम मिलता है। बुढ़ापा इसके रस को—आनन्द को हरण नहीं कर सकता। समय के बीतने पर बाहरी आवरण के हट जाने पर यह परिपक्व स्नेहसार में स्थित रहता है। वही यह कल्याणकारी – भद्र प्रेम है और वह किसी ही भाग्यशाली पुरुष को प्राप्त होता है।'

इस प्रेम को भगवदर्पण कीजिये, प्रभु अवश्य मिलेंगे। अपने भक्तों को अपने क्रोड में रखने तथा उसके सङ्ग में आनन्द मनाने के लिये वह लीलामय सदा तत्पर रहता है, परंतु विषयरस के चाटने में ही जीवन बितानेवाला प्राणी उधर मुड़ता ही नहीं। जीव को भगवान् की ओर अनुरक्त करने का साधन है—नारी।

आलङ्कारिकों ने शब्दों के तीन प्रकार बतलाये हैं— (क) **प्रभु सम्मित शब्द**। राजा की आज्ञा के अनुरूप शब्द, जिनका अक्षरशः पालन न्याय्य होता है। किसी प्रकार चूके नहीं कि तलवार के नीचे गला पड़ा। यह शब्द वेद है। (ख) **सुहृत्सम्मित शब्द**। मित्र के हितोपदेश के समान शब्द, जिनमें उचित-अनुचित दोनों मार्ग दिखलाये जाते हैं। कोई जोर नहीं, जुल्म नहीं। मानना और न मानना आप के हाथ में—जैसे इतिहास-पुराण। (ग) **कान्तासम्मित शब्द**। प्रियतमा के कमनीय वचन के समान शब्द, जो रसमय होने से शीघ्र ही हृदय पर प्रभाव डालते हैं। उनका उपदेश इतना प्रभावशाली होता है कि आप उसे मानने के लिये बाध्य

हो जाते हैं--जैसे रसप्रधान काव्य। इस प्रकार साहित्य में 'नारी' का प्रभाव विशेष रूप से अभिव्यक्त माना गया है। वह शक्ति की मूर्ति है, प्रेम का अवतार है, अनुराग की वाटिका है, रस का उत्स है, हृदय-कली को विकसित करनेवाले प्रभात वायु का हिलोरा है; मानस में आनन्द लहरी उठाने वाला मन्द-मन्द प्रवाहित पवन है। संस्कृत-साहित्य ने नारी की शक्ति पहिचानी है और उसे उचित रूप से अभिव्यक्त भी किया है।

वालक की शील-सम्पत्ति

वालक राष्ट्र की सम्पत्ति है। राष्ट्र का विकास, विश्व की जातियों तथा देशों की श्रेणी में उसकी महनीय गणना वालकों के ही ऊपर आश्रित मानी जाती है। आज का वालक वनता है कल का प्रौढ़ युवक, जिसके समर्थ कंधों के ऊपर राष्ट्र का भार रक्खा जाता है। अपने राष्ट्र की संस्कृति का वह होता है—यथार्थ प्रतीक। नाना देशों में वह अपनी संस्कृति को जलते हुए मशाल की तरह अपने समर्थ हाथों में लेकर फैलाता है। अतएव वालक की शिक्षा-दीक्षा, आचार-व्यवहार के ऊपर प्राचीन काल से ही राष्ट्रनिर्माताओं की दृष्टि गड़ी हुई है। वे लोग इस दुर्वल हाड़-मांस के पुतले के भीतर अलौकिक शक्ति, अदम्य उत्साह तथा अश्रान्त परिश्रम का एक अक्षय भण्डार देखते हैं और इसीलिये उसे सुगढ़ वनाने की सुन्दर व्यवस्था उन्होंने वनायी है।

राष्ट्रीकरण

प्राचीन पाश्चात्य देशों में वालक का सर्वतोभावेन 'राष्ट्रीकरण' किया गया था। वालक व्यक्तिविशेष का सम्वन्धी न होकर समस्त समाज का, समग्र देश का, सम्पूर्ण राष्ट्र का निजस्व समझा जाता था। ग्रीस देश के 'स्पार्टा' नामक नगर-राष्ट्र में इस भावना का नितान्त उत्कर्ष देखा जाता है। स्पार्टा लोगों की दृष्टि में शारीरिक सम्पत्ति ही विशेष महत्त्व रखती थी। राष्ट्र का नागरिक वही व्यक्ति हो सकता था, जो शरीर के द्वारा पुष्ट तथा शीतोष्ण जैसे द्वन्द्वों की सहिष्णुता से सर्वथा सम्पन्न होता था। अतः स्पार्टन शिक्षा का मुख्य लक्ष्य रहता था—व्यायाम के सेवन से उत्पन्न शोभन वल-संवलित संगठित शरीर।

और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उत्पन्न होते ही बालक अपनी माता की प्रेमभरी गोदी से छीन लिया जाता था और नगरपिताओं की देख-रेख में वह रक्खा जाता था। यदि वह रोग का शिकार या दुबला-पतला जान पड़ता तो वह तुरंत बिना किसी मीन-मेष के, नितान्त निर्दयतापूर्वक भेड़ियों का भक्ष्य बनने के लिये छोड़ दिया जाता था अथवा जीते-जी किसी नदी में फेंक दिया जाता। जो इस परीक्षा में बच रहते थे, वे राष्ट्र की ओर से पाले जाते थे तथा नाना प्रकार के खेल-कूद तथा व्यायाम उन्हें सिखलाये जाते थे, जिनसे उनका शरीर कठिनाइयों के थपेड़ों को सहन करने के योग्य बन जाता था। ये सम्पूर्णरूपेण राष्ट्र की सम्पत्ति माने जाते थे। माता-पिता का अधिकार भी ऐसे बालकों के ऊपर नाममात्र का ही होता था। ऐसी शिक्षा का समुचित फल का भी दीखता था। यूनान के समस्त नगर-राष्ट्रों में स्पार्टा की महनीयता तथा प्रतिष्ठा का रहस्य इस बलिष्ठ कल्पना तथा इस विशिष्ट शिक्षण पर ही आश्रित था।

विश्व का नागरिक

बालकों की राष्ट्रीकरण प्रथा का यह चरम उदाहरण यूरोप में भी मान्य न हो सका; भारत की तो कथा ही न्यारी है। भारतवर्ष बालकों के भविष्य सुधारने में, उन्हें राष्ट्र का उत्तम नागरिक बनाने में, जीवन-संग्राम में सफल सैनिक निर्माण करने में सदा से कटिबद्ध रहा है, परंतु वह बालकों का राष्ट्रीकरण नहीं चाहता। वह चाहता है कि बालक अपने देश का उत्तम नागरिक होने के साथ विश्व का भी उप-योग्य तथा उपादेय प्राणी बने। आजकल राजनीतिक संसार में एक नव्य भावना का भव्य उदय हो रहा है, जिसका अंग्रेजी नाम है—Ore world idea विश्वैक्य की कल्पना। यह विशाल विश्व नाना देशों तथा नाना जतियों की समष्टि का एक उज्ज्वल उदाहरण है, जिसमें ये जातियाँ अपनी योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न कार्यों का सम्पादन करती हुई अपना विशिष्ट मार्ग अपनाये रहती हैं; परंतु

तात्त्विक दृष्टि से देखने पर जगत् का नानात्व भ्रामक है, एकत्व ही सत्य है। कोई भी राष्ट्र अन्य राष्ट्र की सहायता तथा सहयोग के बिना कभी पनप नहीं सकता। आधुनिक नवीनतम वैज्ञानिक आविष्कारों ने नवीन रेडर तथा रेडियो यन्त्रों ने इस विशाल संसार को एक क्षुद्र अल्पकाय द्वीप के रूप में परिवर्तित कर दिया है, जिसमें देश काल का व्यवधान अपना कोई मूल्य ही नहीं रखता। देशों तथा जातियों के अन्योन्याश्रित होने के कारण यह संसार परस्पर सम्बद्ध तथा अनुस्यूत राष्ट्रों का एक समष्टिमात्र है। अतः हमें केवल अपने राष्ट्र के मङ्गल की चिन्ता न कर समस्त संसार के हितचिन्तन की भावना से कार्य करने की आवश्यकता है।

पाश्चात्य देश में इस भावना का नवीन होने के नाते विशेष आदर तथा स्वागत किया जा रहा है; परंतु भारत इस सिद्धान्त का उद्भावक ही नहीं, प्रत्युत व्यवहारक्षेत्र में निर्वाहक भी था। इसी सिद्धान्त के आधार पर बालकों को शिक्षा देने की सुन्दर व्यवस्था हमारे प्राचीन आश्रमों में की जाती थी। अन्य देशों में जहाँ शिक्षा शिशु के भूतल पर अवतीर्ण होने के अनन्तर आरम्भ होती है, वहाँ भारतवर्ष में शिक्षण के आरम्भ का काल उसे गर्भस्थ होते ही शुरू हो जाता है। हमारे संस्कारों के महत्त्व का रहस्य इस विलक्षण घटना तथा कल्पना के भीतर छिपा हुआ है। बालकों की देख-रेख की व्यवस्था जितने सुचारुरूप से भारतवर्ष में की गयी थी उतनी अन्य देशों में नितान्त दुर्लभ है। भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकता के ऊपर आश्रित होते हुए भी भौतिक कल्याण की कभी उपेक्षा नहीं करती। ऐहिक कल्याण—'अभ्युदय' तथा पारलौकिक मङ्गल—'निःश्रेयस' का सम्पादन जिस भारतीय संस्कृति का प्रधान लक्ष्य रहा है, वह मानवों के व्यावहारिक जीवन की उपेक्षा करेगी, यह मानना किसी दुर्बुद्धि का ही कार्य है। आश्रम के वातावरण में गुरु इसी संस्कृति के व्यावहारिक रूपों का ज्ञान बालकों को इतने अच्छे ढंग से करा देता था कि वह गृहस्थाश्रम में दीक्षित होने पर राष्ट्र का सच्चा सेवक तथा देश का सच्चा नागरिक होता था।

'सभेयो युवा' के वैदिक आदर्श से कौन विज्ञ पुरुष अपरिचित होगा। वेद युवकों को सदा सभा में बैठने योग्य, शिष्ट तथा सभ्य बनने का उपदेश देता है। वेद हमारे व्यवहार की मधुरिमा का उतना ही पोषक है जितना अध्यात्म की गरिमा का।

धर्महीन शिक्षा

आजकल की धर्महीन शिक्षा हमारे बालकों पर [illegible]ना बुरा प्रभाव डालती जा रही है कि वह आचार से रहित होकर पश्चिमी रँगीली सभ्यता में रँगता चला जा रहा है। नवीन वातावरण की इस कार्य में कम सहायता नहीं। उच्छृंङ्खलता, संयम नियम की सर्वतोभावेन अस्वीकृति, गुरुजनों के सदुपदेशों की निर्मम अवहेलना, चरित्ररक्षा की ओर से घोर उपेक्षा, भौतिक जीवन के प्रति गहरी आसक्ति—आधुनिक भारतीय युवकों के जीवन का कच्चा चिट्ठा यो यही है। इन दुर्गुणों से अपने बालकों को मुक्त करना हमारा परम कर्तव्य है! अभी रोग विशेष घर किये नहीं है। उचित चिकित्सा करने पर वह भावी राष्ट्र-निर्माताओं से शीघ्र हटाया भी जा सकता है। अतएव हमारा पवित्र कर्तव्य होना चाहिये बालकों की शिक्षा का समुचित सुधार। यदि हमारे बालकों में हम एक ही गुण के उत्पादन में समर्थ हो जायँ, तो उनके चरित्र को सुधरते देर न लगेगी। इस व्यापक तथा श्लाघ्य गुण का नाम है - शील। शील की सम्पत्ति ही मानवों को भौतिक तथा आध्यात्मिक उभय दृष्टियों से समृद्धिशाली बनाती है। भारतीय संस्कृति का यही प्राण है - शील। बौद्धों के रत्नत्रय में प्रथम रत्न है—यही शील। शील के सम्पादन करने पर ही दूसरे रत्नों—समाधि तथा प्रज्ञा का जन्म होता है।

'शील' का लक्षण

शील का व्यापक लक्षण हमें महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय १२४) में उपलब्ध होता है। शील की कसौटी क्या है? शील के रूप

जानने का हमारे पास साधन क्या है ? इस प्रश्न की सुन्दर मीमांसा करता है महिमामय महाभारत ।

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन ॥
तत्तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि ।
शीलं समासेनैतत् ते कथितं कुरुसत्तम ॥
(अध्याय १२४ । ६७-६८)

'अपना जो काम तथा जो पुरुषार्थ दूसरे के लिये हितकारक न हो तथा जिसके करने से स्वयं लज्जा का बोध हो, उस कार्य को कभी किसी प्रकार भी न करना चाहिये । वही कर्म, उसी रूप में करना चाहिये जिससे कर्ता पुरुष संसद् में, सभा में, समाज में प्रशंसा का पात्र बनता है । संक्षेप में शील का यही रूप है ।' शील का यह भव्य रूप बड़ा ही उदात्त, कमनीय तथा विशाल है । परहित की भावना शील में उतनी ही आवश्यक है जितना निन्दनीय कर्म करने में लज्जा का बोध । समाज में श्लाघा, चित्त में प्रसाद, हृदय में संतोष, मन में शान्ति—शील के व्यापक प्रभाव के सूचक होते हैं । अपने हृदय पर हाथ रखकर देखिये, जिस कार्य के सम्पादन से हृदय में लाज लगती है, दूसरों के सामने अपने को दिखलाने से जी भागता है, समझ रखिये वह शील नहीं है, वह पाप है जो आपको तथा समाज को विपत्ति के गड्ढे में गिरा देगा ।

विश्वबन्धुत्व के ऊपर आश्रित भारतीय संस्कृति के अनुसार प्राणियों को मन से, वचन से, कर्म से कथमपि द्रोह न करने, प्रत्युत अनुग्रह करने तथा दान देकर उन्हें सहायता पहुँचाने से बढ़कर महत्त्वशाली कार्य कोई हो ही नहीं सकता । इसलिये शील के व्यावहारिक रूप का संकेत इस पद्य में भलीभाँति किया गया है—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥
(अ० १२४ । ६६)

इस शील की उपासना भारतीय बालकों में जिस दिन से आरम्भ होगी, उसी दिन से यह देश जीवन की सच्ची होड़ में निश्चय ही सबसे आगे बढ़ता जायगा। याद रखिये, यही शील धर्म, सत्य, वृत्त, बल तथा लक्ष्मी का निकेतन होता है। शील के सम्पादक के पास ये पाँचों पदार्थ अनाहूत अतिथि के समान स्वयं उपस्थित होकर उसके कल्याण तथा मङ्गल-साधन में लग जाते हैं। अतः हम बालकों को शील की ओर सर्वदा अग्रसर करें। यह तभी साध्य है जब हम स्वयं ही शील के महत्त्व से परिचित होकर शील की सम्पत्ति कमावें।

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथा रमा।
शीलमूला महाप्राज्ञ! सदा नास्त्यत्र संशयः॥

भारत में तपोवन

तपोवन भारतीय संस्कृति का एक अविभाज्य अङ्ग है। भारतीय संस्कृति से यदि तपोवन को हटा दिया जाय तो वह एकदम भौतिक, नीरस तथा शुष्क प्रतीत होने लगेगी। प्राचीन भारत में तपोवन का नितान्त प्राचुर्य था। जहाँ मानव प्रकृति के साथ घुल-मिलकर एकरस जीवन बिताता था और जहाँ वह भूतल पर रह कर भी दिव्य आनन्द का अनुभव करता था। यज्ञ हमारे धर्म का एक महनीय अनुष्ठान है। इस जगतीतल पर मानव तथा देवता दोनों में एक दृढ़ मैत्री-बन्धन का सर्वश्रेष्ठ उपाय यही यज्ञ ही है। यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपनी सब से प्यारी वस्तु को देवताओं को समर्पण कर अपने को कृतकृत्य मानता है और देवगण भी यज्ञ के द्वारा आप्यायित होकर मानवों के कल्याण साधन में निरत रहते हैं। इसी प्रकार तपस्या के द्वारा प्राणी अपनी चारित्रिक त्रुटियों को, दोषों को तथा मलिनताओं को दूर भगा कर अपना जीवन समुन्नत बनाता है और उसे अपने देश तथा अपनी जाति के अभ्युत्थान में लगाता है। तपोवन यज्ञ तथा तपस्या का क्रीडास्थल है। उसका भौगोलिक तथा भौतिक रूप जितना पवित्र तथा सुन्दर होता है, उसका आध्यात्मिक रूप भी उतना ही शुचि तथा कमनीय होता है।

तपोवन का वायुमण्डल आध्यात्मिकता का उदय करता है। तपोवन का यह चित्र अपने मानस पटल पर अङ्कित कीजिये। कलकल निनादिनी कल्लोलिनी के कूल पर तापसों का निवास है, जहाँ जंगल के पशु अपने स्वाभाविक वैर-भाव को भुला कर परस्पर प्रीति से एक दूसरे

के साथ हिल-मिल कर रहते हैं। मृगशावक अपनी माता की गोदी को छोड़ कर ऋषियों की गोदी में बैठ अपना जीवन यापन करते हैं और जिनके कुश की तेज नोक से छिद जानेवाले मुख की पीड़ा को इंगुदी का तेल लगा कर ऋषि लोग दूर किया करते हैं। आश्रम में सायं-प्रातः अग्निहोत्र के धूम से वृक्षों के कोमल पत्ते धूमिल बनकर विचित्र शोभा धारण करते हैं। कुशासन पर आसीन ब्रह्मचारिगण वेदाध्ययन करते हैं और अपने कोमल कण्ठ से साम का गायन कर आश्रम में अद्भुत माधुर्य तथा सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। ऋषिगण अपनी पत्नी तथा कन्याओं के साथ गार्हस्थ्य जीवन में रहकर भी वानप्रस्थी के समान जीवन बिताते हैं। परोपकार ही उनके जीवन का एकमात्र व्रत होता है; प्राणिमात्र के कल्याण की वेदी पर उनका जीवन समर्पित होता है। ये लोग अपनी क्षुद्र कामनाओं की सिद्धि के लिये न तो सचेष्ट हैं और न किसी को उपदेश देते हैं। ये सूक्ष्म दृष्टि से प्राणियों की त्रुटियों तथा दोषों को देखते हैं तथा उनके निराकरण करने के लिये सदा जागरूक रहते हैं। नगर से दूर रहने पर भी वे नगर के पास हैं। क्षुद्र स्वार्थ के सम्पादन के स्थान पर इस विशाल विश्व का सच्चा मङ्गल अपनी वाणी के द्वारा तथा अपने नित्यप्रति सदाचार के द्वारा साधन करना ही उनका महनीय व्रत है—

> अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
> उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

आश्रम

संस्कृत के महाकाव्यों में तपोवन के सच्चे रूप का परिचय हमें मिलता है। वाल्मीकि तथा व्यास, कालिदास तथा भवभूति, बाण तथा दण्डी ने एक स्वर से तपोवन के स्वरूप का गुणगान किया है। तपोवन का रमणीय चित्र महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों तथा नाटकों में सर्वत्र प्रदर्शित किया है। शाकुन्तल के आरम्भ में आश्रम की यह छवि कितनी स्निग्ध, कितनी सुन्दर तथा कितनी मधुर है—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥

'तपोवन के वृक्षों के खोखलों में तोतों के बच्चे आराम कर रहे हैं। सुग्गों ने नीवार के दानों को अपने बच्चों के मुँह में डाल रक्खा है, जिससे कुछ दाने वृक्षों के नीचे गिरे हुए हैं। इंगुदी के फलों को तोड़ने के कारण पत्थर चिकने दीखते हैं। सहज विश्वास के उत्पन्न होने से मृग शब्दों को सुनकर भी ज्यों-के-त्यों खड़े रहते हैं, किसी प्रकार हटने का नाम नहीं जानते। सरोवर को जानेवाले मार्ग वल्कल-वस्त्र से चुये हुए जल की रेखाओं से अङ्कित हैं।'

ऋषि की पत्नियों का प्रेम मृगों तथा पक्षियों के साथ कितना सहज स्वाभाविक तथा मधुर है—

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गणभूमिषु ॥

'मुनि की कन्याओं ने पौधों को स्वयं जल से सींच दिया है। पेड़ों पर बैठे हुए पक्षी वृक्षों के आलवाल में पानी पीना चाहते हैं। इसीलिये उनके हृदय में विश्वास जमाने के लिये इन मुनि-कन्याओं ने इन पौधों को छोड़ दिया है। ऋषि की कुटियों की शोभा निराली है। ग्रीष्म के बीत जाने पर ऋषियों ने नीवार को काटकर अपने आँगनों में इकट्ठा किया है। इनमें बैठकर मृग जुगाली कर रहे हैं।' ऐसे सुन्दर वातावरण में ही सहज स्नेह का उदय होता है।

महाकवि बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी में तपोवन का, जाबालि मुनि के आश्रम का, इतना चटकीला वर्णन किया है कि अपनी स्वाभाविक पवित्रता से मण्डित तपोवन हमारे नेत्रों के सामने झूलने लगता

है। तपोवन के प्राणिमात्र में इतने नैसर्गिक प्रेम तथा सद्भावना का अस्तित्व रहता है कि मानव तथा पशु की विभेदक रेखा भी दीख नहीं पड़ती, तभी तो हम वंदरों को आश्रम के वुड्ढे-अन्धे तापसों को छड़ी पकड़ कर वाहर ले जाने और अंदर ले जाने का काम करते हुए पाते हैं। इस प्रकार भारतीय कविजनों ने अपने काव्यों में तपोवन के सच्चे स्वरूप को अभिव्यक्त करने का पूर्ण प्रयास किया है।

आध्यात्मिक मूल्य

तपोवन भारतीय संस्कृति के प्रधान पीठ हैं। आध्यात्मिकता के आगार, नैतिकता के निकेतन, सात्त्विकता के शुभसदन भारतीय तपोवन हमारी आध्यात्मिक संस्कृति के कमनीय क्रीडा-स्थल हैं। तपोवन के अञ्चल में हमारी संस्कृति जनमी और पनपी। भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का पाठ विश्व को जिन ऋषियों ने पढ़ाया, उनका जीवन तपोवन में ही समृद्ध तथा विकसित हुआ था। पाश्चात्य-संस्कृति भोग की भावना पर आश्रित है, वहाँ हमारी संस्कृति त्याग की भावना पर प्रतिष्ठित है। उपनिषद् डंके की चोट पुकार कर विश्व का अपना संदेश दे रहा है—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

'इस जगतीतल पर जंगम तथा स्थावर जितने भी जीव निवास करते हैं, उनमें अनुग्रह तथा निग्रह करने में समर्थ ईश्वर अन्तर्यामी रूप से वास करता है। किसी दूसरे धन की लिप्सा न रक्खो। अपने धन को भी त्याग के साथ भोगो।'

भारतवर्ष आध्यात्मिक साम्यवाद का प्रथम उपदेशक है। वह नहीं चाहता कि मानव अपनी उपार्जित सम्पत्ति का उपयोग अपने ही क्षुद्र स्वार्थ के लिये, अपने ही भरण-पोषण के लिये करे, प्रत्युत वह औदार्य तथा साम्य की शिक्षा देकर वतलाता है कि इस विश्व का प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की संतान होने से भाई-भाई हैं। अतः अपनी कमाई में उसका

भी अंश अवश्यमेव विद्यमान रहता है। श्रीमद्भागवत के कथनानुसार जितने से अपना उदर भर जाय, बस, मनुष्य का उतना ही स्वत्व है, सम्पत्ति के ऊपर उतना ही अधिकार है। उससे अधिक पर अपना अधिकार जमानेवाला व्यक्ति चोर है और वह समाज के हाथों में दण्ड का भाजन है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

आध्यात्मिक साम्यवाद के सिद्धान्त की कितनी संक्षिप्त परंतु भव्य घोषणा है इस लघुकाय श्लोक में। अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठा पीठ पर ही सच्चा साम्यवाद का प्रासाद खड़ा हो सकता है। मनुष्यों के पारस्परिक भ्रातृभाव की ही शिक्षा तपोवन से नहीं मिलती, प्रत्युत प्राणिमात्र के प्रति सहज मैत्री तथा सरल सहानुभूति का उपदेश हमें इन्हीं से प्राप्त होता है।

ऐतिहासिक दृष्टान्त

यह कम महत्वपूर्ण घटना नहीं है कि रघु का जन्म महाराज दिलीप के आश्रम निवास तथा गो-सेवा का परिणत फल है। रघु के जीवन की उदारता देखकर कौन चकित नहीं हो जाता? भला, ऐसा आदर्श महीपति भी किसी पाश्चात्य राष्ट्र के सिंहासन पर बैठा है? महर्षि वरतन्तु का शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के निमित्त धन-संग्रह के लिये रघु के पास पहुँचता है। सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ में महाराज रघु ने अपना सर्वस्व लुटा दिया है। केवल मिट्टी का बरतन ही बच रहा है; परंतु महर्षि वसिष्ठ के आथर्वण प्रयोगों के फलस्वरूप रघु का भाण्डार असंख्य निधियों से भर जाता है। महाराज रघु अपने खजानों की समस्त सम्पत्ति को उठा ले जाने के लिए आग्रह करता है, परंतु अपनी प्रतिज्ञात गुरुदक्षिणा से अधिक एक कौड़ी भी कौत्स नहीं छूता। अयोध्यापुरी की जनता ऐसे आदर्श दाता तथा ऐसे आदर्श याचक के चरित्र को देखकर आश्चर्य से चकित हो जाती है।

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी
नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥

महर्षि कौत्स भारतीय तपोवन का एक छात्र था और महाराज रघु भारतीय आश्रम के प्रभाव से जन्म लेनेवाला एक राजन्य था। आश्रम के पुनीत वातावरण को छोड़कर ऐसी निःस्वार्थ भावना का उदय क्या कहीं अन्यत्र हो सकता है? गीता के द्वारा उपदिष्ट निष्काम कर्मयोग का सच्चा साधन क्या आश्रम को छोड़कर अन्यत्र कहीं परिनिष्ठित हो सकता है? नहीं, कहीं नहीं। आज कल इन तपोवनों की बड़ी आवश्यकता है। असंख्य नरों का संहार, अपरिमित धन का स्वाहाकार, दीन दुःखी अबलाओं का हाहाकार, निर्धनों तथा निर्बलों की उपेक्षा कर धनिकों का असंख्य धनका संग्रह—आज की भौतिकवादी सभ्यता के ये ही तो जीते जागते फल हैं। जब तक भारत की इन तपोवनों में पली आध्यात्मिक संस्कृति का प्रचार न होगा, परस्पर भ्रातृभाव का उदय न होगा, तब तक मानवों की इस दानव-प्रवृत्ति का अन्त क्या कभी सम्भव है? आज की नागरिक संस्कृति में सच्चे तपोवन को तो भली-भाँति लाया जा सकता है। इस प्रकार जीवन को आध्यात्मिक भावना से पूर्ण करने का, परोपकार की वेदी पर क्षुद्र स्वार्थों के बलिदान का, परस्पर मैत्री तथा सहानुभूति का सुंदर संदेश हमें भारत के तपोवन आज भी दे रहे हैं। जिस विश्वकल्याणसाधक धर्म का वर्णन महर्षि वेदव्यास ने इस पद्य में किया है उसका प्रचारक तथा उपदेशक हमारा आदरणीय आश्रम ही है—

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः ।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवात्मभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥

हमारे उत्सव

(१) विजयादशमी

आज विजयादशमी है आज ही के दिन मर्यादापुरुष रामचन्द्र ने लंकाधिपति रावण के ऊपर विजय प्राप्त किया था। आज अन्याय के ऊपर न्याय की, अन्धकार के ऊपर आलोक की, अत्याचार के ऊपर शान्ति की तथा हिंसा के ऊपर अहिंसा की दुन्दभि बजी थी। इसलिये आज का दिन मानवता के इतिहास में एक अविस्मरणीय तिथि है। इसी संघर्ष को केन्द्र मानकर लिखित काव्य रामायण के नाम से अभिहित किया जाता है। तीन विशिष्ट ग्रन्थों में यह दिव्य चरित्र तीन दृष्टियों से वर्णित है। वाल्मीकीय रामायण कर्म-प्रधान है, अध्यात्म रामायण ज्ञान-प्रधान है। गोसाईं तुलसीदास की रामचरित मानस भक्ति-प्रधान है। कथानक में विभिन्नता नहीं है, परन्तु दृष्टि की विभिन्नता के कारण चरित्र चित्रण में निश्चय रूप से वैशिष्ट्य है। हम वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण से रामचरित्र के वैशिष्ट्य प्रदर्शक कुछ अंशों को मूल संस्कृत की हिन्दी व्याख्या के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं।

वाल्मीकि की दृष्टि में मानव जीवन में सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है चरित्र और इसी चरित्र से युक्त व्यक्ति की खोज करने पर नारद जी ने वाल्मीकि को इक्ष्वाकुवंशीय रामचन्द्र को सबसे श्रेष्ठ आदर्श मानव बतलाया। वाग्ब्रह्म को साक्षात् करने वाले अनुष्टुप् छन्द के प्रथम अवतार के कारणभूत आदिकवि वाल्मीकि की परिणत प्रज्ञा का फल है यह वाल्मीकि रामायण। मानव समाज, मानव व्यवहार तथा मानव

सद्गुणों की पराकाष्ठा का पूर्ण निर्वाह हम राम के जीवन में पाते हैं। राम शारीरिक सुषुमा तथा मानसिक सौन्दर्य—दोनों के जीते जागते प्रतीक थे। राम के सौन्दर्य के वर्णन में वाल्मीकि कह रहे हैं:—

> न हि तस्मान्मनः कश्चित् चक्षुषी वा नरोत्तमात्।
> नरः शक्नोत्यपाकष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे॥
> यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
> निन्दितः स भवेत् लोके स्वात्माप्येनं विगर्हते॥
>
> रामा० अयोध्या १७।१३, १४

रामचन्द्र की अलौकिक सुषुमा का अनुमान इसी घटना से लगाया जा सकता है कि राम के अत्यन्त दूर चले जाने पर कोई भी मनुष्य न तो अपने मन को उनसे खींच सकता था और न अपने दोनों नेत्रों को। जो राम को नहीं देखता और जिसे राम नहीं देखते—ये दोनों संसार में निन्दा के पात्र बनते हैं। इतना ही नहीं उनका अपना आत्मा भी उन्हें निन्दा करता है। उनका आत्मा अपने को ही काटता है कि हाय! हम ऐसे अभागे निकले कि उस राघवेन्दु को अपने नेत्रों से देखकर न तो अपने को धन्य बनाया, न अपने जीवन को सफल बनाया। सचमुच 'रामदर्शन' के बिना जीवन निष्फल है। सफलता की कुंजी 'रामदर्शन' में ही सन्निहित है!

रामचन्द्र के दिव्य गुणों की यह झाँकी कितनी मधुर तथा सुन्दर है:—

> स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं प्रभाषते।
> उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥
> कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
> न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥
> बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
> वीर्यवान् न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः॥

न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः ।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्युरज्यते ॥
(२।१।१०—१४)

रामचन्द्र सदा शान्त-चित्त रहते थे। वे बड़ी कोमलता तथा मृदुता के साथ बोलते थे। उनसे कोई कितना भी रूखा क्यों नहीं बोले, वे कभी भी कड़ा और रूखा उत्तर नहीं देते थे। किसी प्रकार किये गए एक भी उपकार से वह तुष्ट हो जाते थे, परन्तु सैकड़ों भी अपकारों को कभी स्मरण नहीं करते थे। किसी भेंट होने पर भी वही पहिले बोलते थे और सदा मीठा बोलते थे। अत्यन्त वीर्यशाली थे, परन्तु इसके कारण उन्हें गर्व छूकर भी नहीं था। वे कभी झूठी बातें नहीं कहते थे। 'रामोद्विर्नाभिभाषते' = राम किसी वस्तु दो बार नहीं कहते थे, एक बार जो कह दिया सो कह दिया—वह अमिट हो गया। और उसका पालन उनके जीवन का व्रत बन जाता था। प्रजाओं के साथ उनका सम्बन्ध बड़ा मीठा था। आसक्ति उभयमार्गी थी। राम का अनुराग प्रजाओं के लिये वैसा ही था जैसा उनका राम के लिये था।

इन गुणों का अनुशीलन किसी भी व्यक्ति को मानवता के ऊँचे पद पर पहुँचाने तथा प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। व्यक्ति के लिये मृदुभाषी होना, सत्य वचन होना तो आवश्यक है ही, परन्तु राम में वाल्मीकि ने एक विलक्षण गुण की सत्ता बतलाई है। वह है उपकार की स्मृति तथा अपकार की विस्मृति। हम लोग इतने कंजूस हैं, व्यवहार में इतने कृपण हैं कि अपने उपकारी के प्रति कभी भी प्रेम-भावना नहीं रखना चाहते। परन्तु रामचन्द्र के इस उदार हृदय, विशाल चित्त तथा महनीय आशय का पूर्ण परिचय उसी एक वाक्य से चलता है जिसे उन्होंने सीता की सुधि लानेवाले, अलौकिक उपकार करनेवाले हनुमान जी से कहा था।

जनकनन्दिनी का संदेश सुनकर विह्वलचित्त होकर राम ने यह वचन कहा था—

मय्येव जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं हरे।
नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकाङ्क्षति ॥

हे कपिकुल नन्दन, आपने जो मेरे साथ उपकार किया है वह मेरे में ही जीर्ण हो जाय, गलकर पच जाय, बाहर अभिव्यक्ति का कोई अवसर ही न आवे। क्योंकि प्रत्युपकार करनेवाला व्यक्ति अपने उपकारी के लिये विपत्ति की कामना करता है जिससे उसे अपने प्रत्युपकार के लिए उचित अवसर मिले। कितनी उदात्त है वाल्मीकि की यह सूक्ति और कितना उदार है राम का हृदय। वह कभी सोचते भी नहीं हनुमान के ऊपर विपत्ति आवे जिससे उनके साथ प्रत्युपकार करने का कभी अवसर आवें।

मित्र धर्म का पूर्ण निर्वाह राम के जीवन में हमें उपलब्ध होता है। एक बार जिसे उन्होंने अपना मित्र बना लिया, उसके लिये सर्वस्व का त्याग भी न्याय होता है। राम के वचन हैं:—

आढ्योऽपि वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा।
निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमा गतिः ॥
धनत्यागः सुखत्यागो देहत्यागोऽपि वा पुनः ॥
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम्।

किष्किन्धा ८।९–१०

इसी मित्रता के निर्वाह के लिये राम के चरित्र में एक दोषाभास भी दीखता है जिसे राम चरित के आलोचकों ने बड़ा ही तूल दिया है। इसका सम्बन्ध है वालिवध से। वाल्मीकि के अनुसार राम ने सुग्रीव से प्रतिज्ञा की कि मैं आज ही वालि को मारूँगा और सो भी एक ही बाण से।

अमोघाः सूर्य-संकाशा ममैवेते निशिताः शराः।
तस्मिन् वालिनि दुर्वृत्ते निपतिष्यन्ति वेगिताः ॥
तमद्य वालिनं पश्य क्रूरैराशीविषोपमैः।
शरैर्विनिहतं भूमौ विकीर्णमिव पर्वतम् ॥

किष्किन्धा० ५।२०–२१

यहाँ पर राम ने आज ही वाली को मार डालने की प्रतिज्ञा की और अभी आगे चलकर वे बाणों के विषय में बहुवचन छोड़कर एक वचन पर आ जाते हैं। फलतः एक ही बाण से आज ही बाली का संहार करना राम को अभीष्ट था, कुछ उसके साथ लड़ना नहीं था। वाली का पराक्रम रावण की अपेक्षा कहीं अधिक घोर तथा महान् था। जिस रावण के मारने में राम को अनेकों दिन व्यवसाय करना पड़ा, उससे भी अधिक बलशाली वाली का निधन क्या एक दिन में लड़ाई के द्वारा किया जा सकता था? कभी नहीं। इसीलिये राम को वह युक्ति करनी पड़ी जिसके लिये उनका नाम बदनाम किया जाता है।

वस्तुतः मित्रत्व की वेदी पर राम के सर्वस्व त्याग का यह शंख निनाद है। अध्यात्म रामायण (किष० अध्याय २) की स्पष्ट उक्ति है—

> किन्तु लोका वदिष्यन्ति मामेवं रघुनन्दनः।
> कृतवान् किं कपीन्द्राय सत्यं कृत्वाग्नि साक्षिकम्॥
> इति लोकापवादो मे भविष्यति न संशयः।
> तस्मादाहूय भद्रं ते गत्वा युद्धाय वालिनम्॥
> बाणेनैकेन तं हत्वा राज्ये त्वामभिषेचये॥

इस प्रकार दोनों रामायणों का अनुशीलन हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि बालीवध की घटना रामचरित्र की एक महनीय घटना है। सच्ची मैत्री का इससे बढ़कर सुन्दर निदर्शन अन्यत्र कहाँ मिल सकता है?

रामचन्द्र की दृष्टि में शौर्य का आदर्श-विधान वाल्मीकि ने प्रस्तुत किया है वह वस्तुतः संसार में एक श्लाघनीय वस्तु है। बड़ी खोज तथा घनी प्रतीक्षा के अनन्तर रावण राम के दृष्टिपथ में आया। आते ही राम ने उसकी भर्त्सना करना आरम्भ किया—

> मम भार्या जनस्थानादज्ञानाद् राक्षसाधम।
> हृता ते विवशा यस्मात् तस्मात् त्वं नासि वीर्यवान्।

मया विरहितां दीनां वर्तमानां महावने।
वैदेहीं प्रसभं हृत्वा शूरोऽहमिति मन्यसे॥
स्त्रीषु शूर विनाथासु परदाराभिमर्शक।
कृत्वा कापुरुषं कर्म शूरोऽहमिति मन्यसे॥
भिन्नमर्याद निर्लज्ज चारित्रेष्वनवस्थितः।
दर्पान्मृत्युमुपादाय शूरोऽहमिति मन्यसे॥

(युद्ध १०५।११-१४)

शूरता की यही सच्ची कसौटी है—स्त्रियों का आदर, मर्यादा का पालन, निर्लज्ज कार्य कलापों से उपराम तथा शुभ चरित्र का व्यवस्थित रूप से पालन। रावण में इन सबका एकदम अभाव था। इसीलिये तो वह अन्याय तथा अधर्म का प्रतीक माना जाता है। पराक्रमी शत्रु से चित्र विचित्र युद्ध के परिणाम रूप ही राम ने रावण पर विजय पाया। रावण कोई साधारण शत्रु न था। कैलास को उखाड़ने-वाला, ब्रह्मा को परास्त करनेवाला तथा देवताओं से भी अपनी सेवा कराने वाला रावण कोई सामान्य मानव न था। जगत् को अपने घोर कार्यों से रुलाने के कारण ही तो वह 'रावण' कहलाता था। ऐसे शत्रु को मारकर राम ने उसके साथ जो सद्व्यवहार किया वह शूर जगत् की एक आलोकसामान्य घटना है।

रावण की मृत्यु पर शोक करते हुए विभीषण ने ठीक ही कहा—

गतः सेतुः सुनीतानां गतो धर्मस्य विग्रहः।
गतः सत्त्वस्य संक्षेपः प्रस्तावानां गतिर्गता॥
आदित्यः पतितो भूमौ मग्नस्तमसि चन्द्रमाः।
चित्रभानुः प्रशान्तार्चिर्व्यवसायो निरुद्यमः।
अस्मिन् निपतिते भूमौ वीरे शस्त्रभृतां वरे॥

युद्ध ११२।५-८

रावण का यह नितान्त यथार्थ चरित्र चित्रण है। रावण की मृत्यु भूमि पर गिरने वाले आदित्य, अन्धकार में धँसे हुए चन्द्रमा,

शान्त ज्वाला वाले अग्नि तथा उद्यमहीन उत्साह के समान है। राम ने रावण की उचित प्रशंसा की तथा उसमें वर्तमान गुणों के महत्त्व को समझाया। और अन्त में अपने विशाल हृदय की भव्य भावना को बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥

मरण ही वैर की समाप्ति है। रावण के मर जाने पर हमारा प्रयोजन सम्पन्न हो गया। अब इसका उचित दाह-संस्कार करो। जैसे यह तुम्हारा है, वैसे ही यह मेरा भी है। शत्रु के प्रति इतनी उदार भावना रखना तथा तदनुसार व्यवहार करना युद्ध के इतिहास में अश्रुतपूर्व घटना है।

विजया दशमी ऐसे ही आदर्श गुण-गण-सम्पन्न मर्यादा-पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र जी के विजय का दिन है। शान्त चित्त से हम आज के शुभ सन्देश पर विचार करें और अपने जीवन को 'रामचरित्र' का अनुशीलन करते हुए धन्य बनावें। यही मेरी मंगल-कामना है।

(२) दीपावली

हमारी मातृभूमि के इतिहास में आज का दिन सबसे बड़े सौभाग्य का दिन है। आज हम स्वतन्त्रता के द्वार पर ही नहीं खड़े हैं बल्कि स्वतंत्रता के मन्दिर में प्रवेश कर चुके हैं। आज हम स्वतंत्र हैं। दबाव डालने वाला विदेशी जुआ हमारे कंधों से हट गया है। हमारी रीढ़ आज सीधी हो गई है। इस स्थिति में हमारा यह दीपावली का त्योहार, सौंदर्य और सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी का पूजा-उत्सव एक विशेष राष्ट्रीय पर्व का महत्व रखता है। शतियों से हम इसे त्रस्त और पीड़ित रूप में मानते चले आ रहे हैं किन्तु आज प्रथम बार हम इसे स्वतंत्र वातावरण में मनाने जा रहे हैं।

हिन्दू संस्कृति का आधार

दुर्भाग्य से हम लोग विदेशी आलोचकों की अपरिचयात्मक और आधारहीन आलोचनाओं के कारण अपने दर्शन और अपनी संस्कृति से अब तक अनभिज्ञ से रहे हैं। उन्होंने हम लोगों को अज्ञात भविष्य की ओर अधिक उन्मुख और वर्तमान से विमुख स्वप्नदर्शी मात्र बताया है; किन्तु यह हमारे बहुमुखी संस्कृति की एक आंशिक व्याख्या मात्र है। अगर हम स्वप्नदर्शी भी हैं तो हमारे स्वप्न स्वस्थ, सुन्दर और महान हैं; हमारे विचार उच्च और उत्थान करने वाले हैं। यह भी स्पष्ट कर देना उचित है कि हम केवल स्वप्नदर्शी ही नहीं, वरन् कलात्मक सृष्टि के स्रष्टा भी हैं। ये विदेशी आलोचक, जो हिंदू संस्कृति, दर्शन, कला एवं विज्ञान से पूर्णतया अपरिचित हैं हमारी संस्कृति तथा हमारे वैदिक धर्म की आधारभूत मौलिकता और उसके सिद्धान्त की व्यापकता के समझने में सर्वथा असमर्थ हैं—जैसा महान् दार्शनिक कणाद ने कहा है कि धर्म भौतिक सुख-साधन और आध्यात्मिक उन्नति दोनों को सिद्ध करने वाला है:—

यतोऽभ्युदय - निःश्रेयस - सिद्धिः स धर्मः

(वैशेपिक सूत्र १. ३. २)

हिन्दू संस्कृति समस्त मानवता के लिए भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति के समन्वयात्मक तत्वों से निर्मित हुई है। न वह अपने दृष्टिकोण में संकीर्ण, संकुचित है और न अपने भौतिक लाभ में आत्मलीन। एक प्राचीन लोकोक्ति है:—

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः,
यो ह्येक सक्तः स नरो जघन्यः।

धर्म, धन और कामना का सुसंयमित संचय मनुष्य को करना चाहिए। वास्तव में वह व्यक्ति नराधम है, जो जीवन के इन आवश्यक उपादनों में से किसी एक विशेप पर विशेप आसक्ति दिखलाता है।

हिन्दू धर्म, धन और कामना तथा गुण और करुणा को समन्वित करता चलता है।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ (गीता ६. २)

काम और अर्थ दोनों उच्च जीवन की प्रेरक शक्तियाँ हैं, इसे सदा स्मरण रखना होगा; किन्तु उनकी प्राप्ति का साधन पवित्र और धर्म सम्मत होना अनिवार्य है। हिन्दू धर्म और संस्कृति की आधारभूत विशेषता के प्रदर्शन में दीपावली का प्रमुख स्थान है। यह वैदिक धर्म के उस परम मार्ग का स्पष्टीकरण करती है, जो मनुष्य को आध्यात्मिकता का उन्नयन करता हुआ भी उसकी भौतिक उन्नति की उपेक्षा भी नहीं करता। यह अनेक प्रमाणों से प्रमाणित है कि वैदिक ऋषि कवि वर्ड्सवर्थ के स्काईलार्क की तरह होता है जो अपनी बुद्धिमानी से खूब ऊँची उड़ान तो भरता है, आकाश को छान डालता है किन्तु कभी भटकता नहीं क्योंकि वह आकाश और अपने नीड़ दोनों से भली भाँति परिचित है। हिन्दी में एक कहावत है—'कितनौ चिड़िया उड़े आकाश, दाना है धरती के पास।'

त्योहार

दीपावली का अर्थ होता है—दीपों की पंक्ति। लक्ष्मी पूजा के लिए प्रज्ज्वलित की गयी दीप-पंक्तियों को ही लेकर इसका नाम दीपावली पड़ा है। यह पूजा कार्तिक माह की अमावस्या की रात में की जाती है। इसी को हिन्दूमात्र अपने त्योहार के रूप में ग्रहण करता है। यह समय ऐसा है जब वर्षा ऋतु समाप्त होती है और शरद ऋतु का प्रारंभ होता है। शरद् ऋतु को शान्ति और आनन्द का दूत माना गया है। वस्तुतः जनता और साहित्यकार दोनों ही इस समय प्रसन्न-चित्त होकर एक दूसरे को अभिनन्दित करते हैं, आनन्द मनाते हैं और बहुत से जलसे करते हैं। दीपावली का त्योहार आनन्दोत्सवों मे प्रमुख है क्योंकि इसे रोग का नाशक तथा आनन्द का वर्धक माना जाता है। इस त्योहार

को राजा-रंक सभी समान उत्साह के साथ मनाते हैं। यदि राजभवन इस दिन दीपों के प्रकाश से जगमगा उठता है तो गरीब श्रमिक की कुटिया भी उद्भासित हो उठती है। इस अवसर का विशेष महत्व लक्ष्मी पूजा को ले कर माना जाता है जो सौन्दर्य, स्निग्धता, मृदुलता वैभव और सौभाग्य की देवी मानी जाती है।

पुराणों के अनुसार लक्ष्मी दरिद्र देवी की छोटी बहन है। दरिद्रा दरिद्रता और दुर्भाग्य की प्रतीक है। दीपावली की लक्ष्मी पूजा से यह आशय लिया जाता है कि उस दिन अपने अपने घरों से दरिद्रा को निकाल कर लोग लक्ष्मी को स्थापित करते हैं। लक्ष्मी के ही स्वागत के लिए मकानोंकी सफाई-पुताई की जाती है और घरों में लक्ष्मी की विभिन्न-वर्णी मूर्तियों की स्थापना की जाती है। लक्ष्मी अष्टदल कमल के बीच विराजी रहती हैं और कमल के आठ दल इन्द्र, ब्रह्मा, कुमार तथा बाराह आदि देवों की शक्तियों के प्रतीक माने जाते हैं। लक्ष्मी का ध्यान इस प्रकार से नियोजित है:—

> पद्मासनां पद्महस्तां पद्मां पद्मदलैर्युताम्।
> दिग्गजैः सेव्यमानां च काञ्चनैः कलशोत्तमैः॥
> अमृतः सिच्यमानां च श्वेतच्छत्र विराजिताम्।
> सर्वालंकार-संयुक्तां महालक्ष्मीं विचिन्तये॥

लक्ष्मी कमल में बैठी हैं, उसके हाथ में कमल है, कमल के दलों से वह घिरी है। बड़े बड़े हाथी जो दिशाओं के मालिक हैं स्वर्ण कलशों से उसे अभिसिंचित कर रहे हैं। एक सफेद छत्र उसके सिर पर छाया कर रहा है। उसका सारा शरीर गहनों की दमक से दमक रहा है। देवी की पूजा बहुत बड़े आडम्बर के साथ की जाती है, क्योंकि प्रत्येक पुजारी अपने मन की इच्छा पूरी करने को उत्सुक रहता है। जब पूजा समाप्त होती है तब सब नर-नारी मिलकर देवी को स्तुति करते हैं और उसकी स्वाभाविक कृपा का प्रसाद चाहते हैं:—

सरसिज-निलये सरोज-हस्ते
धवलतारांकुश - गन्धमाल्यशोभे।
भगवति हरिवल्लभे मनोज्ञे,
त्रिभुवनभूतिकरि ! प्रसीद मह्यम्।

यह पूजा प्रायः श्री-सूक्त के मन्त्रों से की जाती है, जो १५ मन्त्रों का एक वैदिक सूक्त है जिसमें देवी की महत्ता का वर्णन और उपासकों की दयायाचना है।

दीपावली की रात्रि को महारात्रि कहा जाता है। इस रात्रि को तांत्रिक लोग अपने तन्त्रों को जगाते हैं, जो बहुत ही प्रभावपूर्ण सिद्ध होते हैं। इसके लिए रातभर जगने का विधान है। लक्ष्मी, जो बहुत कम भाग्यवानों के घरों में प्रवेश करती है इस दिन प्रत्येक हिन्दू घर में अवश्य आती हैं। इसलिए प्रत्येक घर का मालिक देवी के स्वागत के लिए सब सामान ठीक किए हुए तैयार बैठा रहता है। वस्तुतः इसी कारण हमारे धर्मशास्त्रों में जुआ खेलने का इस दिन बराबर वर्णन मिलता है। केवल इसी रात को जुआ खेलना हमारे शास्त्रों में वैध माना गया है, इसे स्मरण रखना आवश्यक है। लक्ष्मी-पूजा के लिए रात्रि जागरण परमावश्यक है इसीलिए आश्विन माह की पूर्णिमा कोजागरी पूर्णिमा कहते हैं। अर्द्ध रात्रि को लक्ष्मी प्रत्येक घर में जा कर पूछती है—कौन जाग रहा है ? को जागर्ति ? सनत्कुमार संहिता में कहा गया है कि मगध के एक गरीब ब्राह्मण को, जो रात भर जग कर जुआ खेलता रहा लक्ष्मी ने अपने वरदान से अतुलित सम्पत्ति का अधिकारी बनाया था।

लक्ष्मी का प्रतीक

हमारा हिंदू धर्म संसार के धार्मिक इतिहास में सबसे अधिक वैज्ञानिक और दार्शनिक रहा है। इसकी एक विशेषता जो अपेक्षाकृत लोगों को कम मालूम है वैज्ञानिक प्रतीकात्मकता रही है। मूर्तिकला के विकास

में प्रतीकों का बहुत भारी महत्व है। अस्पष्ट रहस्यात्मक दार्शनिक संकेतों और देवी-देवताओं को प्रतीकों के द्वारा ऐसा स्वरूप दिया गया है, जो जन साधारण के लिए भी सहज ही बोधगम्य हो गया है। इस कार्य के लिए हमारे पूर्वजों को प्रतीकों को एक ऐसी यथार्थता देनी पड़ी है कि वह विज्ञान की श्रेणी में आ जाते हैं। ऊपर दिया गया लक्ष्मी का प्रतीक उसके स्वभाव और गुणों को व्यक्त करने में समर्थ है। इससे स्पष्ट पता चलता है कि आर्यावर्त का ऋषि लक्ष्मी को किस भाव से देखता और पूजता था।

लक्ष्मी हिन्दू कला में कमल में बैठती है और कमल सुन्दरता एवं स्निग्धता का प्रतीक माना गया है। सौंदर्य सम्पत्ति की, शक्ति की देवी का सिंहासन है और कुरूपता दारिद्र की देवी का। लक्ष्मी का पूरा शृंगार, वस्त्र तथा आभूषण सफेद है। गले में सफेद मोतियों की माला है, उसका सफेद मुख शरद् चन्द्रिका से समानता रखता है। उसके सजे हुए सिर के ऊपर सफेद छत्र उसकी पवित्रता और दैवी शक्ति का द्योतक है, क्योंकि श्वेत सत्गुण का प्रतीक है। नारायण, संसार के पालक हैं। उनकी पत्नी के रूप में लक्ष्मी भी ब्रह्मा की सृष्टि की संरक्षिका मानी जाती हैं। ब्रह्मा का वर्ण लाल उसके सृजन का प्रतीक है और जल से भरे घड़े उपजाऊपन और परिपूर्णता के प्रतीक हैं। लक्ष्मी का वाहन उलूक संसार की विभिन्न विचारावली का प्रतीक है, क्योंकि उलूक के साथ भिन्न भिन्न देशों तथा मनुष्यों में भिन्न भिन्न मतों का प्रचलन है। ग्रीस में उलूक दार्शनिक भाव का प्रतीक माना जाता था, फारस में ऊजड़पन और खंडहर का प्रतीक माना जाता था, भारत में वह परिष्कार और आत्म-संयम का प्रतीक है। उलूक, दिन के प्रकाश के प्रति अंधा कहा जाता है। वस्तुतः वह इस भाव का प्रतिनिधित्व करता है कि कामिनी-कांचन, शक्ति और संपत्ति तथा भोग-विलास करने वाले लोग जब रात में स्वार्थरत विलास में मग्न रहते हैं तब वह जागता हुआ आत्म-संयम का परिचय देता है।

गीता में भी कहा गया है:—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥ (गीता अध्याय २)

इसका आशय बहुत अगाध है, क्योंकि इसमें दार्शनिकता का सारगर्भित संयोजन है। लक्ष्मी उन्हीं का साथ देती है जो अपनी वासनाओं का दमन करना जानते हैं और संसारी प्रलोभनों से बचते रहते हैं। लक्ष्मी उन्हीं के पास रहती है जो अपनी नैतिकता के प्रति सतत जागरूक रह कर अपने को दुर्भाग्य के अभिशाप से बचाते रहते हैं।

जुआ खेलना हमारे यहाँ की एक परम्परा रहा है। यह वैदिक युग में भी प्रचलित था। यद्यपि इसे लोग सदा ही दुष्कर्म के रूप में मानते रहे हैं तथापि इसका सर्वथा अभाव कभी नहीं था। ऋग्वेद में जुआरी पश्चाताप करता है। (ऋग्वेद ३४) जिससे द्यूत-विषयक निन्दा का भाव स्पष्ट हो जाता है। जुआरी अपना सर्वस्व हार कर अपनी निरीहता में उपदेश करता है:—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।

अर्थात् जुआ कभी मत खेलो। खेती में ही अपना ध्यान दो। सम्पत्ति के विषय में उच्च विचार रखो और धन के विषय में विचारपूर्वक कार्य करो। हमारे धर्मशास्त्रों के प्रणेता लोग जुए की बुराइयों से पूर्ण परिचित थे। इसलिए उन्होंने उसे कभी सामाजिक स्वीकृति नहीं दी, किन्तु आज का मनुष्य सोचता है कि जुआ खेलना भी दीवाली की विशेषता का एक अनिवार्य अंग है। जुए से हमें धन की अस्थिरता का ज्ञान होता है। हम सब को जुआरियों की कहानियाँ मालूम हैं जिन्होंने जुए में अपना सर्वस्व हार कर एक ही रात में अपने को महान दरिद्र बना लिया है। इससे धन की चंचल गति का रहस्य स्पष्ट होता है। यही कारण है कि हिन्दू संस्कृति में अत्यधिक धन रत होकर दूसरे कामों की उपेक्षा करने की घोर निन्दा की गई है। इसमें संदेह नहीं

कि जीवन में अर्थ का बहुत भारी महत्त्व है, पर उसे मनुष्य की आकांक्षाओं का एकमात्र आधार बनाना भी उचित नहीं है। अर्थ में अस्थिरता प्रकृति का नियम है जो बराबर अपना काम करता रहता है। अगर मनुष्य इस नियम को समझ-बूझ कर अर्थ का उपयोग करे तो उसकी उन्नति निश्चित है, अन्यथा नहीं। अगर धन का उचित व्यय न हुआ तो उसका विनाश अवश्यम्भावी है। अनुदारता किसी को क्षमा नहीं करती और अनुदार व्यक्ति शीघ्र ही दरिद्रता और आपदाओं का अधिकारी बनता है।

महत्व

भारतीय जनता के लिए दीपावली का विशेष महत्व जो आज कल स्वाभाविक रीति से और अधिक बढ़ गया है क्योंकि भारत अब स्वतंत्र हो गया है। स्वतंत्रता का भी अपना एक अलग उत्तरदायित्व है। स्वतंत्रता का अर्थ है सब के प्रति समान उदारता। वाणी की उदारता, व्यवहार की उदारता और अर्थ-विभाजन की उदारता। लक्ष्मी, नारायण की पत्नी होने के कारण हमारे लिए मातावत् है। यदि हम उसका उचित सम्मान करेंगे तो वह हमारे कल्याण का कारण होगी किन्तु उसे यदि हम अपनी पत्नी की भांति हेय दृष्टि से देखेंगे तो वह निश्चय ही हमारे सत्यानाश का साधन बनेगी। हमें इस वेद वाणी को जो उपनिषद् में स्पष्ट की गई है कभी न भूलना चाहिए।

विरक्ति के साथ धन का उपयोग करना चाहिए। किसी व्यक्तिगत धन के प्राप्त करने की चेष्टा नहीं होनी चाहिए। हमारी संस्कृति का मूलाधार त्याग है, न कि भोग, यह सदा स्मरण रखना चाहिए। वास्तव में धन का विरक्तिमय उपयोग शाश्वत सुख का और आसक्तिमय उपयोग सनातन दुःख का कारण होता है। संक्षेप में दीपावली का यही महत्त्व और यही आदर्श है। सुख और सम्पत्ति की देने वाली, स्वास्थ्य और आशा को परिवर्धन करने वाली ऐ दीपमालिके, आज हम स्वतंत्र आर्यावर्त के स्वतंत्र मानव तेरा अभिनन्दन करते हैं।

ओ ! रोग-शोक का शमन करने वाली
दुख-दारिद्र का दमन करने वाली
तुम्हारे नाम की प्रतिष्ठा चढ़े
तुम्हारी कीर्ति-लता बढ़े
और तुम अमर हो !

(३) दिवाली की आत्मकथा

मेरा शुभ नाम दिवाली है। आप लोग मेरे नाम और धाम, काम और कीर्ति, प्रभाव तथा महत्त्व जानने के लिये आज उत्सुक बैठे हुए हैं। अतः मैं अपने ही मुँह अपनी मनोरंजक कहानी सुनाने के लिये तैयार हूँ। मेरा जन्म बड़े ही सुन्दर ऋतु के बड़े ही सुन्दर मास में बड़ी ही सुन्दर तिथि को होता है। संतत वृष्टि से पीड़ित जनता को आनन्दित करनेवाली शरद् को धीमी-धीमी सीरी हवा भूतल के ऊपर मेरे प्रथम अवतार का स्वागत करने के लिये बहने लगती है। नीला आकाशमण्डल श्वेतकाय वलाहक-शावकों की मनोरम अठखेलियों से नितान्त रमणीय हो उठता है। धुले हुए हरित तरुओं की अवली मेरे जन्म के समय मेरे प्रभाव में आकर खड़ी रहती है। मेरे जन्म की ऋतु है सुहावनी शरद् जो दिग्विजयी महीपालों को भी उतनी ही प्यारी लगती है जितनी प्रजामण्डली को। इसी ऋतु में प्राचीन काल में भारतीय सार्वभौम नरेश शत्रुओं के ऊपर विजय की लालसा से दिग्विजय के लिये चतुरंगिणी सेना से सुसज्जित होकर अपनी राजधानी से बाहर निकलते थे। मेरे जन्म का महीना है वही कार्तिक, जिसकी पवित्रता की कथा भारतीय धर्मग्रन्थों में शतमुख से गायी गयी है और जिसमें धार्मिक जनता श्रीराधाकृष्ण की पूजा नाना उपचारों से सम्पन्न कर अपने को कृतकृत्य मानती है। मेरे उदय की तिथि है वह अमावास्या, जो दो राज्यों के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न होनेवाले काले अन्धकार का तथा विषम क्लेश का

उपहार प्रस्तुत कर जनता को एक ही लोकप्रिय राज्य का आश्रय लेने के लिए संतत शिक्षा देती है—

दुसह दुराज प्रजानको, क्यों न बढ़ै दुखदन्द।
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रविचन्द॥

मेरा उत्सव मनाया जाता है समग्र भारत में, विशेष कर धनी मानी व्यापारिक केन्द्रों की तो बात ही न्यारी है। मेरे जन्म से महीनों पहले मकानों की सफाई होने लगती है; घरों में सफेदी की जाती है। टूटे फूटे स्थानों की मरम्मत की जाती है। कूड़ा-करकट हटाकर मकान स्वच्छ तथा दिव्य कर दिये जाते हैं। भारत के वर्तमान निवासियों को हीन-दीन देखकर उनके ऊपर कुरूपता के प्रेमी तथा सौन्दर्यभावना से पराङ्मुख होने का दोष भले ही कोई आरोपित करे, किंतु भारत के लोग सदा से सौन्दर्यप्रिय रहे हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। भारत के प्रत्येक घर में, प्रत्येक काम में सौन्दर्य की भावना को व्यापक स्थान दिया गया है। अतएव मेरे जन्म के समय यहाँ के लोग अपने घरों को नये सुन्दर सामानों से सजावें, उन्हें लीप-पोतकर सुन्दर बनावें, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

मेरा स्वागत कहाँ नहीं होता! दरिद्र की टूटी झोपड़ी से लेकर धनकुबेरों के गगनचुम्बी प्रासादों तक सर्वत्र मेरे दिव्य स्वागत के निमित्त दीपक जलाये जाते हैं। वह दिन भी मुझे याद है जब लोग मीठे तेल के टिमटिमाते दीये जलाकर मेरी अभ्यर्थना किया करते थे। परन्तु आज? आज है बिजली का जमाना। आज बड़े-बड़े शहरों में सेठ साहूकार बिजली के रंग-बिरंगे बल्ब जला कर स्वर्ग की अमर ज्योति को भूतल पर उतारने का प्रयत्न करते हैं। मेरे उत्सव के दिन छोटे छोटे असंख्य जलते दीपकों को देख कर लोग जिस प्रकार कभी प्रसन्न होते थे, आज उसी भाँति बिजली का नाना रूपों तथा रंगों में सजायी गयी रोशनी को देखकर किस भावुक का मन चमत्कृत नहीं होता और आँखें चौंधिया नहीं जातीं। मेरी इस भव्य अभ्यर्थना

का एक रहस्य है—लोगों में आनन्द की सार्वभौम जागृति। मैंने अद्वैतवाद का पाठ पढ़ा है। मेरे निकट जातिगत तथा व्यक्तिगत किसी प्रकार का भेदभाव नहीं। जनता की मेरे स्वागत में सामूहिक श्रद्धा है। वह समभाव से मेरे आगमन की बाट जोहती है और उस दिन प्रसन्न वदन तथा मिष्टमुख बनने से कभी नहीं चूकती। मित्र लोग मेरे उपलक्ष्य में आपस में गले लगते हैं; एक दूसरे से सहानुभूति दिखलाते हैं; वर्ष भर की वेदना को मधुर शब्दों से दूर भगाते हैं। घर-घर मिठाइयाँ उपहार में भेजी जाती हैं। बालक लोग नये खिलौनों के उपहारों से प्रसन्न होकर आनन्द से नाचते हैं। यह है मेरा निजी रूप और सामाजिक महत्व।

धार्मिक महत्व

मेरा महत्त्व धार्मिक जगत् में तो और भी विशिष्ट तथा व्यापक है। हिन्दुओं की यह बड़ी सुन्दर भावना है कि वे प्रत्येक उत्सव को धार्मिक रंग में रँग देते हैं। मेरा दिन भगवती महालक्ष्मी की पूजा तथा अर्चना के निमित्त पवित्र माना जाता है। भारतीय सदा से शक्ति के उपासक रहे हैं। नाना शक्तियों में तीन शक्तियों की प्रधानता है—महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती की। प्रत्येक शक्ति की विशिष्ट पूजा के लिये वर्ष में अलग अलग दिन नियत कर दिये गये हैं। दीपावली महालक्ष्मी का निजी पर्व है। उस दिन रात में उनका पूजन करना नितान्त आवश्यक होता है।

लक्ष्मी के पूजन के निमित्त नया मण्डप बनाया जाता है तथा उसे पत्र, पुष्प, तोरण, ध्वजा, पताका आदि से अलंकृत किया जाता है। वेदी के ऊपर रंगीन अक्षतों के द्वारा अष्टदल कमल के ऊपर लक्ष्मी की मूर्ति रखकर उसे षोडश उपचारों से विधिवत् पूजना चाहिये। विष्णु की शक्तिरूपिणी लक्ष्मी की पूजा प्राचीन काल से ही भारत में प्रचलित है। ऋग्वेद परिशिष्ट में लक्ष्मी की स्तुति में प्रयुक्त मन्त्रों का एक पृथक् समुदाय है जो 'श्रीसूक्त' के नाम से

विद्वानों में प्रसिद्ध है। इसी सूक्त के मन्त्रों से लक्ष्मी जीके पूजन-अर्चन का विधान किया जाता है। पूजन के अन्त में साधक लक्ष्मी की प्रसन्नता के हेतु वह प्रार्थना करता है—

> नमस्ते सर्वदेवानां वरदासि हरेः प्रिया।
> या गतिस्त्वत्प्रपन्नानां सा मे स्यात् तव दर्शनात्॥

लक्ष्मी जगत् के सौन्दर्य तथा सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी हैं। लक्ष्मी का निवास रहता है कमल के ऊपर। भारतीय कला में कमल सौन्दर्य का प्रतीक है। लक्ष्मी का वर्ण है श्वेत और वे बैठती हैं श्वेत कमल-पुण्डरीक के ऊपर। श्वेत सत्त्व गुण का अपना विशिष्ट रंग है। लक्ष्मी का अर्जन तथा संचय वही पुरुष कर सकता है जो स्वयं सात्विक हो, सत्त्वगुण से मण्डित हो। लक्ष्मी भगवान् विष्णु की शक्ति हैं। विष्णु का कार्य जगत् का पोषण, रक्षण तथा पालन है और इस व्यापार में उन्हें लक्ष्मी जी से सहायता मिलती है। लक्ष्मी का उपयोग ही होना चाहिये रक्षण के लिये—पालन के लिये। लक्ष्मी हमारी माता ठहरीं। अतः माता के प्रति जो सत्कार या श्रद्धाभाव मनुष्य को रखना चाहिये, वही भाव यदि जगज्जननी के प्रति हुआ तो मनुष्य का कल्याण समझिये। यदि उसमें तनिक भी कमी आयी तो उसका विनाश निश्चित है। आजकल भारतीय लोग इस जगन्माता के प्रति अवहेलना तथा तिरस्कार दिखलाने में जरा भी नहीं चूकते। फल भी इसका वैसा ही होता है—कल्याण का नाश तथा अमङ्गल की वृद्धि। माता पुत्र के पालन की सहायिका है, भोग की नहीं! परंतु आज हो रहा है क्या? चारों ओर लक्ष्मी को भोग का साधन बनाया जाता है। सांसारिक भोग-विलास की अग्नि में लक्ष्मी का होम किया जा रहा है। सामने अपना ही निर्धन पड़ोसी दाने दाने के लिये मुहताज बना हुआ विपत्ति का दुर्गम दिन काट रहा है; परंतु मनुष्य को उसके प्रति तनिक भी दया नहीं, उसकी दीन अवस्था से तनिक भी सहानुभूति नहीं। वह अपनी ही भोगलिप्सा में पड़ कर

लक्ष्मी का सर्वनाश कर रहा है। इसका फल यदि विषमय फले तो आश्चर्य करने की कौन सी बात है ?

इस प्रसंग में लक्ष्मी के वाहन का स्वरूप समझ लेना भी आवश्यक है। लक्ष्मी का वाहन है उलूक—वह पक्षी जो दिन में अंधा बना अपना दिन काटता है और केवल काली अँधेरी रात में ही इधर उधर उड़ता है। आजकल लक्ष्मी के वाहन हैं आँख के अंधे और गाँठ के पूरे, जो अपने ही संकीर्ण स्वार्थ के साधन में लगे रहते हैं रात-दिन और कभी दूसरे के हित की बात का भी खयाल नहीं करते। बहुतों की धारणा है कि लक्ष्मी-वाहनों की ऐसी दशा देखकर अपने शास्त्रों में उलूक को लक्ष्मी के वाहन बनने की योग्यता प्रदान की गयी है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। उलूक का व्यवहार उन योगियों के व्यवहार के समान है जो संसार की सामान्य धारा से अपने को दूर रख कर संयमी जीवन यापन करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमुख से इन्हीं योगियों के विषय में लक्ष्य कर कहा है—

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
> यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

'जिस रात में सब लोग सोते हैं, संयमी उसी में जागता है। और जिसमें जगत् के प्राणी जागते हैं, वही द्रष्टा मुनि के लिये रात है।' मेरी दृष्टि में उलूक ऐसे ही संयमी का प्रतीक है। संयमी पुरुष ही लक्ष्मी का सच्चा वाहन है। संयमहीन पुरुष लक्ष्मी का क्या कभी संचय और संरक्षण कर सकता है ? लक्ष्मी-वाहन का यही रहस्य है।

इस प्रकार मेरा सामाजिक रूप भी उतना ही महत्वशाली है जितना मेरा धार्मिक रूप। मेरी बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ अन्य व्रत तथा त्यौहार आंतरिक शुद्धि तथा पवित्रता की ओर ध्यान देते हैं, वहाँ मैं बाह्य शुद्धि तथा स्वच्छता पर भी जोर देती हूँ। बाह्य शुद्धि के बिना आन्तरिक शुद्धि तथा शुचिता का कुछ भी महत्व नहीं होता। नियम है—'देवो भूत्वा देवं यजेत्।' देवता बनकर देवता की पूजा करनी चाहिये।

विना पवित्र हुए देवता की उपासना भलीभाँति नहीं हो सकती। इसी प्रकार वाहरी शुद्धि के विना भीतरी शुद्धि का होना एक प्रकार से असम्भव-सा है। इसकी मैं पूर्ण रूप से शिक्षा देती हूँ। वरसात के कारण घरों में नमी आ जाती है। वायु में विकार उत्पन्न हो जाता है। मेरे आगमन के उपलक्ष्य में की गयी सफाई के कारण ये दोष दूर हो जाते हैं। घर में लक्ष्मी का आवास तभी होता है, जब वह साफ-सुथरा, पवित्र तथा दिव्य हो। अतः सब लोगों का यह पवित्र कर्तव्य होना चाहिये कि मेरे जन्म के दिन घर की सफाई कर गंदगी से उत्पन्न होनेवाले रोगों को दूर करें तथा राष्ट्र की स्वास्थ्य रूपी लक्ष्मी की आराधना करें। निर्मलता ही मेरा प्रतीक है, स्वच्छता ही मेरा रूप है। वाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि ही मेरा उपदेश है, शुचिता का सम्पादन कर भारत समृद्ध तथा सम्पत्तिशाली बने, यही मेरी कामना है।

गूढ लेख्य

(प्राचीन गुप्तचर प्रणाली)

यह तो सब को विदित ही है कि प्राचीन भारत में गुप्तचरों का बड़ा महत्त्व था। अन्य राष्ट्र की छिपी हुई बातें और घातें जानने के लिए राजा लोग इनका उपयोग किया करते थे। वे तो वास्तव में नरेशों के सर्वत्र भ्रमणशील नेत्र थे जिनके द्वारा वे वस्तुस्थिति को देखा करते थे। 'चारैः पश्यन्ति राजानः' यह कथन प्रसिद्ध ही है। इन गुप्तचरों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन कौटल्य 'अर्थशास्त्र' में मिलता है। इसमें कौटल्य ने प्रसङ्गवश लिखा है कि चरलोग जब बाहर से अपना काम समाप्त कर आवें तब उन्हें राजा को अपनी रिपोर्ट गूढ़ लेख के द्वारा अभिव्यक्त करनी चाहिए। यदि सीधे-सादे लेख के द्वारा वे अपना भाव प्रकट करेंगे, तो बहुत सम्भव है कि वह लेख किसी दूसरे व्यक्ति के हाथ में पड़कर अनर्थ का कारण बने। अतः गुप्तचरों को अपनी रिपोर्ट लिखने के लिए सर्वसाधारण लेखप्रकार का उपयोग न करना चाहिए, प्रत्युत उन्हें एक विशिष्ट प्रकार की लेखन-कला का उपयोग करना चाहिए, जिससे उस संकेत को समझने वाले व्यक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा उनके लेख का अर्थ न समझ सके। इसकी व्यवस्था प्राचीन आचार्यों ने कर दी थी। इस प्रकार के लेखनप्रकार का नाम 'गूढ़ लेख्य' था।

महर्षि वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में (१ अधिकरण, ३ अध्याय) ६४ कलाओं का नाम-निर्देश किया है; उनमें एक कला का नाम है— 'म्लेच्छित विकल्प'। इस शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाक

यशोधर ने 'जयमङ्गला' में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं। उससे गूढ़ लेख्य के भिन्न भिन्न प्रकारों का पता हमें चलता है। पहले जानना चाहिये कि 'म्लेच्छित' शब्द का क्या अर्थ है? साधु शब्दों से सम्पन्न होनेवाला भी जो लेख अक्षरों के इधर उधर परिवर्तन कर देने से अस्पष्ट हो जाय, जिसके अर्थ का पता ही न चले, उसे 'म्लेच्छित' के नाम से पुकारते हैं—"यत् साधुशब्दोपनिबद्धमपि अक्षरव्यत्यासाद् अस्पष्टार्थं तत् म्लेच्छितम्'। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बड़ा पुराना है। महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण की उपयोगिता प्रदर्शित करते समय 'म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्' लिखा है। उनकी राय में व्याकरणाध्ययन का यह पहला फल होना चाहिए कि हम 'म्लेच्छ' होने से बचें। म्लेच्छ क्या? म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः' (महाभाष्य)। किसी शब्द में एक अक्षर के स्थान पर दूसरे अक्षर का प्रयोग करना कहलाता है। 'हेऽरयो' शब्द में रेफ के स्थान में लकार का प्रयोग करना और उक्त शब्द को 'हेऽलयो' 'हेऽलयो' कहकर उच्चारण करना 'म्लेच्छ' का उदाहरण भाष्य में दिया गया है। हमारे पूर्वज लोग अपने आसपास के सभ्यताहीन शिक्षाविहीन लोगों को इसी कारण 'म्लेच्छ' के नाम से पुकारते थे कि वे हमारी संस्कृत भाषा के शब्दों के उच्चारण करने में असमर्थ होते थे और वे लोग उन शब्दों के अक्षरों के स्थान पर अन्य अक्षरों को बैठा कर उनका अशुद्ध उच्चारण किया करते थे। संस्कृत शब्दों का उच्चारण सब किसी से ठीक थोड़े हो सकता है। आर्य लोग ही उनका शुद्ध उच्चारण कर सकते थे; अनार्य लोगों से इनका यथातथ उच्चारण हो ही नहीं सकता था। इसलिए आर्य लोग उन अनार्यों को 'म्लेच्छ' के नाम से पुकारते थे। 'म्लेच्छ' नामकरण का यही रहस्य है।

ऐसे म्लेच्छित वाक्यों के प्रयोग का अभिप्राय क्या था? गूढ़वस्तु की मन्त्रणा। अभीष्ट अर्थ को सब से छिपा कर उस संकेत से परिचित व्यक्तिविशेष पर प्रकट करना ही ऐसे अक्षर-परिवर्तन

सम्पन्न गूढ़ लेखों का काम होता था। गूढ़ लेख के अनेक प्रकार थे। इस कला के बहुत से आचार्य थे। एक तो थे स्वयं आचार्य कौटल्य। दूसरे आचार्य थे प्राचीन भारत के अखिलकलामण्डित, धूर्तशिरोमणि, 'चौर्यशास्त्र' के प्रणेता आचार्य मूलदेव। इन दोनों के मतों का उल्लेख 'जयमंगला' में किया ही गया है, साथ ही साथ एक तीसरे मत का भी वर्णन है, पर इसके उद्भावक आचार्य का नाम नहीं दिया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकारों की ओर भी संकेत मिलता है। इससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि गूढ लेख लिखने की प्रणाली प्राचीन भारत में विशेष रूप से प्रचलित थी और अनेक आचार्यों की बुद्धि ने इसकी उद्भावना की थी।

कौटल्य के अनुसार गूढ़ लेख की प्रणाली का वर्णन यों किया गया है—

तादेः क्षान्तस्य कादेश्च स्वरयोरुभयोरपि।
बिन्दूष्मणोर्विपर्यासात् दुर्बोधमिति संज्ञितम्॥

वर्णमाला में 'श, ष, स, ह' को छोड़ देने पर 'क' से लेकर 'क्ष' तक ३० अक्षर हुए। इनमें दो खण्ड कर देना चाहिए। पन्द्रह पन्द्रह अक्षरों का—'क' से 'ण' तक पहला खण्ड और 'त' से लेकर 'क्ष' तक दूसरा खण्ड। पहले खण्ड के अक्षरों के स्थान पर दूसरे खण्ड के तत्तत् अक्षर बैठाने चाहिए। ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों का परिवर्तन करना चाहिए—ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ तथा दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व। चार बिन्दुओं (अर्थात् १ अनुस्वार, २ विसर्ग, ३ जिह्वामूलीय तथा ४ उपध्मानीय) के स्थान पर क्रमशः श, ष, स, ह को रखना चाहिए। इस प्रकार का लेख दुर्बोध या गूढ़ लेख के नाम से पुकारा जाता है।

मूलदेव के अनुसार इतने वर्ण-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। वह कौटल्य के प्रकार से कुछ सीधा-सादा था। उसका ढंग यह था—

अकौ खगौ घङौ चैव चटौ ञणौ तपौ नमौ।
यशौ रषौ लसौ चेति मूलदेवीयमुच्यते॥

अर्थात् 'अ' और 'क', 'ख' और 'ग', 'घ' और 'ङ', 'च' और 'ट', 'ञ' और 'ण', 'त' और 'प', 'न' और 'म', 'य' और 'श', 'र' और 'ष' तथा 'ल' और 'स'—इन १० वर्णयुग्मों का आपस में परिवर्तन होना चाहिए। शेष अक्षर ज्यों के त्यों रहेंगे। स्वरों में किसी प्रकार का परिवर्तन न होगा तथा अनुस्वार और विसर्ग भी अपने ही स्थान पर जमे रहेंगे।

तीसरे लेखप्रकार के उद्भावक का नाम जयमंगला में नहीं है। वह प्रकार यों है—

> ग्रहनयनवसुषडाननाक्षाणि सागरा मुनयः।
> ज्वलनो गण्डकशृङ्गं दुर्लिखितं गूढलेख्यमिदम् ॥

भावार्थ—ग्रह (९), नयन (२) वसु (८), षडानन (६), अक्ष (इन्द्रिय=५), सागर (४), मुनि (७), ज्वलन (अग्नि=३) गण्डकशृङ्ग (गैंडे का सींग=१)—इस प्रकार वर्ण व्यत्यय से युक्त लेख को गूढ लेख कहते हैं। पहले अक्षर के स्थान पर नवां अक्षर होना चाहिए; दूसरा स्वस्थान पर रहेगा, तीसरे के स्थान पर ८ वाँ, ४ थे की जगह ६ ठा, ५ वाँ ज्यों का त्यों रहेगा; ६ ठे की जगह ४ था, ७ वाँ स्वस्थान पर रहेगा; ८ वें की जगह ३ रा, और ९ वें के स्थान पर १ ला वर्ण रहेगा। इस प्रक्रिया का उपयोग गद्य के ही लिये हो सकता है। इसके अनुसार नौ अक्षरों का एक एक समूह होगा और उसके भीतर ऊपर लिखित ढंग से वर्ण-परिवर्तन किया जायगा।

इन्हीं तीनों प्रकारों का वर्णन 'कामसूत्र' की टीका में उपलब्ध होता है। इन तीनों के तारतम्य का विचार करने से यही प्रतीत होता है कि इनमें सब से सीधा ढंग तीसरा था, क्योंकि इसमें उसी वाक्य में आए हुए वर्णों का केवल स्थान-परिवर्तन हो जाता है। दूसरे प्रकार की योजना इससे अधिक क्लिष्ट है; क्योंकि इसमें दस वर्णों के स्थान पर भिन्न भिन्न वर्णों के रखने का नियम है, परन्तु सबसे कठिन तथा अद्भुत प्रकार स्वयं आचार्य कौटल्य का है, क्योंकि यहाँ प्रत्येक

व्यञ्जन बदला जाता है; प्रत्येक मात्रा अपने से भिन्न हो जाती है तथा अनुस्वार और विसर्ग के स्थान भी अछूते नहीं बचते। इनकी जगह भी 'ऊष्म' वर्ण आ विराजते हैं। अतः कौटल्य का गूढ़ लेख वास्तव में गूढ़ लेख है, जिसके अर्थ की उद्भावना करना तथा ठीक ठीक पढ़ जाना जरा टेढ़ी खीर है। कूटनीति के आचार्य की प्रणाली को कूटमय होना ही चाहिए।

अब एक उदाहरण देकर इन तीनों का भेद समझाया जाता है। मान लीजिए कि कोई गुप्तचर बाहर से समाचार संग्रह करके आता है। शत्रु के आक्रमण की आशंका है। राजा को वह सचेत करना चाहता है। उसे यह वाक्य लिखना है—'रिपुरायाति पलायस्व' (शत्रु आ रहा है; भाग जाइए)। यदि वह तृतीय प्रकार का आश्रय लेगा, तो उसका वाक्य होगा—'स्वपुयपति यालारारि'। मूलदेवीय पद्धति से वह यों लिखेगा—'लितुषाशापि तसाशल्व।' कौटल्य के प्रकार से वह यों लिख भेजेगा—'टीचूठटकी चाडतॉ ़कढ।'

इन गुप्त लेखनप्रणालियों की उद्भावना करनेवाले विद्वानों की जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी ही होगी। इनकी सहायता से राजनीति के गुप्त कारनामे किस प्रकार सर्वसाधारण की दृष्टि तथा बुद्धि से बचकर राजा के पास पहुँच जाते थे, इसका अनुमान सहज ही में किया जा सकता है। आजकल भी कभी कभी विशिष्ट अंग्रेजी पत्रों के संवाददाताओं को 'कोड लैंगुएज' (संकेत-भाषा) का प्रयोग करते हुए हम सुनते हैं। आजकल भी गुप्तचर 'संकेत-भाषा' का ही प्रयोग करते हैं, इसकी तालिका भी बड़ी गुप्त रखी जाती है, यदि प्रकाशित हो जाय तो फिर उसे सभी पढ़ सकते हैं।

आसाम की आदिम संस्कृति

आदिवासियों का एक विशाल समुदाय आसाम प्रान्त के अन्तर्गत निवास करता है। इसकी अनेक जातियाँ तथा उपजातियाँ हैं जिनका अध्ययन कला, धर्म, संस्कृति तथा भाषा की विविध दृष्टियों से विशेष महत्त्वशाली है। मानव शास्त्र के मूलरूप तथा विकास के ज्ञान के लिए यह अध्ययन विशेष लाभप्रद है। आसाम की इन जातियों के रीतिरस्म, भाषा तथा सभ्यता का अध्ययन आवश्यक है।

सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था में साम्य रखने पर भी आसाम के आदिवासियों की भाषा बिलकुल पृथक्-पृथक् है। एक जाति की भाषा से भिन्न होने पर आश्चर्य नहीं होता, परन्तु एक ही जाति की अन्त-र्भुक्त उपजातियों की भाषा का पार्थक्य अवश्यमेव आश्चर्यकारी है। प्रसिद्ध नागा जाति की तीन उपजातियाँ हैं—१. अंगामी नागा, २. रेंग्मा नागा, ३. सेमा नागा। ये तीनों उपजातियाँ अपनी विभिन्न भाषाओं पर गर्व करती हुई उसका प्रयोग करती हैं। परन्तु जब ये व्यापार के लिए मैदान में आती हैं तो आसमिया भाषा का व्यवहार करती हैं।

ये समस्त भाषायें तिब्बती-बर्मी भाषा परिवार से सम्बन्ध रखती हैं। ग्रियर्सन ने इन भाषाओं के उद्धार के लिए श्लाघनीय उद्योग किया है।

सन् १८२६ में आसाम प्रान्त पर अंग्रेजों का अधिकार हुआ और तभी से ईसाई पादरियों ने भी इन जातियों में अपने धर्म का प्रचार करना आरम्भ किया। बाइबिल के शान्ति सन्देश को इनके घरों में

पहुँचाने के लिए इन्होंने इन जातियों की भाषा का भी अध्ययन किया तथा व्याकरण और कोश-ग्रन्थों का निर्माण कर सभ्य संसार के सामने इन्हें उपस्थित किया। तभी से भाषाशास्त्रियों की दृष्टि इनकी ओर आकृष्ट हुई तथा नवीन ग्रन्थों की रचना हो रही है। कुछ मान्य ग्रन्थों का प्रकाशन आसाम सरकार ने किया है[1]—

हरबर्ट लारेन : डिक्शनरी ऑफ़ अबोर-मीरी लैंग्वेज
गोपालचन्द्र बरुआ : आहोम-असामीज़ डिक्शनरी
आर० बी० मैककाब : ग्रामर ऑफ़ दी अंगामी नागा लैंग्वेज
एक० रैमखे : बंगाली-गारो डिक्शनरी
आर० सी० हैमिल्टन : ग्रामर ऑफ़ दी दफला लैंग्वेज
ब्राउन : ग्रामर ऑफ़ दी देवरी चुटिया लैंग्वेज
एफ० जे० नीधम : ग्रामर ऑफ़ दी खामटी लैंग्वेज

ये समस्त जातियाँ अशिक्षित, असभ्य अथवा अर्धसभ्य हैं। आधुनिक सभ्यता की रोशनी से ये बहुत दूर हैं। ये स्वयं घरेलू मामलों में स्वतंत्र हैं, परन्तु कभी बाहरी बातों में ये अंग्रेजी सरकार के प्रभाव में थीं। स्वतन्त्र भारत में इनके शासन की व्यवस्था की गई है और नये चुनाव में इनके भी प्रतिनिधि व्यवस्था-सभा में चुने गये हैं।

बहुविवाह की प्रथा प्रायः सब जातियों में है। वर-कन्या ही स्वयं अपना विवाह तय कर लेते हैं। सब जातियाँ माँस खाती हैं तथा शराब पीती हैं। गोदना गुदवाने की प्रथा सर्वत्र है। परदा का सर्वत्र अभाव होना इन स्वतन्त्र विचरण करनेवाली जातियों में स्वाभाविक ही है। यह मूर्ति की पूजा नहीं करती, परन्तु एक ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखती हैं। बलिदान की प्रथा सर्वत्र है। इनके धार्मिक विश्वासों के अध्ययन से आदिम मानव के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें जानी जा सकती हैं।

---

१. ये ग्रन्थ आसाम गवर्नमेंट बुक डिपो शिलांग से प्राप्त हो सकते हैं।

आसाम एक पहाड़ी प्रदेश है। प्राचीन काल में विभिन्न प्रकार के लोग यहाँ पाये जाते थे। इन पहाड़ों में अनेक प्रकार की पहाड़ी जातियाँ रहती हैं जो अनार्य हैं और जिनके घरों तक आधुनिक सभ्यता का प्रकाश अभी तक नहीं पहुँचा। ऐसी जातियों में खासी तथा नागा के नाम प्रसिद्ध हैं। दूसरी जातियाँ वे हैं जो आसाम की सीमा पर रहती हैं, उन्हें सीमान्त जातियाँ कहना अधिक उपयुक्त होगा। ये जातियाँ दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं। पहली आसाम तथा बर्मा की सीमा के बीच में रहनेवाली तथा दूसरी आसाम और तिब्बत की सीमा में निवास करनेवाली।

ये पर्वतीय तथा सीमान्त जातियाँ स्वतन्त्र हैं। पहले ये अंग्रेजों की सीमा में आकर बड़ा उत्पात मचाया करती थीं, परन्तु हमारी सरकार ने इन्हें अपनी नीति से वश में कर लिया है। इन जातियों में इनका एक सरदार होता है जो शासन किया करता है। इन में प्रत्येक की भाषा भिन्न है तथा रीति-रिवाजों में भी बहुत कुछ अन्तर है।

इन सब पर्वतीय तथा सीमान्त जातियों की संख्या कुल मिला कर ग्यारह हैं तथा इनके नाम यों हैं—१. गारो, २. खासी, ३. मिकिर, ४. नागा, ५. सिंगफो, ६. खामटो, ७. मिशमी, ८. अबोर, ९. मीरी, १०. दफ़ला, ११ आका।

गारो की पहाड़ियाँ गोआलपाड़ा जिले के दक्षिण में स्थित हैं. जिन में गारो नामक जाति रहती है। आजकल इसकी संख्या एक लाख से भी अधिक है। इस जाति का मुखिया एक सरदार हुआ करता है जो इस जाति के समस्त राजनीतिक मामलों पर विचार करता है और फैसला करता है। गारो भाषा बड़ी सुन्दर है। इन लोगों के शरीर का गठन सुडौल है। ये बड़े कार्य-निपुण हैं और धान तथा रुई की खेती करते हैं। गारो स्त्री-पुरुष गठरी को पीठ पर रख कर, उसे रस्सी में बाँध सिर से टेक कर नीचे मैदान में सामान बेचने के लिये जाते हैं।

ये शिकारी नहीं हैं परन्तु कभी-कभी हाथियों को फँसाया करते हैं। ये खूब धूम्रपान करते हैं। इनके घर बाँस के बने होते हैं। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि ये दूध पीने से बड़ी घृणा करते हैं। ये बाल नहीं कटाते और सिर पर जूड़ा बाँधा करते हैं। माता तथा पिता के द्वारा ही इनका विवाह तय होता है। इस समय पुरोहित मंत्र पढ़ता है और एक मुर्गे के जोड़े का बलिदान किया जाता है। इनके नृत्य का ढंग विचित्र है। एक दूसरे की कमर पकड़ कर दस बीस आदमी एक साथ नृत्य किया करते हैं। दामाद श्वसुर के मर जाने पर अपनी सास से विवाह कर लेता है और इस प्रकार अपने श्वसुर के धन का उत्तराधिकारी बन जाता है। गारो स्त्री सारे परिवार की स्वामिनी होती है। गारो मूर्ति पूजक नहीं हैं परन्तु वे ईश्वर में विश्वास रखते हैं भूत-प्रेत की सत्ता में भी विश्वास रखते हैं और अपने मृतक को तीन दिन घर में रख कर जलाया करते हैं।

खासी जाति खासी पहाड़ियों में रहती है जो गारो की पहाड़ियों से लेकर पूर्व में मणिपुर तक फैली हुई हैं। ये लोग बड़े परिश्रमी, शान्त स्वभाव तथा प्रायः शुद्ध आचरण के होते हैं। ये सदा प्रसन्न चित्त रहते हैं। खासी स्त्रियां बड़ी ही सुन्दर और आकर्षक होती हैं। ये लोग अशिक्षित हैं परन्तु शिक्षा की ओर इनकी अभिरुचि है। पहाड़ी नदियों पर पुल बांधने में ये बहुत दक्ष होते हैं। इनके धार्मिक विचार वही हैं जो गारो के हैं। ये मृतकों को जलाने के पूर्व उसे बक्स में कई दिनों तक बन्द रखते हैं और मृतक को ले जाते समय वंशी बजाते हैं।

मिकिर नवगांव जिले के दक्षिणी और पश्चिमी भाग में रहते हैं। ये हिन्दू धर्म में दीक्षित हो गये हैं। मिशनरियों के द्वारा शिक्षा का प्रचार इधर हुआ है। खेतों में रूई तथा चावल पैदा करते हैं। मिकिर स्त्रियाँ बड़ी परिश्रमी होती हैं तथा मैदान में लकड़ी बेचने आती हैं।

नागा जाति आसाम की समस्त जातियों में सबसे प्रसिद्ध जाति है। यह नागा पहाड़ियों में रहती है। इसके अनेक विभेद हैं—अंगामी,

रेंग्मा तथा सेमा। प्रत्येक का एक सरदार होता है जो चुनाव के द्वारा नियुक्त किया जाता है। इसका प्रधान कार्य झगड़े का निपटाना होता है।

ये लोग अतिथि का बड़ा आदर करते हैं। ये रुई और अन्य पर्वतीय उपजों का व्यापार करते हैं। इनका हथियार भाला और तलवार है। अंगामी नागा इंडोचाइनीज़ वंश के हैं। इनका शरीर गठन सुन्दर तथा नाक चिपटी होती है। ये बड़े बहादुर होते हैं; वीरता का बैज (चिन्ह) अपनी छाती पर पहनते हैं। शत्रु के जीतने के उपलक्ष्य में वे अपने शरीर में गोदना गुदवाते हैं। इनकी स्त्रियाँ चुस्त कुरती पहनती हैं। नागा लोग अपनी जान हाथों पर लिये फिरते हैं। अफगानों की भाँति जान लेना या देना इनके बायें हाथ का खेल है।

सिंगाफो जाति के लोग दिहिंग तथा तेंगपानी नदी के किनारे तथा लखीमपुर सीमा प्रदेश के पूर्व में रहते हैं। इनका सम्बन्ध बर्मा से अधिक मालूम पड़ता है। इसी सम्बन्ध के कारण इनका यह नाम भी पड़ा हुआ है, बर्मी भाषा में सिंगफो का अर्थ है 'मनुष्य'। इनमें से कुछ लोग बौद्धमत मानते हैं। ये मंगोलियन वंश के प्रतीत होते हैं। गोदना गुदवाने की चाल खूब है स्त्रियाँ अपने पूरे पैर में गोदना गुदवाती हैं। पुरुष भी अपने शरीर को गोदना से सुशोभित किया करते हैं। इनकी भाषा बर्मी से विशेष मिलती है। धार्मिक रीति से ये भूत प्रेत की पूजा में निरत रहते हैं।

मिशमी जाति के अन्तर्गत तीन छोटी-छोटी उपजातियाँ हैं। ये साधारण रीति से सभ्यता की दौड़ में कुछ आगे बढ़े हुए हैं। इनका सबसे बड़ा गुण है कि ये व्यापारी हैं, सदिया से लेकर डिब्रूगढ़ तक व्यापार करते हैं। पहाड़ से जड़ी-बूटी, तथा कस्तूरी लाकर डिब्रूगढ़ आदि में बेचते हैं। इनका पहाड़ी स्थान बहुत सुन्दर होता है। ये जानवरों को चराने

का काम भी करते हैं तथा इस कार्य के लिये साँड रखते हैं। इनके घर बहुत बड़े होते हैं, कोई कोई तो १३० फीट तक लम्बे होते हैं। ये मुर्दे की क़ब्र के पास मृत व्यक्ति का समस्त सामान लाकर गाड़ देते हैं। पुरुष तथा स्त्री दोनों लम्बे बाल रखते हैं तथा दोनों धूम्रपान करते हैं। स्त्रियाँ वस्त्र-बुनने में बहुत निपुण हैं।

अबोर लोग मीरी जाति के पूर्व में दिहांग नदी तक फैले हुए हैं। इनका सम्बन्ध मंगोल जाति से प्रतीत होता है। शरीर से बहुत मज़बूत होते हैं; रंग ताम्र सदृश; इनमें बहुविवाह की प्रथा नहीं है। वर-कन्या के द्वारा ही विवाह तय हो जाता है। स्त्रियों का आदर विशेष होता है। इनका शरीर गोदना से गुदा हुआ रहता है। एक विशेष वृक्ष की छाल पहनने के काम में लाते हैं।

मीरी लोगों का स्वभाव बहुत शान्त होता है। मल्लाह के कार्य में विशेष निपुण हैं: नदी के किनारे रहते हैं तथा नाव खेया करते हैं। आसामी भाषा तथा अपनी भाषा दोनों जानते हैं। इसलिये इनका नाम मीरी पड़ गया है; जिस का अर्थ है 'द्विभाषिया'। ये आसामी गोसाइयों के चेले हैं। मांस-भक्षण तथा शराब पीना इन्हें प्रिय है। नृत्य-कला में स्त्रियाँ विशेष प्रवीण होती हैं, नृत्य के प्रदर्शन द्वारा पैसा कमाया करती हैं। वैसे मीरी स्त्रियाँ आज्ञाकारिणी होती हैं।

दफला लोग आका जाति के उत्तर में रहते हैं। पहले ये ब्रिटिश सीमा पर आक्रमण किया करते थे, परन्तु सन् १८३० में अंग्रेज सरकार ने इन्हें पेन्शन देना निश्चित किया। तब से ये हमले कम हो गये। सन् १८७४-७५ में अंग्रेजों ने इन पर चढ़ाई कर परास्त कर दिया, तब से ये शान्तिपूर्वक रहते हैं।

आका जाति का निवास डैरंग जिले के सुदूर उत्तर में है। यह जाति दो भागों में विभक्त है। अंग्रेज सरकार से इन्हें भत्ता मिलता

था। इनका एक सरदार बड़ा उत्पाती था जिसे अंग्रेजों ने वश में करने के लिए जेल में भी ठूँसा, परन्तु वह भाग निकला। सन् १८४२ में उसने आत्म-समर्पण किया और तब से उसे भत्ता मिलने लगा। आज इनकी स्थिति का अनुशीलन करना आवश्यक है। आका संस्कृति का अध्ययन हमें बहुत सी नई सामग्री दे सकता है। उनके गीत और नृत्य लोक-कला की अमिट प्रेरणा के स्रोत हैं और कोई चाहे तो उस पर पूरा ग्रन्थ ही लिख सकता है।

के कल्याण का प्रासाद खड़ा नहीं करती। वह व्यक्ति तथा समाज दोनों के कल्याण पर आग्रह दिखलाती है। अतः सामाजिक तथा वैयक्तिक उभय प्रकार की उन्नति के निमित्त आर्यों ने यज्ञ की संस्था का निर्माण किया है। गीता के अनुसार जो प्राणी यज्ञचक्र का अनुवर्तन नहीं करता, वह कथमपि इस जीवन में सौख्य तथा साफल्य नहीं प्राप्त कर सकता। उपकार की, विशेष मानव कल्याण की वेदी पर क्षुद्र वैयक्तिक सौख्य के हवन की, एक दूसरे के परस्पर कल्याण की भावना पोषण का करने वाली यज्ञ-संस्था का निर्माण कर आर्यों ने न केवल भारतवर्ष में, प्रत्युत समग्र संसार के सामने एक महनीय आदर्श उपस्थित किया है। इसके तिरस्कार का फल है विलय तथा इसके सत्कार का परिणाम है उदय।

साम्यवाद

आर्यों ने भारतवर्ष में दार्शनिक आधार पर सच्चे साम्यवाद की प्रतिष्ठा की है। साम्यवाद के पश्चिमी आदर्श को अच्छी निगाह से देखने वाले उसके विकृत रूप से, वैषम्य से, घोर अनर्थ से भली भाँति परिचित नहीं हैं। सच्चे साम्यवाद का उपदेशक तथा प्रचारक यदि कोई देश है, तो वह भारतवर्ष ही है। प्रत्येक प्राणी में उसी परम पिता की प्रतिभा झलकती है। वही अन्तर्यामी बनकर भीतर से उसे नियमन किया करता है। अतः दूसरे को किया गया उपकार परोपकार न होकर प्रकारान्तर से स्वोपकार ही है। साम्यवाद की यही सच्ची नींव है मानवमात्र में एकत्व की—अद्वैत की—भावना। भागवत ने बड़े ही कड़े, परन्तु सच्चे शब्दों में इस साम्यवाद के व्यावहारिक रूप को दिखलाया है—

> यावत् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
> अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

हमारा अपनी कमाई में भी उतने ही पर अधिकार है, स्वत्व है, अपनापन है जितने से हमारा पेट भरता है। उससे अधिक पर जो अपना अधिकार

जमाता है या मानता है वह चोर है और इस लिए वह दण्ड का भागी है। यह है समुन्नत साम्यवाद की भावना जिसे भारतवर्ष ने विश्व के सामने रखा, परन्तु नाना प्रकार के वैषम्य तथा वैमत्य के कारण विश्व ने कभी सच्चे हृदय से इसे स्वीकार नहीं किया और इसका घोर परिणाम है विश्वव्यापक युद्ध तथा तज्जन्य भीषण जनसंहार तथा भयानक धन-संहार। आर्य विद्वानों ने सर्वदा ही साम्य, समता, समानता की ओर ही दृष्टिपात किया और वैषम्य, भेद, भिन्नता की सदा ही निन्दा की है।

वर्ण-व्यवस्था

इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने के लिए आर्यों ने कतिपय संस्थाओं की व्यवस्था की है और इनमें सबसे श्रेष्ठ संस्था का नाम है वर्णाश्रम-संस्था। वर्ण का सम्बन्ध है सामाजिक व्यवस्था से और आश्रम का सम्बन्ध है वैयक्तिक व्यवस्था से। पहिला यदि समाज का संतुलन चाहता है, तो दूसरा चाहता है व्यक्ति का क्रमिक विकास। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये ही चार वर्ण हैं जिनके भीतर किसी भी समाज का विभाजन किया जा सकता है और समाज के संवर्धन तथा उपबृंहण के निमित्त इन चारों की उन्नति समभावेन आवश्यक होती है। मनु की वर्णव्यवस्था का प्रभाव पश्चिमी तत्त्व ज्ञानी प्लेटो पर भी पड़ा है। उन्होंने अपने 'रपब्लिक' नामक मान्य ग्रन्थ में समाज का विभाजन इन वर्णों वा श्रेणियों में किया है। तब हमें पारसियों की वर्णव्यवस्था को भारतीय आदर्श पर व्यवस्थित देखकर आश्चर्य करने का कोई स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि दोनों ही आर्य-धर्म की विभिन्न शाखा के अनुयायी हैं। पारसी समाज चार भागों में विभक्त है—(१) ऐर्यमना—अर्यमन् या ब्राह्मण। (२) वरेजिन (वीर्यमान) = क्षत्रिय; (३) खेतुश (क्षेत्री)=खेत का मालिक = वैश्य; (४) गोवास्त्र (गोवेशी) = गायों के बीच में रहने वाला व्यक्ति अर्थात् सेवक वर्ग = शूद्र। आश्रमों की व्यवस्था ने मानव जीवन

को सुदृढ़, विकसित तथा सभ्य बनाया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—ये चारों आश्रम मानवों को प्रवृत्ति मार्ग की शिक्षा देकर निवृत्ति मार्ग में प्रतिष्ठित करते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम मानवों को शिक्षित बनाकर प्रवृत्ति के योग्य बनाता है। गृहस्थाश्रम उन्हें प्रवृत्ति में पूर्णता प्रदान करता है। इसी प्रकार वानप्रस्थ में निवृत्ति का आरम्भ है तथा संन्यास में उस निवृत्ति की पूर्णता है। वर्ण तथा आश्रम के परस्पर सहयोग ने भारतीय संस्कृति को विश्वजनीन बनाया तथा समाज के पारस्परिक संघर्ष का संहार कर मैत्री तथा परस्पर सहयोग की भावना को सुदृढ़ बनाया। विदेशी विधर्मी आक्रमणकारियों के भयंकर आक्रमणों के उपरान्त भी हमारे समाज के संगठन तथा अविच्छिन्नता का रहस्य हमारी वैज्ञानिक समाज-व्यवस्था के भीतर छिपा हुआ है।

पूर्व संगठन का दार्शनिक आधार है कर्म का सिद्धान्त जो नितान्त वैज्ञानिक तथ्य के ऊपर आश्रित है। विज्ञान बतलाता है कि कोई भी भौतिक जगत् में सम्पद्यमान कर्म अपनी प्रतिक्रिया के बिना नहीं रहता। कर्म की प्रतिक्रिया अवश्यंभाविनी होती है। Action का Reaction होकर ही रहता है। अतः प्रत्येक कर्म का फल अवश्यमेव होता है चाहे वह अभी वर्तमानकाल में ही हो जाय या कालान्तर में हो। मानवों का यह जीवन किसी आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं है, प्रत्युत सुचिन्तित तथा पूर्व-सम्पादित कर्मों का ही परिणत फल है। शोभन कर्मों का फल शोभन होता है तथा बुरे कर्मों का फल बुरा होता है। इसी से हम अपने भाग्य के विधाता स्वयं हैं। महर्षि व्यासदेव ने इस कर्मव्यवस्था की समता गाय के बछड़े के साथ दी है। जिस प्रकार हजारों गौवों के बीच बछड़ा अपनी माँ को खोज निकालता है उसी प्रकार पूर्व जन्म का किया गया कर्म अपने कर्ता का अनुगमन करता है। कर्म की महिमा सर्वातिशायिनी है—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥
(शान्तिपर्व)

जन्मान्तरवाद

कर्मवाद का यह तथ्य जन्मान्तर सिद्धान्त के ऊपर आश्रित है। हिन्दू शास्त्रों का दृढ़ विश्वास है—और इसके पोषक सैकड़ों उदाहरण भी वर्तमान हैं—कि वर्तमान जीवन ही हमारा प्रथम अथवा अन्तिम जीवन नहीं है। यह वर्तमान जीवन जीवन-मरण की अनादि तथा अनन्त शृंखला में एक साधारण कड़ी है। मनुष्य कर्मों के अनुसार नाना योनियों में जन्म लेता है और एक जन्म के अन्त हो जाने पर फिर कर्मानुसार नवीन जन्म तथा नवीन योनि प्राप्त करता है। यह शृंखला अनादिकाल से चली आ रही है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इस जन्मान्तर-वाद का गीता में तथा व्यास जी ने श्रीमद्भागवत में इस तथ्य का स्पष्टतः निर्देश किया है—

देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥
—भागवत १०।१।३६

स्वतन्त्रता

आर्य संस्कृति स्वतन्त्रता की भावना से ओत-प्रोत है। वह बतलाती है कि यह जीव ही शिव है। मनुष्य के भीतर ईश्वर का अविनाशी चैतन्य झलकता है। अविद्या के कारण मनुष्य अपने को सर्वत्र बन्धन में पाता है। ज्ञान के द्वारा इस बन्धन की शृंखला को छिन्न भिन्न कर देने पर वह अपने पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है। अतः आत्मा की उपलब्धि अथवा 'स्व' की अनुभूति मानव जीवन का चरम लक्ष्य है और यह वर्तमान जीवन उसी अनुभूति की साधना का एक आवश्यक साधन है। इस अनुभूति की साधना के त्रिविध मार्ग

हैं—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति। हिन्दू संस्कृति में प्रत्येक विचार वाले या प्रवृत्ति वाले साधक के विकास का स्थान है। वह अन्य धर्मों के समान एक ही डंडे से सब भेड़ों के पीटने का तथा एक ही मार्ग पर चलने का प्रयास कभी नहीं करती। आर्यों ने मानवों की प्रवृत्ति के अनुसार भी मार्गों की व्यवस्था की है। मननशील साधक ज्ञानयोग के द्वारा, रजोगुण की प्रधानता वाला व्यक्ति कर्मयोग से तथा भावुक साधक भक्तियोग की सहायता से स्वानुभूति कर जीवन का परम लाभ इसी जन्म में, इसी भूतल पर ही प्राप्त कर सकता है। ऐसा पुरुष कहलाता है जीवन्मुक्त अथवा गीता के शब्दों में वह होता है 'स्थित-प्रज्ञ'। यह तो हुआ आध्यात्मिक पक्ष।

व्यवहार पक्ष में भी आर्यों ने स्वतन्त्रता तथा स्वदेश का मूल्य भली भाँति आँका था। पूजा के अवसर पर पहनने योग्य वस्त्रों के वर्णन-प्रसंग में आर्यशास्त्र की उक्ति है कि वह न तो सिला हुआ हो, न किसी दोष से दुष्ट हो और वह विदेश का बना न होकर स्वदेश का बना होना चाहिए—

न स्यूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः।
मूषिकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद् विचक्षणः॥

आर्यों के अनुसार यह हमारा स्वदेश स्वर्ग से भी बढ़कर है। स्वर्ग है भोगभूमि परन्तु भारत है कर्मभूमि। स्वर्ग में उत्पन्न जीव केवल प्राक्तन कर्मों का शोभन फल भोगता है अवश्य, परन्तु उसे अपनी उन्नति करने का अधिकार नहीं होता। आत्म—विकाश की पूर्णता की साधिका यह भारतभूमि ही है। इसीलिए स्वर्ग के निवासी देवता लोग भी भारतवर्ष की भूयसी प्रशंसा किया करते हैं और यहाँ जन्म लेने के लिए तरसते रहते हैं—

कल्पायुषां स्थान - जयात् पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।

क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ।

अन्यत्र कल्प की आयु पाने की अपेक्षा भारतभूमि में क्षण भर भी जीना श्रेयस्कर है। भारत का मनस्वी क्षणभर की आयु में ही शोभन सुकृत का सम्पादन कर भगवान् के आश्रय में भयरहित स्थान पा सकता है जो भोगभूमि का जीव कभी पा ही नहीं सकता। इस विकास के लिए उसे इस भूमि पर आना ही पड़ता है। यह है आर्यों के देश-प्रेम की स्वाधीन भावना।

गोमहिमा

गाय भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। वह निर्बल दीन हीन जीवों का प्रतिनिधित्व करती है। वह सरलता, शुद्धता तथा सात्विकता की मूर्ति है। हम उस भारतीय संस्कृति की कल्पना भी नहीं कर सकते जिसमें गौओं का प्राधान्य नहीं, सत्कार नहीं, आदर नहीं। उनकी रक्षा करना एक पशु की रक्षा नहीं है, बल्कि वह अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा है। भारतीय संस्कृति के मूलस्थानीय गो—गौरव की कथा हमें संस्कृत भाषा के अनेक शब्द आज भी कहते हैं।

संस्कृत-भाषा की अनेक भावनाओं का सम्बन्ध साक्षात् रूप से गाय के साथ निबद्ध है। वह वेला जिसमें शुभ विवाहादि कार्य सम्पन्न होते हैं 'गोधूलि' कहलाती है। इस समय गायें चरागाह से लौटती हैं और उनके खुरों से बहुत धूलि उठकर उड़ा करती है। इसी दृश्य के आधार पर वह सन्ध्यावेला गोधूलि कहलाती है। साहित्यिक जिस समाज में बैठ कर आनन्द उठाते हैं तथा साहित्य चर्चा करते हैं वह भी गाय के ही नाम पर 'गोष्ठी' कहलाता है। गाय ठहरी उपादेय तथा अभिनन्दनीय वस्तु और उसकी खोज ही सच्ची

खोज थी। जो 'गवेषणा' शब्द आज अर्थ-विस्तार के द्वारा सामान्य शोध या खोज के अर्थ में व्यवहृत होता है वह मूलतः गायों की ही खोज या चाह का द्योतक था। प्राचीन काल के झरोखे गायों की आँख के समान गोल होते थे। इसी से झरोखों का सामान्य नाम है—गवाक्ष जिसका अपभ्रंश हुआ गोखा, मोखा या भोजपुरी में मूका। गायों के नाम पर अंगूर की एक विशिष्ट जाति का नामकरण हुआ है—गोस्तनी द्राक्षा (गाय के स्तनों के समान लम्बे लम्बे अंगूर)। अंगूर प्रायः दो प्रकार के होते हैं—एक छोटे छोटे गोल दाना वाले जिसे केवल द्राक्षा कहते हैं और दूसरे होते हैं लम्बे लम्बे दाने वाले। ये ही गोस्तनी द्राक्षा के नाम से अभिहित किये जाते हैं। द्राक्षा तक जब गाय का प्रसार है तब दुग्ध मात्र के 'गोरस' तथा दूध को औटाने वाली अंगीठी को 'गुरसी' (या भोजपुरी घोरसी) कहलाने में हमें आश्चर्य नहीं होता। गाय का सम्बन्ध पूजा के साथ भी है। जिसके भीतर माला फेरी जाती है तथा जिससे जल गिरता है उसे हम 'गोमुखी' कहते हैं। क्योंकि वह वस्तु भी गाय के मुख के समान लम्बी पश्वाकृति वाली होती है। नाटकों ने भी अपने लिए गो—समाज से शब्द ग्रहण किया है। 'गोपुच्छ' नाटक शास्त्र का शब्द है जिसमें नाटक के विशिष्ट संगठन की ओर कवि का लक्ष्य रहता है। गाय की पूँछ आरम्भ में फैल कर बड़ी होकर धीरे धीरे कम होती जाती है। इसी सादृश्य के कारण नाटक की यह विशिष्ट योजना 'गोपुच्छ' का नाम धारण करती है।

भगवान् का नित्य लीलाधाम गायों की क्रीड़ाभूमि होने के कारण 'गोलोक' कहलाता है। ये गायें वस्तुतः मूलभूत पशुजातीय हो सकती हैं अथवा सूर्य की रश्मिरूपा हो सकती हैं; इसमें मत-

है। ऋग्वेद में इस गोलोक की सूचना मिलती है विष्णु सूक्तों में। एक ऋषि भगवान् विष्णु के इस उच्चतम लोक में जाने की प्रार्थना करता है कि मैं उस लोक में जाना चाहता हूँ जहाँ शीघ्रगामी बहुत सींगवाली गायें निवास करती हैं—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां
यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः।

विष्णु के इस तृतीय क्रम वाला स्थान उच्च होने से सूर्य का लोक माना जाता है जहाँ उनकी किरणें नाना स्थलों पर टकराती हुई विचरण करती हैं। अर्थ का स्वारस्य जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि गो माता ने ही वैष्णव समाज को ऊर्ध्वतम लोक के नाम—निर्देश का साधन प्रदान किया है। ऐसा होवे भी क्यों नहीं ? जब वह परात्पर ब्रह्म ही गायों के पालक होने से 'गोपा' नाम से अभिहित किया गया है। इन्हीं वेदों में ऋग्वेद कहता है—विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।

विष्णु ऐसे गोप हैं जिनकी हानि कोई भी नहीं कर सकता (अदाभ्यः) अर्थात् प्रतिपक्षी अपने सकल कल, बल, छल से जिनकी किसी प्रकार की हिंसा या हानि नहीं कर सकता वही सर्वसमर्थ भगवान् 'गोपा' शब्द से व्यवहृत किये गये हैं। श्रीमद्भागवत के बालकृष्ण को गोपाल होने की सूचना पूर्ण रूपेण वैदिक है, पौराणिक ही नहीं। इस प्रकार गायें भारतीय संस्कृति की प्राण हैं। इसकी सूचना संस्कृत भाषा की शब्दावली भी भली भाँति देती हैं।

उपसंहार

इस प्रकार भारतवर्ष के इतिहास में आध्यात्मिकता की धारा बहाने का श्रेय आर्यों को ही है। इन्होंने वर्णाश्रम की भित्ति पर मानव समाज का नियमन तथा नियन्त्रण कर हमारे जीवन को पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न घोर विप्लव से बचाया है। इन्होंने स्वार्थ तथा परमार्थ का मञ्जुल

सामञ्जस्य प्रस्तुत कर विश्व के सामने एक आदर्श उपस्थित किया है। आजकल पश्चिमी जगत् में one world की कल्पना विश्व के ऐक्य की भावना घर करती जा रही है; परन्तु भारत ने इस मन्त्र का शंख-नाद सहस्त्रों वर्ष पूर्व किया था—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार-चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

Universal Brotherhood विश्वभ्रातृत्व की भावना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का वर्तमान रूप है। अतः भारतीय संस्कृति को विश्व—जनीन, मृत्युञ्जय तथा विश्वव्यापक बनाने का श्रेय इन्हीं आर्यों को दिया जायगा जिन्होंने वेद तथा उपनिषद्, गीता तथा वेदान्त, रामायण तथा महाभारत का दिव्य आलोक जला कर इस भूतल के अज्ञान के गाढ़ तिमिर-पटल को दूर किया है। आर्य लोग सदा से परस्पर मैत्री परस्पर एकता तथा परस्पर सौहार्द के लिये तत्पर रहते थे। उनकी दृष्टि में मानव मानव में अन्तर नहीं था। उनकी उदार दृष्टि विश्व को एक मानती थी। ऋग्वेद की अन्तिम ऋचा इस भाव को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करती है:—

समानी व आकूतिः
समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति॥

———